सोच-विचार

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज दिल्ली।

सोच-विचार

पूर्वोदय प्रकाशन
७, दरियागंज दिल्ली।

अनुक्रम

भूमिका

बहुत पहले की बात कहते हैं। इतिहास वहाँ नहीं जाता। न यथार्थ जाता है। कल्पना ही वहाँ पहुँचती है।

आदमी जंगल से लौटकर आया। खाल ओढ़े था, पत्थर की बरछी हाथ में थी और कन्धे पर मरा हुआ एक हिरन था।

हिरन को बाहर पटका और अपने भिट के अन्दर वह आदमी गया। देखता क्या है कि स्त्री गुमसुम पड़ी है, पथराई उसकी आँखें बिन देखे ऊपर जाने क्या देख रही हैं!

आदमी दौड़कर स्त्री के बराबर जाकर बैठ गया और उसके चेहरे की ओर ताकता हुआ देखने लगा। भाषा उसके पास नहीं थी, स्वर ही उसके पास थे। सो स्त्री के मुँह-पर-मुँह झुका कर उसने पुकारा—हु उ! हु उ!

लेकिन स्त्री की आँखें जहाँ थीं वहीं टिकी रहीं। वह हिली-डुली भी नहीं।

आदमी ने और ज़ोर से कहा—हाऊ! हाऊ!!

लेकिन स्त्री का बदन अकड़ता ही गया और कोई आवाज़ उसके मुँह से न निकली।

इस पर आदमी ने स्त्री के हाथ पकड़ कर ज़ोर से झकझोरा। कहा—हाओ!! हाओ!!!

पर स्त्री वहाँ थी नहीं। वह मर चुकी थी।

मरना क्या होता है? क्या वह कुछ होता है? आदमी ने पकड़ कर स्त्री के कन्धे हिलाए, टाँग ऊपर-नीचे खींची, सिर झकझोरा, मुँह से उसके ओठ काटे, खुली छाती पर मुक्के लगाए, और तरह-तरह की चिंघाड़ें कीं।

पर स्त्री की काया पत्थर होती हुई ज्यों की त्यों पड़ी रह गई।

उस समय स्त्री के साथ का बीता हुआ अतीत काल उस आदमी के ऊपर मानो सवार हो आया। उसके प्यार में एक पूर आ गया और वह सामने पड़ी उस काया को अपने हाथों के पंजे से नोचने-खसोटने लगा। साथ तरह-तरह की आवाज़ें भी करता जाता था।

अपनी भाषा में कहें तो वह कह रहा था कि अरी, बोल तो। नहीं बोलती? ले, अब तो बोल! कहाँ अन्दर से रोज़ तेरी आवाज़ आया करती थी? फाड़ कर देखूँ कि वहाँ तुझे क्या हुआ है? बोल, भली मानस, कमबख़्त! देख कैसा मोटा हिरन तेरे लिए शिकार में मैं लाया हूँ। वह बाहर पड़ा है और तू बोलती नहीं!

यानी उस आदमी के स्वर की चिंघाड़ में हमारी भाषा जितना जो चाहे अर्थ पा ले। पर वहाँ भाषा की बात नहीं थी। अपने हाथों के पैने नहों से उसने स्त्री को चीर कर लहू-लुहान कर डाला। चेहरे को दाँतों से काट-काट कर क्षत-विक्षत कर दिया। असल में उसके ऊपर पिछले दिनों का सारा प्यार इकट्ठा होकर सवार हो गया था, सो वह इससे कम क्या करता?

पर चीरी-फाड़ी जा करके भी स्त्री को चेत नहीं हुआ कि उसका आदमी मोटा-ताज़ा हिरन मार कर उसके लिए लाया है। आदमी के ताज़े और गर्म प्यार का भी उस पर प्रभाव नहीं हुआ। वह नहीं मुस्कराई और उठकर हिरन पकाने के लिए नहीं गई।

आदमी की यह सब समझ में नहीं आया। प्रेम का भार उससे सहा नहीं जा रहा था सो स्त्री को उठाकर उसने छाती से लगाया और

ऐसे ज़ोर से कसा कि उस प्रकृदर्ती काया की हड्डियाँ चर-मर कर उठीं। फिर उसे कन्धे पर लेकर वह अपनी जगह से बाहर निकला और चिंघाड़ता हुआ इधर-उधर दौड़ने लगा।

उसकी चिंघाड़ सब प्राणी सुनते; वृक्ष सुनते और पहाड़ सुनते और धरती सुनती। वह चिंघाड़ गूँजती और खो जाती।

इस भाँति वह आदमी जाने कब तक स्त्री को कन्धों पर रक्खे चिल्लाता हुआ घूमता रहा। शिकार का हिरन अपनी जगह पड़ा रह गया और आदमी भूखा-प्यासा दारुण विलाप करता हुआ यहाँ-वहाँ डोलता रहा, डोलता रहा, डोलता रहा!

पर आसमान नीले से काला न हुआ। धरती हरियाली घास से हरी बनी रही। पानी कल-कल खिल-खिल हँसता ही रहा। वायु भी उसी भाँति बहती रही। कहीं कुछ न हुआ, कहीं कुछ न हुआ।

लेकिन असह्य प्रेम को लेकर वह मानव उत्कट चीत्कार में अपने हृदय को ख़ाली करता हुआ जंगल और घाटी, पहाड़ और मैदान और जल और थल जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहा।

आख़िर कन्धों पर सहारी वह मृतक काया गल आई। उसमें गन्ध आने लगी। आदमी के कण्ठ का स्वर क्षीण से क्षीणतर होता गया। अब आवाज़ निकल न पाती थी। पैर थक गए। देह में दम न रहा। अन्त में मृतक काया को अपने ऊपर से फेंक कर काला, मैला, शान्त, वह आदमी घुटनों के बल गिर रहा।

आसमान देखा, नीला था। धरती देखी, हरी थी। पानी देखा, हँस रहा था। वायु देखी, बह रही थी। चट्टान देखी, जमी पड़ी थी। कहीं कुछ न था, कहीं कुछ न था।

तब आदमी की ठोड़ी हथेली पर टिक रही। उँगली माथे पर पहुँची। बाहर देखना उसका बन्द हो गया। सिर उसका झुक रहा। एक भरी साँस उसमें से निकली और अन्दर कुछ उसके होने लगा—

क्या हम उसको कहें : सोच-विचार?

आप क्या करते हैं ?

जब पहले-पहल दो व्यक्ति मिलते हैं तो परस्पर पूछते हैं, "आपका शुभ नाम ?" नाम के बाद अगर आगे बढ़ने की वृत्ति हुई तो पूछते हैं, "आप क्या करते हैं ?"

'क्या करते हैं ?' इसके जवाब में एक-दूसरे को मालूम होता है कि उनमें से एक वकील है, दूसरा डाक्टर है। इसी तरह वे आपस में दूकानदार, मुलाजिम, इंजीनियर आदि-आदि हुआ करते हैं।

पर इस तरह के प्रश्न के जवाब में हक्का-बक्का रह जाता हूँ। मैं डाक्टर भी नहीं हूँ, वकील भी नहीं हूँ, कुछ भी ऐसा नहीं हूँ जिसको कोई संज्ञा ठीक-ठीक ढक सके। बस वही हूँ जो मेरा नाम है। मेरा नाम दयाराम है तो दयाराम मैं हूँ। नाम रहीमबख्श होता तो मैं रहीमबख्श होता। 'दयाराम' शब्द के कुछ भी अर्थ होते हों, और 'रहीमबख्श' के भी जो चाहे माने हों, मेरा उनके मतलब से कोई मतलब नहीं है। मैं जो भी हूँ वही बना रहकर दयाराम या रहीमबख्श रहूँगा। मेरा सम्पूर्ण और सच्चा परिचय इन नामों से आगे होकर नहीं रहता, न भिन्न होकर रहता है। इन नामों के शब्दों के अर्थ तक भी वह परिचय नहीं जाता। क्योंकि, नाम नाम है, यानी, वह ऐसी वस्तु है जिसका अपना आपा कुछ भी नहीं है। इसलिए, उस नाम के भीतर

सम्पूर्णता से मैं ही हो गया हूँ।

ख़ैर, वह बात छोड़िए। मुझसे पूछा गया, 'आपका शुभ नाम ?' मैंने बता दिया—'दयाराम।' दया का या और किसी का राम मैं किसी प्रकार भी नहीं हूँ। पर किसी अतर्क्य पद्धति से मेरे दयाराम हो रहने से उन पूछने वाले मेरे नये मित्र को मेरे साथ व्यवहार-वर्तन करने में सुभीता हो जायगा। जहाँ मैं दीखा, बड़ी आसानी से पुकारकर वह पूछ लेंगे, 'कहो दयाराम, क्या हाल है ?' और मैं भी बड़ी आसानी से *दयाराम के नाम पर हँस-बोलकर उन्हें अपना या इधर-उधर का जो* हाल-चाल होगा बता दूँगा।

यहाँ तक तो सब ठीक है। लेकिन, जब वह नये मित्र आगे बढ़कर पूछते हैं, 'भाई, करते क्या हो ?' तब मुझे मालूम होता है कि यह तो मैं भी जानना चाहता हूँ कि क्या करूँ ? 'क्या करूँ' का प्रश्न तो मुझे अपने पग-पग पर आगे बैठा दीखता है। जी होता है, पूछूँ, 'क्या आप बताइएगा, क्या करूँ ?' मैं क्या-क्या बताऊँ कि आज यह-*यह किया। सवेरे पाँच बजे उठा; छः बजे घूमकर आया;* फिर बच्चे को पढ़ाया; फिर अखबार पढ़ा; फिर बगीचे की क्यारियाँ सींचीं; फिर नहाया, नाश्ता किया—फिर यह किया, फिर वह किया। इस तरह जब तीन बजे तक कुछ-न-कुछ तो मुझसे होता ही रहा है, यानी मैं करता ही रहा हूँ। अब तीसरे पहर के तीन बजे यह जो मिले हैं नए मित्र, तो इनके सवाल पर क्या मैं इन्हें सवेरे पाँच से अब तीन बजे तक की अपनी सब कार्रवाइयों का बखान सुना जाऊँ ? लेकिन, शायद, यह वह नहीं चाहते। ऐसा मैं करूँ तो शायद हमारी उगती हुई मित्रता सदा के लिए वहीं अस्त हो जाए। यदि उनका अभिप्राय यह जानना है जो उनके प्रश्न पूछने के समय मैं कर रहा हूँ, तो साफ है कि मैं उनका प्रश्न सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ। अब क्या यह कह पड़ूँ कि, 'मित्रवर, मैं आपकी बात सुन रहा हूँ और ताज्जुब कर रहा हूँ।' नहीं, ऐसा कहना न होगा। मित्र इससे

कुछ समझेंगे तो नहीं, उल्टा बुरा मानेंगे। दयाराम मूर्ख तो हो सकता है, पर बुरा होना नहीं चाहता। इसलिए, उस प्रश्न के जवाब में मैं, मूर्ख का मूर्ख, कोरी निगाह से बस उन्हें देखता रह जाता हूँ। बल्कि, थोड़ा-बहुत और भी अतिरिक्त मूढ़ बनकर लाज में सकुच जाता हूँ। पूछना चाहता हूँ कि 'कृपया आप बता सकते हैं कि मैं क्या करूँ?—यानी क्या कहूँ कि यह करता हूँ?'

किन्तु, यह सौभाग्य की बात है कि मित्र अधिकतर कृपा-पूर्वक यह जानकर सन्तुष्ट होते हैं कि दयाराम मेरा ही नाम है। यह नाम अखबारों में कभी-कभी छपा भी करता है। इससे दयाराम होने के नाते कभी-कभी मैं बच जाता हूँ। यह नाम की महिमा है। नहीं तो दिन में जाने कितनी बार मुझे अपनी मूढ़ता का सामना करना पड़े।

आज अपने भाग्य के व्यंग्य पर मैं बहुत विस्मित हूँ। किस बड़-भागी पिता ने इस दुर्भागी बेटे का नाम रक्खा था 'दयाराम'। उन्हें पा सकूँ तो कहूँ, पिता, तुम खूब हो! बेटा तो डूबने ही योग्य था, किन्तु तुम्हारे दिये नाम से ही वह भोला, चतुर मित्रों से भरे इस दुनिया के सागर में उतरता हुआ जी रहा है। उसी नाम से वह तर जाय तो तर भी जाय नहीं तो डूबना ही उसके भाग्य में था। पिता, तुम जहाँ हो, मेरा प्रणाम लो। पिता, मेरा विनीत प्रणाम ले लो। उस प्रणाम की कृतज्ञता के भरोसे ही, उसी के लिए, मैं जी रहा हूँ, जीना भी चाहता हूँ पिता, नहीं तो, मैं एकदम मतिमन्द हूँ और जाने क्यों जीने लायक हूँ।'

पर आपसे बात करते समय पिता की बात छोड़ूँ। अपने इस जीवन में मैंने उन्हें सदा खोया पाया। रो-रोकर उन्हें याद करने से आपका क्या लाभ? और आपको क्या, मुझे क्या—दोनों को आपके लाभ की बात करनी चाहिए।

तो मैंने कहा, 'कृपापूर्वक बताइए, क्या करूँ? बहुत भटका पर मैंने जाना कुछ नहीं। आप मिले हैं, अब आप बता दीजिए।'

उन नए मित्र ने बताया कुछ नहीं, वे बिना बोले आगे बढ़ गये।

मैं भी चला। आगे उन्हें एक अन्य व्यक्ति मिले। पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

उत्तर मिला, 'मैं डाक्टर हूँ।'

सज्जन मित्र ने कहा, 'ओह आप डाक्टर हैं। बड़ी खुशी हुई। नमस्ते डाक्टर जी, नमस्ते। खूब दर्शन हुए। कभी मकान पर दर्शन दीजिए न।—जी हाँ, यह लीजिए मेरा कार्ड।'''रोड पर'''कोठी है।'''जी हाँ, आपकी ही है। पधारिएगा। कृपा-कृपा। अच्छा नमस्ते।'

मुझे इन उद्गारों पर बहुत प्रसन्नता हुई। किन्तु मुझे प्रतीत हुआ कि मेरे दयाराम होने से उन व्यक्ति का डाक्टर होना किसी कदर अधिक ठीक बात है। लेकिन, दयाराम होना भी कोई गलत बात तो नहीं है।

किन्तु, मित्रवर कुछ आगे बढ़ गये थे। मैं भी चला। एक तीसरे व्यक्ति मिले। कोठी वाले मित्र ने नाम परिचय के बाद पूछा, 'आप क्या करते हैं ?'

'वकील हूँ।'

'ओह वकील हैं। बड़ी प्रसन्नता के समाचार हैं। नमस्ते, वकील साहब, नमस्ते। मिलकर भाग्य धन्य हुए। मेरे बहनोई का भतीजा इस साल लॉ फाइनल में है। मेरे लायक खिदमत हो तो बतलाइए। जी हाँ आप ही की कोठी है। कभी पधारिएगा। अच्छा जी नमस्ते, नमस्ते, नमस्ते।'

इस हर्षोद्गार पर मैं प्रसन्न हो ही सकता था। किन्तु, मुझे लगा कि बीच में वकालत के आ उपस्थित होने के कारण दोनों की मित्रता की राह सुगम हो गई है।

यह तो ठीक है। डाक्टर या वकील या और कोई पेशेवर होकर व्यक्ति की मित्रता की पात्रता बढ़ जाय इसमें मुझे क्या आपत्ति ? इस सम्बन्ध में मेरी अपनी अपात्रता मेरे निकट इतनी सुस्पष्ट प्रकट है, और

वह इतनी निविड़ है कि उस बारे में मेरे मन में कोई चिन्ता ही नहीं रह गई है। लेकिन, मुझे रह-रहकर एक बात पर अचरज होता है। प्रश्न जो पूछा गया था वह तो यह था कि, 'आप क्या करते हैं ?' उत्तर में डाक्टर और वकील ने कहा कि वे डाक्टर और वकील हैं। मुझे अब अचरज यह कि उन प्रश्नकर्ता मित्र ने मुड़कर फिर क्यों नहीं पूछा कि, 'यह तो ठीक है कि आप डाक्टर और वकील हैं। आप डाक्टर रहिए, आप वकील रहिए। लेकिन, कृपया, आप करते क्या हैं ?'

समझ में नहीं आता कि प्रश्नकर्ता मित्र ने अपने प्रश्न को फिर क्यों नहीं दोहराया, लेकिन मतिमूढ़ मैं क्या जानूँ ? प्रश्नकर्ता तो मुझ-जैसे कम-समझ नहीं रहे होंगे। इसलिए, डाक्टर वकील वाला जवाब पाकर वह असली भेद की बात समझ गए होंगे। लेकिन, वह असली बात क्या है ?

ख़ैर, इन उदाहरणों से काम की सीख लेकर मैं आगे बढ़ा। राह में एक सदभिप्राय सज्जन मिले जिन्होंने पूछा—

'आपका शुभ नाम ?'

'दयाराम।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं कायस्थ हूँ, श्रीवास्तव।'

'जी नहीं, आप करते क्या हैं ?'

'मैं श्रीवास्तव कायस्थ हूँ। पाँच बजे उठा था, छः बजे घूमकर लौटा, फिर''' और फिर'''

लेकिन, देखता क्या हूँ कि वह सज्जन तो मुझे बोलता ही हुआ छोड़कर आगे बढ़ गए हैं, पीछे घूमकर देखना भी नहीं चाहते। मैंने अपना कपाल ठोक लिया। यह तो मैं जानता हूँ कि मैं मूढ़ हूँ। बिलकुल निकम्मा आदमी हूँ। लेकिन मेरे श्रीवास्तव होने में क्या गलती है ? कोई वकील है, कोई डाक्टर है। मैं वकील नहीं हूँ, डाक्टर

भी नहीं हूँ; लेकिन मैं श्रीवास्तव तो हूँ। इस बात की तसदीक दे और दिखा सकता हूँ। अखबार वाले 'दयाराम श्रीवास्तव' छाप कर मेरा श्रीवास्तव होना मानते हैं। मतलब यह नहीं कि मेरी श्री वास्तव है, न यही कि कोई वास्तव श्री मुझमें है; लेकिन जो मेरे पिता थे वही मेरे पिता थे। और वह मुझे प्रकाश्य रूप से श्रीवास्तव छोड़ गए हैं। जब यह बात बिलकुल निर्विवाद है तो मेरे श्रीवास्तव होने की मार्फत को जानकर नए परिचित वैसे ही आश्वस्त क्यों नहीं होते जैसे किसी के वकील या डाक्टर होने की सूचना पर आश्वस्त होते हैं ?

'आप क्या करते हैं !'

'मैं डाक्टर हूँ।'

'आप क्या करते हैं ?'

'मैं वकील हूँ।'

'तुम क्या करते हो ?'

'मैं श्रीवास्तव हूँ।'

मैं श्रीवास्तव तो हूँ ही। इसमें रत्ती-भर झूठ नहीं है। फिर, मेरी तरह का जवाब देने पर वकील और डाक्टर भी बेवकूफ क्यों नहीं समझे जाते ?

वे लोग मेरे जैसे, अर्थात् बेवकूफ नहीं हैं यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ। तब फिर उनके वकील होने से भी अधिक मैं श्रीवास्तव होकर बेवकूफ किस बहाने समझ लिया जाता हूँ, यह मैं जानना चाहता हूँ।

'मूर्ख!' एक सद्गुरु ने कहा, 'तू कुछ नहीं समझता। अरे, डाक्टर डाक्टरी करता है। तू क्या श्रीवास्तवी करता है ?'

यह बात तो ठीक है कि मैं किसी 'श्री' की कोई 'वास्तवी' नहीं करता। लेकिन सद्गुरु के ज्ञान से मुझमें बोध नहीं जागा। मैंने कहा, 'जी, मैं कोई श्रीवास्तवी नहीं करता हूँ लेकिन; यह वकालत क्या है जिसको वकील करता है ? और यह डाक्टरी क्या है जिसको डाक्टर करता है ?'

'अरे मूढ़ !' उन्होंने कहा, 'तू यह भी नहीं जानता। अदालत जानता है कि नहीं ? अस्पताल जानता है कि नहीं ?'

'हाँ,' मैंने कहा, 'वह तो जानता हूँ।'

'तो बस' गुरु ने कहा, 'अदालत में वकील वकालत करता है। अस्पताल में डाक्टर डाक्टरी करता है।'

'अरे तू है मूढ़।' उन्होंने कहा, 'सुन, वह अदालत के हाकिम से बोलता है, बतलाता है, बहस करता है, कानूनी बात निकालता है। कानून में फँसे लोगों की वही तो सार-सँभाल करता है।'

'तो यह बात है कि वह बात करता है, बतलाता है, बहस करता है। कानून की बात निकालता है, उसके सताए आदमियों की मदद करता है। लेकिन, आप तो कहते थे कि वह 'वकालत' करता है। वकालत में बात ही तो करता है। फिर, 'वकालत' कहाँ हुई ?'''बात हुई। बात तो मैं भी कर रहा हूँ। क्यों जी ?'

उन्होंने झल्लाकर कहा, 'अरे, इस सब काम को ही वकालत कहते हैं।'

'तो वकालत करना, बात करना है। मैं तो सोचता था, न जाने वह क्या है। अच्छा जी, वकालत को करके वह क्या करता है ?—यानी, अदालत में वह बहुत बातें करता है। उन बातों को करके भी वह क्या करता है ?'

उन्होंने कहा, 'रे मतिमन्द, तू कुछ नहीं जानता। बातों ही का तो काम है। बात बिना क्या ? वकील के बातों के ही तो पैसे हैं। उन बातों से वह जीता है, और फिर उन्हीं से बड़ा आदमी बनता है।'

उन बातों को करके वह बड़ा आदमी बनता है,—अब मैं समझ गया, जी। लेकिन जो बड़ा नहीं है, आदमी तो वह भी है न—क्यों जी ? मैं दिन-भर सच-झूठ बात करूँ तो मैं भी बड़ा आदमी हो जाऊँ ? और बड़ा न होऊँ, तब भी मैं आदमी रहा कि नहीं रहा ?

उन्होंने कहा, 'तू मूढ़ है। बड़ा तू क्या होगा ? तू आदमी भी

नहीं है।'

"लेकिन जी, बात तो मैं भी करता हूँ। अब कर रहा हूँ कि नहीं? लेकिन, फिर भी मैं अपने को निकम्मा लगता हूँ। ऐसा क्यों है?"

"अरे तू मतलब की, काम की बात जो नहीं करता है।"

"अजी, तो बात करने का काम तो करता हूँ। यह कम मतलब है?"

वह बोले, "अच्छा, जा जा, सिर न खा। तू गधा है।"

अब यह बात तो मैं जानता हूँ कि गधा नहीं हूँ। चाहूँ तो भी नहीं हो सकता। गधे की तरह सींग तो अगर्चे मेरे भी नहीं हैं, लेकिन, इतना मेरा विश्वास मानिए कि यह साम्य होने पर भी गधा मैं नहीं हूँ। मैं तो दयाराम हूँ। कोई गधा दयाराम होता है? और मैं श्रीवास्तव हूँ,—कोई गधा श्रीवास्तव होता है? वकील डाक्टर नहीं हूँ, लेकिन श्रीवास्तव तो मैं हर वकालत – डाक्टरी से अधिक सच्चाई के साथ हूँ। इसलिए, इन गुरुजन के पास से मैं चुपचाप भले आदमी की भाँति सिर झुकाकर चला आया।

लेकिन, दुनिया में वकील डाक्टर ही सब नहीं हैं। यों तो इस दुनिया में हम जैसे लोग भी हैं जिनके पास बताने को या तो अपना नाम है या बहुत से बहुत कुल-गोत्र का परिचय है। इसके अलावा जिन्होंने इस दुनिया में कुछ भी अर्जित नहीं किया है, ऐसे अपने-जैसे लोगों की तो गिनती क्या कीजिए। पर सौभाग्य यह है कि ऐसे लोग बहुत नहीं हैं। अधिकतर लोग सम्भ्रान्त हैं, गण्यमान्य हैं, और उनके पास बताने को काफ़ी कुछ रहता है।

"आप क्या करते हैं?"

"बेकार हूँ।—जी हाँ, साहूकार।"

"आप क्या करते हैं?"

"कारोबार होता है। बम्बई, कलकत्ता, हाँगकाँग में हमारे दफ्तर हैं?"

"आप क्या करते हैं ?"

"मैं एम० ए० पास हूँ।"

"आप क्या करते हैं ?"

"मैं एम० एल० ए० हूँ,—लाट साहब की कौंसिल का मेम्बर हूँ ?"

"आप क्या करते हैं ?"

"ओह। आप नहीं जानते ? हंः—हंः हंः राजा चन्द्रचूड़सिंह मुझे ही कहते हैं। गोपालपुर,—८६ लाख की स्टेट, जी हाँ, आपकी ही है।"

"आप क्या करते हैं ?"

"मुझ राजकवि से आप अनभिज्ञ हैं ? मैं कविता करता हूँ।"

"कविता। उसका क्या करते हैं ?"

"श्रीमान् मैं कविता करता हूँ। मैं उसी को कर देता हूँ, साहब। और क्या करूँगा ?"

अत्यन्त हर्ष के समाचार हैं कि बहुत लोग बहुत-कुछ करते हैं और लगभग सब लोग कुछ-न-कुछ करते हैं। लेकिन, मेरी समझ में न बहुत आता है न कुछ आता है।

दूकान पर बैठे रहना, गाहक से मीठी बात करना और पटा लेना, उसकी जेब से पैसे कुछ ज्यादा ले लेना और अपनी दूकान से सामान उसे कुछ कम दे देना,—व्यापार यही तो 'करना' है। इसमें 'किया' क्या गया ?

पर क्यों साहब, किया क्यों नहीं गया ? कस कर कमाई जो की गई है। एक साल में तीन लाख का मुनाफा हुआ है,—आपको कुछ पता भी है। और आप कहते हैं किया नहीं गया।

लेकिन, दयाराम सच कहता है कि दो रोज़ के भूखे अपने समूचे तन को और मन को लेकर भी उन तीन लाख मुनाफे वालों का काम उसे समझ में नहीं आता है।

और साहूकार रुपया दे देता है और ब्याज सँभलवा लेता है।—

देता है उसी इकट्ठे हुए ब्याज में से। देता कम है, लेता ज्यादा है। इसमें वह साहूकार होता जाता है और मोटा होता जाता है।

अगर वह दे ज्यादा और ले कम,—तो क्या हम यह कहेंगे कि उसने काम कम किया ? क्यों ? उसने तो देने का काम खूब किया है। लेकिन इस तरह एक दिन आयगा कि वह साहूकार नहीं रहेगा और निकम्मे आदमियों की गिनती में आ जायगा।

तो साहूकारी 'काम' क्या हुआ ? खूब काम करके भी आदमी जब निकम्मा बन सकता है तो उससे तो यही सिद्ध होता है कि साहूकारी अपने-आप में कुछ 'काम' नहीं है।

और राजा, राजकवि, कौंसिलर, एम० ए० पास,—ये सब जो-जो भी हैं क्या वह मेरे अपने श्रीवास्तव होने से अधिक हैं ? मैं श्रीवास्तव होने के लिए कुछ नहीं करता हूँ। बस यह करता हूँ कि अपने बाप का बेटा बना रहता हूँ। तब, इन लोगों में, इनकी उपाधियों से अपने-आप में कौन सा 'काम' करना गर्भित हो गया,—यह मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता है।

मैं भी बात करता हूँ और कभी-कभी तो बहुत बढ़िया बात करता हूँ,—सच, आप दयाराम को झूठा न समझें। काम-बेकाम की बातें लिखता भी हूँ, अपने घर में ऐसे बैठता हूँ जैसे कौंसिलर कौंसिल में बैठता है, बच्चों पर नवाब बना हुकूमत भी चलाता हूँ,—लेकिन, यह सब करके भी बड़ी आसानी से छोटा आदमी और निकम्मा आदमी बना हुआ हूँ। इससे मुझे कोई दिक्कत नहीं होती।

फिर क्या आदमीपन क्या ? और वह है क्या जिसे 'काम' कहते हैं ?

एक किताब है, गीता। ऊपर के तमाम स-'काम' आदमी भी कहते सुने जाते हैं कि गीता बड़े 'काम' की किताब है। मैं मूढ़-मति क्या उसे समझूँ। पर एक दिन साहसपूर्वक उठाकर जो उसे खोलता हूँ, तो देखा, लिखा है, 'कर्म करो। कर्म में अकर्म करो।'

यह क्या बात हुई। इतना अकर्म है, तो वह कर्म में क्यों किया

जाय ? और जब वह किया गया तो अकर्म कैसे रह गया ? जो किया जायगा वह तो कर्म है, उस कर्म को करते-करते भी उसमें 'अ-कर्म' कैसे साधा जाय ? और गीता कहती है,—उस अकर्म को साधना ही एक कर्म है,—वह परम पुरुषार्थ है।

होगा। हमारी समझ में क्या आवे ! दुनिया तो कर्म-युतों की है। आप कर्मज्ञ हैं,—आप धन्य हैं। तब क्या कृपा कर मुझ दयाराम को भी अपने कर्म का भेद बताएँगे ?

प्रचार

उस दिन गोष्ठी में उन सम्मानित अतिथि ने कहा—"मुझे खुलकर कहना चाहिए कि प्रचार मेरी प्रेरणा है। मैं नहीं जानता कि दूसरी प्रेरणा क्या हो सकती है"

अतिथि मामूली न थे। मशहूर थे और चोटी के लेखक थे। अनुभव की ही बात कहते थे, सुनी-पढ़ी नहीं। इसलिए उसका असर होता था।

उन्होंने कहा—"आचार्य श्री···को आप जानते होंगे। उन्हें मेरी अमुक रचना औरों से अधिक पसन्द आई। कहने लगे—'इसमें तुम्हारा प्रचार का सुर जो नहीं है, इससे कृति अच्छी बन पड़ी है।' मैं कहूँगा कि यह प्रचार का अभाव नहीं प्रचार की सफलता का प्रमाण है। उस पुस्तक में प्रचार मेरी ओर से कुछ विशेष ही है; बल्कि वहाँ यह ओर है। केवल यह है कि उस पुस्तक में मैं ठीक तरह से अपना प्रचार कर पाया हूँ। प्रचार का ठीक और बेठीक होना ही असल बात है। मैं मानता हूँ कि मैं प्रचारक हूँ। मुझे इसका गर्व है और मैं नहीं समझता कि समूचा साहित्य ही प्रचार कैसे नहीं है।"

भाई ने आसपास देखा। उस दृष्टि में जीत थी। उस चेहरे पर उनकी बात की यथार्थता मुझे प्रकाश की स्याही में लिखी दीखी। मैंने अनुभव किया कि सभी उससे प्रभावित हैं। बात से न सही, भाव

कहने के ढंग से सही। असल में प्रभाव शब्द के पीछे के व्यक्ति में से आता है। शब्द के पास अपनी क्या पूँजी है? कोषों को अक्सर कबाड़ी के यहाँ सेरों की तोल से बिकते देखा है। *शब्द कूड़ा है; आदमी चाहिए कि उन्हीं को हीरा बना दे।*

भाई सहज आत्मविश्वास से बोल रहे थे। उनके शब्द-शब्द पर प्रतीति मिल रही थी हम केवल गोष्ठी के सदस्य हैं जबकि अतिथि महान् कलाकार हैं। वह विख्यात हैं और विलक्षण हैं; हम सामान्य और साधारण हैं। मैं जानता हूँ कि वह यह जानते हैं।

बोले—"मैं यदि कुछ विचार रखता हूँ तो उन्हें अपने तक रोकने का मुझे क्या अधिकार है? यह स्वाभाविक है कि मैं यह चाहूँ कि वे फैलें और दूसरे को प्रभावित करें—एक को, कई को, सब को। यानी, उनके प्रचार से मैं कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकता। जितने पाठक मिलें उतने ही मुझे कम लगने चाहिएँ...प्रचार और प्रोपेगेण्डा शब्द हठात् अवज्ञा के बनाये जा रहे हैं। मैं कहता हूँ वह प्रचार जो खलता है बधला है, बेढंगा है। प्रचार के खिलाफ प्रचार ही है, जिसने उस शब्द को हलका कर दिया है। मैं तो प्रचार को स्पष्ट उद्देश्य मान सकता हूँ। मेरी कृतियों की मूल प्रेरणा निश्चय ही वह है। विज्ञापन छोटी कला नहीं है; वह कलाओं की कला है। जिसके पास ऐसे विचार नहीं हैं जिनका वह प्रचार चाह सके, वह फिर लिखता क्यों है, यही मेरी समझ में नहीं आता। मैं कहूँगा कि उसके पास प्रेरणा कृत्रिम है, हलकी है; फुलझड़ी-सी खिलकर शीघ्र ही वह बुझ जायेगी। दूसरों के मन चढ़ने या उनसे कमाई करने की इच्छा भी प्रेरणा हो सकती है। लेकिन ये चीजें कब तक साथ देंगी? और न इनसे कोई गणनीय साहित्य पैदा हो सकता है।"

भाई कहते रहे और श्रोता पीते रहे। आध घंटा, पौन घंटा, एक घंटा। धारा-प्रवाह भाई बोलते ही रहे। रुके तो गोष्ठी स्तब्ध थी। मुक्कर, मानो अपने अभिनन्दन के विदग्ध स्वीकार में आगे बढ़ कर,

उन्होंने तस्वीर खींची और मुँह में पान का बीड़ा लिया। फिर मुसकराये और अनन्तर सिगरेट लेकर सुलगाई।

मैं नशा था और उनके चेहरे की ओर देख रहा था। एकान्त में मैं सोच में रहा करता था कि कहानी कैसे लिखी जाती है। ओह, वह भी क्या दिन होगा जब मैं लिखूँगा और छापूँगा! नहीं नहीं, इनके जैसा नामवर होना तो मेरे भाग्य में हो नहीं सकता। प्रतिभा सबको कब मिलती है। लेकिन हाँ, तो क्या मेरा लिखा छपेगा?

मैंने देखा और सोचा, सोचा और देखा, घूम-घूम कर सामने वही शब्द प्रकट हुआ 'प्रचार'। विचारों का प्रचार करना चाहिए। यही मुझे करना होगा। तभी देखा कि लेखक भाई को काम है, वह माफी माँग रहे हैं, बैठते-बैठते उठ रहे और उठते-उठते बैठ रहे हैं। लीजिए वह खड़े हो गये। अब वह जा रहे हैं।

हमारी पूरी गोष्ठी खड़ी हो आई है। सब द्वार तक उन्हें पहुँचाने जा रहे हैं। मैं भी खड़ा हूँ और जा रहा हूँ। सोचता हूँ कि—लेकिन, सोचने की एक ही वस्तु है, 'प्रचार'।

नहीं नहीं, अब रुकना नहीं होगा, झुकना नहीं होगा। विचारों का प्रचार अवश्य करना होगा। सोचता हूँ और देखता हूँ—अन्दर से दम भरा आ रहा है, छाती फूल रही है। बस अब ठीक है। अब क्रांति होगी।

सम्पादकीय 'मैटर'

दफ्तर से आदमी आया और माँगने लगा—लाइए, मैटर दीजिए!

मैटर भौतिक पदार्थ को कहते हैं। लेकिन यह बात उस वक्त याद न पड़ी, और मैंने जहाँ-तहाँ से आई हुई लोगों की कविताएँ और कहानियाँ उस आदमी को देकर विदा किया।

अब बात यह है कि कविता को मैं नहीं जानता। जाने वह कैसे लिखी जाती है। आख़िर की तुक ठीक-ठीक मिल जाय, यह तो बिलकुल जादूगरी का काम मुझे मालूम होता है। इसलिए कविता पर तो मेरा बस नहीं चलता; पर गद्य कुछ मैं भी लिखता हूँ। वह लिखने में आसानी नहीं होती। मन की भावनाओं और मस्तक के विचारों को पकड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। बड़ी कठिनाई, बड़ी कठिनाई। उस काम में जैसे अपना लहू ही खिंच जाता है।

तिस पर बात यह है कि मेरा गद्य-लेख तो विवेचन अथवा आलोचन रूप रहता है। पर कुछ लोग कहानियाँ लिखते हैं। उसमें न किसी मन्तव्य का प्रतिपादन है, न विवेचन है। उसमें तो प्रधान अभिव्यञ्जना ही है। बाहरी सहारा बहुत कम है; मानों सब-कुछ अन्दर से ही बनाकर दे देना है। मानो वहाँ माँग है कि आत्मा को ही निकालकर उसको शरीर पहनाओ। लाज़िम है कि कहानी-कविता चैतन्य-प्राय हों, नहीं तो कहानी कहानी नहीं, कविता कविता नहीं। जो इस काम को

सफलतापूर्वक कर पाते हैं, मैं उनको प्रणाम करता हूँ। पर उन पर दया भी करना चाहता हूँ। दया इसलिए कि मैं जानता हूँ कि यह कितना दुःसकर काम है। कलेजे को बाहर निकालकर कागज पर रख देना सुख का काम नहीं है। इसलिए जो ऐसा काम करते हैं, श्रद्धा से भी अधिक मैं उन्हें करुणा देना चाहता हूँ। मेरा अनुमान है कि पुरस्कार देने से अधिक उनके साथ रो लेना उन्हें प्रीतिकर होता होगा।

अब मेरे कर्मों का दुर्भाग्य कि दुनिया में कोई और धन्धा मेरे लिए नहीं रह गया। यह अखबार की एडीटरी ही किस्मत में शेष रह गई-है। इडीटरी छोटी चीज़ नहीं है, इसी से दुर्भाग्य कहता हूँ। इस एडीटरी में जगह-जगह से लोग अपने मन की कोमल भावनाओं को शब्दों में मूर्त रूप देकर मेरे पास भेजते हैं कि मैं उन्हें प्रकाशित करूँ। एक ने जो अनुभूति पाई, वह सबको भी मिले। लेखक लोग अपना दुःख-सुख बाँटने के लिए जो-कुछ लिखते हैं, वह सचमुच बँटने में आ जाय, इसके लिए वे प्रकाशक की अत्यन्त आवश्यकता में रहते हैं। कैसी-कैसी भावनाएँ, कैसी-कैसी सूक्ष्म अनुभूतियाँ!

पर दफ्तर से आया है क्लर्क कि मैटर चाहिए। और मैं उन सारी भावनाओं और सारी अनुभूतियों को सीधा फैलाकर एक क्लिप में दबोचकर इकट्ठी कर देता हूँ और लपेटकर दे देता हूँ। कहता हूँ—"लो, यह है मैटर।"

करने को तो यह कर देता हूँ; लेकिन एकदम निर्बुद्धि प्राणी मैं नहीं हूँ। एडीटरी रखकर फिर बुद्धि को रखना मुश्किल तो जरूर होता है, लेकिन ग़नीमत यह है कि मैं एडीटर पुराना नहीं हूँ। इस कारण जो नित नवीन होती है, उस बुद्धि से भी पूरा छुटकारा नहीं पा सका हूँ। इसलिए जाने कितनों के हृदयों के रस को मैटर बनाकर लोहे की मशीनों में दबाकर छपने के लिए देने के बाद मैं अनुभवी सम्पादक की तरह निश्चिन्त नहीं हो जाता। और सोचने लगता हूँ कि यह क्या विचित्रता है कि कवि की आत्मा एडीटर और कम्पोजीटरों के हाथों में

पहुँचकर मैटर बन जाय! इस तरह तो सभी कुछ गड़बड़ हो जायगा न। फिर क्या तो आत्मा, और क्या मैटर! आत्मा और मैटर की दुई ही यों तो नष्ट हो जायगी।

ऐसे संसार कैसे चलेगा? नहीं, यह गलत बात है। कहीं कुछ इसमें गलती है। मैटर मैटर है, आत्मा आत्मा है। आत्मा का प्रसाद चैतन्य है। मैटर का गुण जड़ता है। जो मैटर है वह बाधा है, और आत्मा ही साध्य है।

लेकिन फिर यह क्या बात है कि एक की (कवि की) आत्मा ही दूसरे (कम्पोजीटर) के लिए जड़ वस्तु हो जाती है। एक का उच्छ्वास दूसरे के लिए झाड़ू से बुहारने योग्य कैसे हो जाता है!

जनाब मैं अदना एडीटर हूँ, तो भी दार्शनिक के योग्य यह प्रश्न उठाता हूँ और इसका समाधान माँगता हूँ।

प्रश्न यह है कि—

(१) आत्मा क्या है और मैटर क्या है?

(२) क्या वे दो हैं?

(३) जगत् मैटर है कि आत्मा? (इतिहास का 'मैटीरियलिस्टिक इण्टरप्रिटेशन'—materialistic Interpretation—होगा या कुछ और interpretation चाहिए?)

(४) जगत् कुछ हो, व्यक्ति में कौन-सी वृत्ति उचित है? यह उचित है कि वह वैज्ञानिक वस्तुसापेक्ष (objective) दृष्टि से जगत् पर विचार करे, अथवा यह उचित है कि वह धार्मिक आत्मसापेक्ष (subjective) दृष्टि से जगत् के प्रति आचरण करे?

(५) जगत् को ज्ञेय समझें, तो हम जगत् के अंश न होकर उसके ज्ञाता हो जाते हैं। ज्ञाता के निकट ज्ञेय निश्चेतन पदार्थ नहीं तो क्या है।

अगर जगत् अज्ञेय है, तो हम स्वयं कुछ नहीं रहते, और इस भाँति जीवन में कर्मप्रेरणा का अवकाश ही नष्ट हो जाता है।

इसमे जगत् को ज्ञेय जानकर वैज्ञानिक उन्नति करें ? अथवा अज्ञेय मानकर धार्मिकता का प्रचार करें ?

प्रश्न शायद गूढ़ हो गया। मैं छोटे मुँह बड़ी बात करता होऊँ तो आप क्षमा करें। लेकिन सच यह है कि कम्पोज़ीटर को तीस रुपये वेतन के मिलते हैं, और मुझे उससे बीस रुपये ज्यादा मिलते हैं। मैं इस कारण यह कभी नहीं मान सकता कि मैं बड़ा नहीं हूँ। बीस रुपये प्रतिमास मैं उससे बड़ा हूँ। और जिस दुनिया में करोड़ों भूखे भी रहते हैं, उस दुनिया में तो मैं अपने बड़प्पन का माप कूत ही नहीं सकता। मैं ज़रूर इतना बड़ा हूँ—इतना बड़ा हूँ, कि बेहद। इसमें आपका अपमान नहीं है। आप इस लेख को पढ़ने जैसे कर्म के लिए फुर्सत पाते हैं, अतः सिद्ध बात है कि आपकी आमदनी मुझसे भी बड़ी है। तब आप कुछ-के-कुछ मुझसे स्वयं ही बड़े हो गए। इसलिए आपको और अपने को बड़ा जानकर मैंने छोटी बातों को पीछे छोड़ बड़े प्रश्न सामने खड़े किए हैं।

वह कम्पोज़ीटर तो कुछ नहीं जानता। जो कविता, की कम्पोज़, और मशीन पर छापकर छुट्टी पाई। रोज़-रोज़ यह काम करके तीस रोज़ के बाद वह अपने वेतन के रुपये पका लेगा और उन्हें पाकर अपने को कृतार्थ समझेगा। भले आदमी को यह फ़िकर न रहेगी कि जिस बात का वह तीस रुपया पाने का अपना हक़ मानता है, वह अपने-आपमें क्या काम है और कितना भयंकर है। आत्मा को वह मैटर की तरह-से पन्ने में दबोचकर टाइप को यहाँ-वहाँ जो बैठाता रहता है, वह कैसा घोर अज्ञान का कर्म है, यह वह क्यों नहीं जानता ?

नहीं जानता, इसी में हम सबकी कुशल है। नहीं तो अगले रोज़ वही न एडटरी का दम भरने लगे। और अगर कहीं इससे आगे बढ़कर वह कवि बनने लग जाए (अर्थात्, मैटर को आत्मा कहने लगे), तब तो परमात्मा ही उससे डसे और हमें बचाए!

कवि ने दिन-भर में कुछ पंक्तियाँ कविता की लिखीं। उन पंक्तियों

में उसने अपने मर्म को पाया और दिया। उसमें उसने अपना सत्त-रस ही खींचकर डाल दिया। इस कर्म से उसे क्या मिला? चैन तो शायद कुछ मिला हो; पर वह चैन किस गिनती की चीज़ है? सवाल है कि ठोस असल में इस कर्म के लिए उसे कुछ मिल सका कि नहीं?

और इधर देखो अपना कम्पोज़ीटर! 'कविता है मैटर', यह कहकर उसने कसकर जो सात-आठ घण्टे मेहनत की, तो दिन में डेढ़-दो रुपया लगे हाथ सीधा कर लिया!

कम्पोज़ीटर ही क्यों, लीजिए राजनीतिज्ञ को। उसने धर्म को अँगूठा दिखाया; नक्शे के देश को देश माना, स्टेटिस्टिक्स (*Statistics*) के अंकों को वेद-भाषा समझा और इस राह क्या-से-क्या उसने न कर दिखाया। ऊँची-से-ऊँची कुरसी उसके नीचे देख लो। और इधर अपने कवि लोग और सन्त लोग झंझरी लेकर गाते रहे। यों चाहे अपने पीतम को गाओ, चाहे ईश्वर को रिझाओ। पर इस सबसे होता जाता क्या है? दुनिया में कौन-सा सुधार उससे होता है? और उन्हीं को इससे कौन कुछ आराम मिल जाता है। कुछ मूरख भोले लोग उस बहक में भले बहक जाते हों; पर राष्ट्र की वास्तविक समस्याओं पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है!

इसलिए क्या यह पक्की बात न समझी जावे कि मैटर सचाई है, और हृदय की आवाज़ और अन्तःकरण की कुरेद कोरी भावुकता है।

दिन-दहाड़े जो देखा जाता है, वह तो यही पुकार कर कहता है कि "जगत् सत्य है, क्योंकि मैटर है। समय रहते लूट लो उस जगत् को, जो कि सोना है और सम्पत्ति है और बल है। संशय में रहे कि रह गए। जगत् मैटर ही होकर कुछ है, नहीं तो कुछ नहीं है। और अगर कहते हो 'आत्मा', तो जाओ, उसमें खुद को खोओ और इस जगत् में भी खोए जाओ। तब जैसे कि जगत् तुम्हारे लिए मिथ्या होगा, वैसे ही तुम जगत् के लिए मिथ्या हो जाओगे। समझे आत्म-वादी जीव, जाओ और अपनी आत्मा के साथ मिटो।"

पर मैं एडीटर हूँ। इसलिए सच यह है कि थोड़ा-थोड़ा मैं भी जानता हूँ कि अपने को जानना कितना ज़रूरी है। और अपने को जानने की जहाँ बात भी सम्भव है, वहाँ अपने को जान सकने वाला 'मैं' कुछ तो हूँ ही। यानी मैं आत्मा हूँ। अपने को जड़ मानकर नहीं जी सकता। और सच पूछा जाय, तो जो मेरा लेखन अथवा जो मेरा कर्म आत्म-अभिव्यक्ति रूप है, वही तो सच और प्रभावक मालूम होता है; नहीं तो सब ढकोसला ही मालूम होता है।

लेकिन यह बात तो स्वगत मानी जाय। जगत् की कठोरताओं के आगे वह भला कहीं ठहरती है? क्या मैं देखता नहीं हूँ कि आत्मा मानकर मैं एडीटर हूँ और पचास रुपए पाता हूँ! और शराब को सुख और दौलत को सचाई मानकर एक और व्यक्ति है जो उस पत्र का मालिक, इस कारण मेरा भी मालिक, बना हुआ है।

लेकिन ठहरिए। मैं ज़्यादती कर रहा हूँ। ज़्यादती गुनाह है। क्या मैं हृदय से कहने के लिए तैयार हूँ कि यह सच है कि पत्र का मालिक आत्मा नहीं मानता और मैटर ही मानता है? सच यह है कि वह आध्यात्मिक विषयों में पर्याप्त से कुछ अधिक ही रस लेता है। परमात्मा का वह पक्का विश्वासी है और शंका-सन्देह से सर्वथा मुक्त। अपने में वह बेहद विश्वस्त है और नास्तिकता का कट्टर निन्दक। फिर भी मैं यह क्यों कहता हूँ कि वह दुनिया को मैटर मानता है। शायद यह मैं वाजिब तौर पर नहीं कह सकता। जिस पर वह मालिक है। इसमें आप मुझे क्षमा करें। अपने निज के विश्वास की त्रुटि के कारण दूसरे की आलोचना की वृत्ति मुझमें जगी होगी। और आलोचना हेय है।

इसलिए यदि मैं यह कहता हूँ कि 'मैटरी'-वृत्ति से मालिक को मालिक बने रहने में सुगमता होती है, तो इसे आप चाहें तो कोरी आलोचना मानिए। वैसे तो बुद्धिपूर्वक मुझे सच्चा सत्य भी यही मालूम होता है।

किन्तु वह जो हो, किसी-न-किसी का मालिक होना ज़रूरी है, और हर एक का मालिक बनना लाज़िमी नहीं है और सम्भव भी नहीं है। इसलिए कुछ लोग जो तैयार हों कि वे मालिक की सेवा में सेवक बने रहें, तो उन्हीं को अधिकार है कि वे मैटर को भी आत्मा करके देखें।

ऊपर आ गए प्रश्नों का दार्शनिक समाधान दार्शनिक लोग करेंगे। मुझे तो मालूम होता है कि इसका असल समाधान तो इस बात में पहले ही से हुआ रखा है कि कौन बलशाली है, कौन निर्बल है। बलवान आत्मा को क्यों न मैटर देखे? दूसरे की जानों को क्यों न खिलौना समझे? मानवता के हित को क्यों न अंकों में नापे? भावनाओं को *क्यों न व्यर्थ समझे? बाहुबल को वह क्यों न निर्णायक* नीति घोषित करे? वह क्यों न कहे कि बल में जय है और जो दुर्बल हैं, वे सबल के मुँह का कौर हैं? बलशाली तो यह कहेगा और यह उसके बल का प्रमाण है।

और जो निर्बल हैं, वे क्या कहते हैं क्या नहीं, यह कौन सुनता है। सदा से जिसको वे अपनी बात सुनाते आए हैं, वह राम उनकी बात सुने-तो-सुने, हम कौन हैं कि उस पर कान भी लावें। हम एडीटर हैं, और खुद निर्बलों में हैं। पर जो हमें वेतन देता है, वह बलवान् है, और हम उसके विपक्ष की बात तनिक-सी भी कोई नहीं सुन सकते।

राम-कथा

एक बार पड़ौसी सज्जन के यहाँ से निमन्त्रण आया। दशहरा पास आ रहा है, दूर से एक विद्वान् पण्डित पधारे हैं, रामायण की कथा होगी,—मैं कृपा कर कथा में सम्मिलित होकर उत्सव की शोभा बढाऊँ।

उत्सव की तो शोभा मुझसे क्या बढ़ सकती है; लेकिन रामायण कोटि-कोटि भारतीयों को प्यारी है। मैं भी उस प्यार को चाहता हूँ। मैंने रामायण नहीं पढी है, अंग्रेज़ी पढ़ी है, पर मुझे इस अंग्रेज़ी की जगह रामायण न पढ़ने पर गर्व नहीं है। कई मौकों पर जब सहस्रों नर-नारियों के समुदाय को राम-सीता के स्तुति-गान पर गद्‌गद हो जाते देखा है, तब मैं उन सब लोगों को 'मूड़-मति' कह कर टाल नहीं सका हूँ। मैं बरबस उनसे प्रभावित हो जाता हूँ राम के प्रति और सीता के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उठती है। मैं अंग्रेज़ी पढ़ा हूँ और हो सकता है कि बुद्धिमान् के लिए श्रद्धा की अपेक्षा तर्क अधिक बुद्धि-संगत हो; पर मेरी श्रद्धा मुझे बुरी नहीं लगती। यह श्रद्धा अति अनायासभाव से मेरी तर्क-बुद्धि को लाँघ जाती है। नहीं मानूँगा कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूँ; पर, सच कहूँ तो, श्रद्धा में मुझे अपनी बुद्धि की विफलता नहीं मालूम होती, कुछ सफलता ही मालूम होती है।

रामायण मैंने पढी नहीं है, फिर भी मैं प्रकृत भाव से उन कोटि-कोटि भारतीयों के समकक्ष बन जाना चाहता हूँ जो राम में परमात्मा

किन्तु वह जो हो, किसी-न-किसी का मालिक होना ज़रूरी है, और हर एक का मालिक बनना लाज़िमी नहीं है और सम्भव भी नहीं है। इसलिए कुछ लोग जो तैयार हों कि वे मालिक की सेवा में सेवक बने रहें, तो उन्हीं को अधिकार है कि वे मैटर को भी आत्मा करके देखें।

ऊपर आ गए प्रश्नों का दार्शनिक समाधान दार्शनिक लोग करेंगे। मुझे तो मालूम होता है कि इसका असल समाधान तो इस बात में पहले ही से हुआ रखा है कि कौन बलशाली है, कौन निर्बल है। बलवान आत्मा को क्यों न मैटर देखे? दूसरे की जानों को क्यों न खिलौना समझे? मानवता के हित को क्यों न अंकों में नापे? भावनाओं को क्यों न व्यर्थ समझे? बाहुबल को वह क्यों न निर्णायक नीति घोषित करे? वह क्यों न कहे कि बल में जय है और जो दुर्बल हैं, वे सबल के मुँह का कौर हैं? बलशाली तो यह कहेगा और यह उसके बल का प्रमाण है।

और जो निर्बल हैं, वे क्या कहते हैं क्या नहीं, यह कौन सुनता है। सदा से जिसको वे अपनी बात सुनाते आए हैं, वह राम उनकी बात सुने-तो-सुने, हम कौन हैं कि उस पर कान भी लावें। हम एडीटर हैं, और ख़ुद निर्बलों में हैं। पर जो हमें वेतन देता है, वह बलवान् है, और हम उसके विपक्ष की बात तनिक-सी भी कोई नहीं सुन सकते।

राम-कथा

एक बार पड़ोसी सज्जन के यहाँ से निमन्त्रण आया। दशहरा पास आ रहा है, दूर से एक विद्वान् पण्डित पधारे हैं, रामायण की कथा होगी,—मैं कृपा कर कथा में सम्मिलित होकर उत्सव की शोभा बढ़ाऊँ।

उत्सव की तो शोभा मुझसे क्या बढ़ सकती है; लेकिन रामायण कोटि-कोटि भारतीयों को प्यारी है। मैं भी उस प्यार को चाहता हूँ। मैंने रामायण नहीं पढ़ी है, अंग्रेज़ी पढ़ी है, पर मुझे इस अंग्रेज़ी की जगह रामायण न पढ़ने पर गर्व नहीं है। कई मौक़ों पर जब सहस्रों नर-नारियों के समुदाय को राम-सीता के स्तुति-गान पर गद्‌गद हो जाते देखा है, तब मैं उन सब लोगों को 'मूढ़-मति' कह कर टाल नहीं सका हूँ। मैं बरबस उनसे प्रभावित हो जाता हूँ राम के प्रति और सीता के प्रति मेरे मन में श्रद्धा उठती है। मैं अंग्रेज़ी पढ़ा हूँ और हो सकता है कि बुद्धिमान् के लिए श्रद्धा की अपेक्षा तर्क अधिक बुद्धि-संगत हो; पर मेरी श्रद्धा मुझे बुरी नहीं लगती। यह श्रद्धा अति अनायासभाव से मेरी तर्क-बुद्धि को लाँघ जाती है। नहीं मानूँगा कि मैं बुद्धिवादी नहीं हूँ; पर, सच कहूँ तो, श्रद्धा में मुझे अपनी बुद्धि की विफलता नहीं मालूम होती, कुछ सफलता ही मालूम होती है।

रामायण मैंने पढ़ी नहीं है, फिर भी मैं प्रकृत भाव से उन कोटि-कोटि भारतीयों के समकक्ष बन जाना चाहता हूँ जो राम में परमात्मा

पंडित जी ने गले में कुछ मालाएँ स्वीकार कीं फिर कुछ पूजन आदि किया, मंगलाचरण किया, और रामचन्द्र के जीवन के इतिवृत्त का संक्षिप्त बखान आरम्भ किया। बताया कि अमुक तिथि, अमुक घड़ी, अमुक लग्न में अपने पिता राजा दशरथ के अयोध्या के महलों में माता महारानी कौशल्या की कुक्षि से भगवान् ने अवतार धारण किया। इससे आगे वह कुछ और कह रहे थे, तभी मेरा ध्यान अन्यत्र चला गया।

मनुष्य भी विचित्र प्राणी है। वह क्या विचित्र है!—असल में जो उसके भीतर छोटा-सा मन दुबककर बैठा हुआ है, सारी विचित्रता तो उस मन की है! वह मन न देश की बाधा मानता है, न काल की। तुम घड़ी यहाँ बैठे हो, तो यह मन उड़कर कहाँ पहुँच गया है, ठिकाना नहीं। दस बरस, बीस बरस, पचास, सौ, लाख, करोड़ बरस पहले कहीं मन चला गया है, या वह मन लाखों बरस आगे पहुँच गया है,—कुछ भी हिसाब नहीं। यह सारा सफ़र वह मन छन में कर लेता है। इसी मन के बूते पर ही तो कवि लोग कह देते हैं कि व्यक्ति असीम है। साढ़े तीन हाथ का मानव-व्यक्ति असीम भला क्या? इस अनन्त योजनों के विस्तार वाले विश्व में वह नन्हीं बूँद-सा भी तो नहीं है! पर उस नन्हीं बूँद के भीतर नन्हीं से भी जो कुछ नन्हीं चीज़ है, वही कम्बख़्त तो समीपता में बँधकर पल-भर के लिए भी चैन से बैठती नहीं।

और न उस मन के लिए देश की बाधा है। यहाँ धरती पर रक्खी कुर्सी पर बैठे हो, पर मन आसमान में उड़ रहा है। आसमान क्यों, वह सूरज में चला गया है। सूरज को पार कर वह जाने फिर कहाँ-कहाँ भागा फिर रहा है! उस पर रोक-थाम ही नहीं चलती। मन तो मन है, उसके लिए कब यह नियम बन सका है कि वह किसी पण्डित की सुस्वर-कण्ठ-लहरी में गाई जाती हुई राम-कथा में से उठकर और कहीं न जा सकेगा। सो मेरा मन और ही तमारो की ओर चला गया।

कुछ रोज़ पहले की बात है। सप्ताह-भर हुआ होगा। ऊपर बादल हो रहे थे। वर्षा होने वाली थी। मौसम अनुकूल था। उस समय वह कमरा मुझे अच्छा नहीं मालूम हुआ जहाँ ऊपर साँवला आसमान तो है नहीं, कोरी छत है। और जहाँ चारों दिशाएँ भी खुली नहीं हैं, बस चारों ओर से पक्की दीवारें घिरी हैं। सो मैं कमरे में से निकलकर बाहर आया। बाहर आकर देखता हूँ कि हरीश और विमला में कुछ चर्चा छिड़ी है। वह किसी तत्त्व पर उलझते हैं और मेरे बाहर आने का उन्हें पता नहीं लगा है।

हरीश ने कहा—मैं बड़ा हूँ। मैंने ज्यादा आम खाये।

विमला बड़ी न हो; पर लड़की है। उसने ज़ोर से कहा—मैंने खाये!

हरीश—मैंने पाँच खाये।

विमला—मैंने पाँच खाये।

हरीश—मैंने दस खाये।

विमला—मैंने दस खाये।

हरीश—मेरी बात तू क्यों कहती है?—मैंने बीस खाये।

विमला—मैंने बीस खाये!

हरीश—तू झूठ बोलती है।—मैंने चालीस खाये—मैंने पचास खाये।

विमला को सहसा याद आया कि एक बड़ी चीज़ होती है जिसका नाम है, 'सौ'। उसने कहा—मैंने सौ खाये।

हरीश—सौ! मैंने पचास सौ हज़ार खाये।

विमला ने बड़े गर्व से कहा—मैंने सत्रह खाये!

हरीश ने ताली बजाकर कहा—ओहो जी, सत्रह ज्यादा होते ही नहीं!

तब विमला ने तल्लीनता के साथ दोनों हाथ फैलाकर कहा—मैंने इत्ते खाये।

हरीश एकदम खड़ा हो गया। पंजों के बल तनकर और अपनी दोनों बाहें खूब फैलाकर उसने कहा—मैंने इत्ते सब-के-सब खाये।

विमला ने हरीश को देखकर कहा—नहीं खाये।

हरीश बोला—मैंने खाये। सब के सब, बादल-जित्ते मैंने आम खाये।

विमला—नहीं खाये।

हरीश—मैंने,—मैंने, मैंने रामजी-जित्ते खाये।

यह कहते-कहते उसका फेंफड़ा भर गया, मानो अब इससे अधिक पूर्णता कहीं और नहीं है। मानो कि बस, अब आगे किसी के लिए भी गति नहीं है।

विमला ने हरीश के इस निश्चिन्त गर्व को देखा। उनकी तमाम गिनती जहाँ पहुँच कर शान्त हो जाती है,—तमाम कल्पना, तमाम शक्ति जहाँ पहुँच कर समाप्त और सम्पूर्ण हो जाती है, वह हैं रामजी! पर वह रामजी क्या हैं?

विमला ने कहा—मैंने दो राम जी-जित्ते खाये।

इस पर तनिक गम्भीर सहज भाव से हरीश ने कहा—रामजी दो होते ही नहीं विमला!

विमला आग्रही बन कर बोली—होते हैं।

उस समय गुरुता के साथ हरीश ने कहा—विमला, रामजी दो नहीं होते।

सुनकर विमला चुप हो गई। उस समय उसे यह मालूम नहीं हो रहा था कि वह हारी है; न हरीश को अपने जीतने का मान था, मानो हार-जीत दोनों रामजी में आकर अपना द्वित्व खो बैठे हैं। मानो जीत भी वहाँ वही है जो हार है।

मैं यह सब देख रहा था। मैंने देखा कि रामजी तक आकर ये दोनों परस्पर निस्तब्ध हो गए हैं। ये दोनों एक-दूसरे को देख रहे हैं

पर ऐसे जैसे कि कहीं अन्यत्र पहुँचकर वे मिल गए हों और आपस की पृथकता उन्हें समझ न आ रही हो। मानो कि एक दूसरे को देखते रहने के अतिरिक्त और कुछ उनके बीच सम्भव ही न हो।

थोड़ी देर बाद हरीश ने कहा—अच्छा बताओ विमला, मेह कौन बरसाता है?

विमला—बादल बरसाते हैं।

हरीश—बादल नहीं बरसाते हैं।

विमला—तो कौन बरसाता है?

हरीश ने बताया—राम जी बरसाते हैं।

उस समय मुझसे रुका नहीं गया और चलता हुआ मैं पास पहुँच गया, कहा—कोई भी मेह नहीं बरसाता जी! इतनी देर से बादल भर रहे हैं। बताओ, कहीं मेह बरस भी रहा है? (और मैंने विमला को गोदी में उठा लिया) और क्यों जी हरीश बाबू, तुम्हारा रामजी मेह जल्दी क्यों नहीं बरसाता है, क्या बैठा सोच रहा है?

हरीश लजा गया और विमला भी लजा गई।

पंडित जी की कथा सुनकर मुझे वह बालकों वाला राम जी याद आ गया। पंडितजी वाले रामचन्द्रजी, जो बाक़ायदा दशरथ के पुत्र हैं और जो निश्चित घड़ी में जन्म लेते हैं, क्या वही हैं जो बालकों का मेह बरसाते हैं? दशरथ के पुत्र रामचन्द्र जी तो पंडित जी की पंडिताई के मालूम हुए। बादलों के ऊपर, आसमान के भी ऊपर, सभी कुछ के ऊपर, फिर भी सब कहीं जो एक अनिश्चित आकार-प्रकार के राम जी रहा करते हैं, मेह तो वह बरसाते हैं। वह राम जी पंडिताई के नहीं, वह तो बालकों के बालकपन के ही दीखते हैं। मैं सोचने लगा कि पंडित का पाण्डित्य क्या सचमुच बच्चे के बचपन से गम्भीर सत्य नहीं है? बालक का राम जो, जिसका उसे कुछ भी ठीक अता-पता नहीं है, उन राजा रामचन्द्र से, जिनका रत्ती-रत्ती ब्यौरा पंडितजी को मालूम है, क्या कभी जीत सकेगा? क्या बालक बालक और पंडित महान् नहीं

है ? लेकिन वहाँ बैठे-बैठे मुझे प्रतीत हुआ कि दशरथ के पुत्र वाले रामचन्द्र में, जो कि पंडित की व्याख्याओं में प्रत्यक्षतः अधिकाधिक ठोस होते जा रहे हैं, मेरे मन को उतनी प्रीति नहीं प्राप्त होती है जितनी बच्चों के 'रामजी' में। बच्चों का राम जो कुछ हो, मुझे प्यारा तो मालूम होता है।

तभी पंडित जी की ओर मेरी निगाह गई। उन्होंने मुख पर हाथ फेरा, केशों को तनिक सँवारा, शिखा ठीक की, किंचित् स्मित से मुस्कराये और अत्यन्त सुरीली वाणी में तनिक अतिरिक्त मिठास के साथ ताल-लय के अनुसार रामायण की चौपाई गा उठे।

उनके निर्दोष गायन और पांडित्यपूर्ण वक्तृत्व से प्रभावित हो मैं सोचने लगा कि क्या सचमुच इस समय पंडित जी के निकट अपना वाणी-विलास, अपना वाक्-कौशल, अपनी ही सत्ता दशरथ-पुत्र की सत्ता से अधिक प्रमुख और अधिक प्रलोभनीय नहीं है ? मुझ को ऐसा लगा कि पुण्यश्लोक रामचन्द्र को तो मैं मानूँ या न मानूँ; पर उनकी कथा को लेकर इन पंडित जी के मुँह से अविराम निकलती हुई सुललित वाग्धारा को तो मुझे प्रामाण्य मानना ही होगा,—कुछ ऐसा जादू पंडित-जी में था। मुझे प्रतीत हुआ कि राम-कथा साधन है, साध्य तो राम-कथा का सुमिष्ट वाचन है। राम तो राम थे; वह कभी रहे होंगे; पर आज तो देखो, यह पंडित जी उस कथा का कैसा सुन्दर पारायण करते हैं ! कहो, पंडित जी श्लाघनीय नहीं हैं ?

मुझ को वे बच्चे याद हो आये जो राम जी की याद में जैसे सुध-बुध बिसार बैठे थे। उन के लिए राम जी चाहे कितना ही अरूप-अव्यक्त हो, पर वह था। उस नाम पर वे उत्साहित हो सकते थे, या चुप हो सकते थे। या तो वह बालकों का बचपन हो, पर फिर भी वह बचपन उनका भाग था। 'राम'—यह मात्र शब्द उनके लिए न था, इससे कुछ बहुत अधिक था, बहुत अधिक था। पण्डित जी के दशरथ-पुत्र रामचन्द्र भी क्या वैसे उनके निकट हैं ? मुझे जानना चाहिए कि वह

रामचन्द्र अधिक स-इतिहास हैं, उनका नाम-धाम, पिता-माता, सगे-सम्बन्धी, तिथि-ब्यौरा, उनके बारे का सब-कुछ यह पंडित जी जानते हैं। वह रामचन्द्र जी आवश्यक-रूप में अधिक प्रमाणयुक्त, शरीर-युक्त, तर्क-युक्त हैं। उनके सम्बन्ध में कम प्रश्न किये जा सकते हैं और लगभग सब प्रश्नों का उत्तर पंडित जी से पाया जा सकता है। लेकिन, क्या इसी कारण वह रामचन्द्र पंडित जी से दूर और अलग नहीं बन गये हैं? रामचन्द्र दशरथ के पुत्र थे; पर पंडित जी अपने पिता के पुत्र हैं। इसलिए रामचन्द्र जी जो रहे हों रहें, पंडितजी तो पंडित ही रहेंगे। हाँ, राम-कथा करना उनका काम हो गया है, सो बड़े सुन्दर ढंग से वे उस कथा को कहेंगे। तदुपरान्त, रामचन्द्र अलग वह अलग। उनका जीवन अपना जीवन है। वे जीवन का कोई भाग रामचन्द्र (के आदर्श) के हाथ में क्यों देंगे?

यह सोचते-सोचते मैंने देखा कि राम-कथा-स्नेह से भीगी पंडित जी की तल्लीन दृष्टि असावधान और कर्म-कठोर पुरुष-वर्ग की ओर से हट कर, रह-रह कर, धर्म-प्राण, भक्ति-प्रवण अबलाओं की ओर अधिक आशा-भाव से बँध जाती है!

मुझे मालूम हुआ, कि मैं पंडित जी के रामचन्द्र को छोड़कर बालकों के राम जी की ओर इस समय उठकर तनिक चला जाऊँ तो यह मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का अपमान शायद न होगा।

मैं उठा इतने में पड़ोसी सज्जन लपक कर पास आये, बोले—बैठिए-बैठिए बाबू जी।

मैंने कहा—मैं जाऊँगा ज़रा—

सज्जन ने हाथ जोड़कर कहा—जाइएगा? आप ने बड़ी कृपा की। लीजिए, यह प्रसाद तो लेते जाइए।

मैंने प्रसाद लिया और चला आया।

रामनाथ की बात

अभी उस रोज़ एक हितैषी भाई ने कहा—'कम्युनिज़्म के तुम क़ायल नहीं मालूम होते हो।' फिर दो-तीन किताबों के नाम सुझाते हुए पूछा—'ये किताबें पढ़ी हैं ?'

वे किताबें मैंने नहीं पढ़ी थीं, शायद एकाध उनमें पढ़ भी गई हो। किताबें वे मार्क्स की और लेनिन-स्टालिन की थीं। 'कैपिटल' मैंने नहीं पढ़ा है, तो भी दिन हुए मार्क्स का लिखा इधर-उधर का काफ़ी-कुछ मैंने पढ़ा था। याद पड़ता है, स्टालिन की 'लेनिनिज़्म' किताब भी पढ़ी थी। पढ़ते वक्त दिमाग़ पर ज़ोर पड़ा था। यानी रस अनुपात में कम मिला था। पर मेरी अवस्था तब वह थी जब कसरत ख़ुद अपने लिए प्रिय होती है। तब विद्या का मैं अर्थी था। पर विद्या टिकती उतनी है, जितनी अपने में विद्या न रहकर जीवन में हल हो जाती है। अपना सब अर्थ ही कोई विद्या में रख बैठे, तो ऐसे वह सहज निकम्मा बन सकता है। यानी जो तब पढ़ा था, कोशिश की थी कि मस्तक में रहे। इसी से है कि वह जल्दी-से-जल्दी सुविधा पाकर वहाँ से उतर गया है।

अतः मैंने हितैषी से कहा—'नहीं, नहीं पढ़ी।'

बोले—'पढ़ डालो! ज़रूर पढ़ना चाहिए। तुम्हारी भ्रान्ति दूर हो जायगी।'

'भ्रान्ति ! क्या भ्रान्ति ?'

'तुम कम्युनिज़्म के पक्ष में नहीं हो न। इसमें भ्रान्ति ही तो हुई। पढ़ोगे, तो जानोगे। और जानोगे, तो माने बिना न रहोगे कि जगत् के लिए आशा उसी में है।'

मैं चुपचाप रहा, उत्तर नहीं दिया। सोचा, जानना तो सही ही है और जाने बिना राय रखना या देना ज़रूर ग़लत है।

मित्र बोलते गए—'लोग कहते हैं, वह दर्शन नकारवादी है। इससे उसकी नीति भी नकारात्मक है। और उस नीति में से निकली प्रवृत्ति ध्वंसात्मक होगी। यह अज्ञान है। असल में कुछ अवैज्ञानिक भावुक शब्दों ने हमें पकड़ रखा है। हिंसा शब्द से क्या हमें डरना होगा? निर्माण के लिए ध्वंस ज़रूरी है। ढहेगा नहीं, तो बनेगा किस आधार पर? समाज का हमें क्या नया निर्माण नहीं करना है? क्या हम काँपेंगे यह देखकर कि मौजूदा सड़ा-गला समाज ग्रस्त-ध्वस्त किया जा रहा है? यह सच है कि छोटे दिल वाला कम्युनिस्ट नहीं हो सकता। जिसको अपनी जान की या दूसरे की जान की फ़िक्र है, उससे फिर भविष्य का क्या भला होगा! इन छोटी बातों पर क्या तुम चाहोगे कि हम अटके रहें? सौ-हज़ार-लाख आदमी, वे जो भावी को अपनी आसक्तियों में रोकना चाहते हैं, राह में गिरें और मरें, तो क्या इस पर ठिठकना होगा? तुम गांधी को मानते हो, मैं भी मानता हूँ। वह महामानव था। जाने उसकी अहिंसा क्या थी? शायद वह हिन्दुस्तान की निहत्थी हालत में अपनाई गई एक नीति थी। पर गांधी अपना काम कर गया। अंग्रेज़ यहाँ से गए और बेजोड़ उसने मौत पाई। अब क्या सचमुच तुम चाहते हो कि हिंसा-अहिंसा के पचड़े में पड़कर हम रुक जायँ? हम रुक सकते हैं, पर गति नहीं रुक सकती। विकास तो नियत है। विश्व का और चारा नहीं। या तो वह विकास हमसे और हमारे द्वारा होगा, नहीं तो हमारे बावजूद होगा। यानी हम बाधा होंगे, तो हमको कुचलते हुए विश्व की गति को आगे बढ़ते जाना होगा।

इससे कहता हूँ, रामनाथ, पढ़ो। किताबें मेरे एक मित्र के यहाँ हैं—उन्हें कह दूँगा।'

मैं साभार सुनता रहा। लेकिन मैं दंग था। ज्ञान इतना है कि पार नहीं। मेरे चालीस वर्ष निकल गए हैं। क्या उनमें उस अथाह की ऐक बूँद भी मैं अपने में रोक पाया हूँ? जन्म पर-जन्म लेता जाऊँ, तो भी ज्ञान का पहाड़ क्या पढ़-पढ़कर मुझसे चुकेगा? फिर कौन बताए कि जन्म होते ही हैं। और नित नया ज्ञान अनगिन जिल्दों में बँधकर उस पहाड़ के ऊपर बराबर बैठता ही चला जा रहा है। ऐसी स्थिति में अपने निपट अज्ञान को लेकर मुझे सचमुच क्या करना होगा, एकाएक सूझ नहीं पाया। मालूम होता है, आँख मूँदकर पढ़ते ही जाना होगा। ज्ञान ही तो दीप है। और राह अँधेरी है। दीप बिना अँधियारी राह कैसे कटेगी? और यह जो हितैषी मित्र हैं, किताबों के नाम बतलाने के साथ उन्हें पहुँचाने की तैयारी भी जतलाते हैं। तो क्या सब काम छोड़कर उन किताबों को ही पहले पढ़ने में नहीं लग जाना होगा? कारण, साक्षरता अनिवार्य है। तब इस इल्म को, जिस पर अपार समाप्त है, जानने से बचने का उपाय कैसे हो सकता है? यों तो सिर रेत में गाड़कर कुछ काल जीने का भी एक तरीक़ा है, जो कतिपय जन्तु अपनाते हैं। लेकिन इनसान होकर वह तरीक़ा अपने बस का कहाँ है। इस तरह बचाव का उपाय नहीं है। वह इल्म छा रहा है। चीन गया हो और जाने किन-किन की बारी आरी है। सो ज़रूरी है, अपनी ख़ातिर और हाँ भविष्य की भी ख़ातिर, कि उसे जाना जाय। जानकर यह आप पर है कि बैरीकेड के आप इधर हों या उधर हों। यानी उस इल्म के प्रचारक हों, नहीं तो उसके शिकार हों। जल्दी-से-जल्दी आवश्यक ज्ञान पाकर आपको फ़ैसला कर लेना है। काम में देरी ख़तरे की हो सकती है।

मेरे असमंजस को मित्र सहानुभूति से देखते रहे। मानो जल्दी ही वे मुझे थपकी दे आएँगे, कहेंगे—'*शाबाश!*' इससे मैंने धीमे से

शुरू किया—'किताबें—'

सहायता में लपककर बोले—'हाँ, किताबें लाइब्रेरी में न मिलें, तो मित्र के यहाँ मिल जायँगी, या मैं भिजवा दूँगा, या मेरे यहाँ कल आ ही न जाओ। पहले स्टालिन की 'लेनिनिज़्म' देख जाना। वह तो शायद मेरे पास भी होगी ...' फिर उन्होंने और कुछ कहा, जो उनकी हितैषिता और उदात्तता और ज्ञानार्णव-सम्बन्धी उत्तीर्णता प्रकट करता था। अन्त में मुझे राह के बीच छोड़ वे चले गए।

इस बात को तीन दिन हो गए हैं। मुझे माफी माँगनी चाहिए कि मैं मित्र तक नहीं पहुँच सका हूँ और स्टालिन का 'लेनिनिज़्म' मुझ तक नहीं आ सका है। प्रमाद ही कहिए, जो सब पापों का मूल है। पर मैं कुछ कह नहीं सकता। बात यह भी है कि पत्नी की तबियत ठीक नहीं रहती है। काम के लिए वे अकेली हैं और खाने के लिए हम सात प्राणी हैं। फिर काम यदि पूरा है, तो दाम एकदम नदारद है। उससे, मालूम होता है, काम की गाड़ी ही अड़ जाती है। काम, यानी लेबर। दाम यानी कैपिटल। कैपिटल हूँ इस घर में मैं पति। इससे 'लेबर' में हुई पत्नी। किन्तु मैं हूँ बेदाम। अतः पत्नी के लिए है केवल शुद्ध काम। कारण, लेबर और कैपिटल की समस्या, जो विश्व की है और सत्य की समझी जाती है, उसको हल होना है विराट विश्व में अथवा गूढ़ तत्त्व में। इसलिए उसे छोटे-से अपने घर में और संक्षिप्त अपने जीवन में हल करने में भला कैसे लगा जा सकता है! आमूलचूल क्रान्ति से और राज हथियाने से पहले कोई आदमी या घर अपने को ठीक करने में कैसे भूल सकता है!

मित्र बाज़ार में मिले थे। वहाँ उनके शब्द जिस गहन प्रश्न और गुरु-कर्तव्य को मेरे समक्ष प्रत्यक्ष कर गए थे, घर आते ही वह परोक्ष हो रहा। मित्र ने मोटर में बैठे-बैठे सिगार के धुएँ के बीच से जो-जो कहा था, अत्यन्त सारभूत जान पड़ा था। घर आते ही पत्नी ने उसकी निस्सार तुच्छता को इस भाँति मेरे आगे प्रत्यक्ष कर पटका कि क्षण-

भर तो, निरुत्तर, मैं ठिठक रहा और फिर इधर-उधर छूटने को उद्यत हो आया।

पत्नी ने पूछा—'दवा ले आए ?'

'दवा—'

इतना मुँह से निकाल आगे किसी अमोघता का उच्चारण किया चाहता था कि पत्नी ने कहा—'नहीं लाए, औं-अ···?'

मैं हठात् गुस्से में हो आया, बोला—'तो मँगा क्यों न लो ?'

अचम्भे में वे मेरी ओर देखती रहीं। उस विस्मय के भाव पर मेरा क्रोध और उफना, कहा—'हाँ, क्यों मँगा नहीं लो ? मैं कुछ नहीं जानता—'

पत्नी इस पर क्या कहतीं। जो था, मैं जानता था। पत्नी उसी निपट यथार्थ को मुझे क्या जतलातीं ? घर में न कोई और दवा लाने वाला था, न लाने वाले पैसे थे। इक-टक मेरी तरफ टक बाँध कर *देखती हुई उनकी आँखें जैसे और फैल आईं। उस दृष्टि की विवशता को* देखकर मेरे अन्दर जाने क्या हुआ कि ऊपर से मैं फनफना आया। वहक में जाने क्या-क्या न कह डाला, वह यहाँ दोहराऊँगा नहीं। अन-कहनी सब कह गया और फिर धमक के साथ वहाँ से चलकर अपने कमरे में आया और मोटी-सी किताब खींचकर पढ़ने बैठ गया।

एक शब्द है 'इस्केप'। मैं नहीं जानता, उसका ठीक-ठीक क्या मतलब है। व्यक्तिगत समस्या को नेस्तनाबूद करके उसी के निर्वैयक्तिक रूप को मैं उस मोटी किताब की सहायता से अपने मन में उठाने लग गया। तरह-तरह के ज़ोरों से मैंने अनुभव कर लेना चाहा कि समस्या मेरी नहीं है, श्रेणी की है। वह श्रेणीगत विग्रह की है और मुझे उसे हल नहीं करना है, श्रेणी-चेतना और श्रेणी-घृणा को चेताने में लग जाना है। मैंने उस रोज़ खाना नहीं खाया। ध्यान भी नहीं दिया कि खाना बना है कि नहीं। कमरे से उठकर जल्दी लाइब्रेरी में आ गया, जहाँ स्टालिन की 'लेनिनिज़्म' जिल्द मिल गई और मैं उसमें

डूब गया।

अब एक और शब्द है 'प्रतिक्रिया'। इसका भी ठीक-ठीक मतलब मैं नहीं जानता हूँ। घर ग्यारह बजे से पहले नहीं पहुँचा और जाते ही बिस्तर पर वह किताब पढ़ने में लग गया। उस क्षण मुझे यह प्रकट था कि विवाह-संस्था जुआ है, अर्थ-बन्ध पर आश्रित है, और प्रेम को एक के अथवा अर्थ के बन्धन से मुक्त करना होगा। बिस्तर पर पड़े-पड़े कब नींद आई, कब सवेरा हुआ, कब पत्नी उठीं, बुहारी-सफ़ाई हुई और क्या-क्या कुछ हुआ, मुझे पता नहीं चला। पता तब चला जब सवेरे सिरहाने आकर कहा गया—'अजी उठो, निशास्ता तैयार हो गया।'

मैं एकदम नहीं उठना चाहता था। दिन चढ़ आय, नाश्ता सौ दफ़े तैयार हो जाय, तो इससे क्या? यानी तत्काल मैं किसी तरह नहीं उठ सका। लेकिन और उपाय भी क्या था? आख़िर ले-देकर उठा, जो करना था, किया। और चाहता था झपटकर अपने पढ़ने के कमरे में जा पहुँचूँ कि सुना—'लो, आओ न, निशास्ता ठण्डा हो रहा है।'

झटके से बोला—'क्या?'

पत्नी ने कहा—'चरखू, पटड़ा-चौकी डाल दे न ज़रा। आओ, बैठो।'

कुछ भी और न सूझा। जाने क्या-क्या मनसूबे दिल के दिल में रह गए। मेरे सामने-सामने चौकी रखी गई, पटड़ा पड़ा और मुझसे सिवा इसके कुछ न करते बना कि जाऊँ और बिछे पटड़े पर जाकर विराज जाऊँ।

लीजिए, सब-कुछ हो गया। मालूम होता था, घन घिर आए हैं। ऐसी बिजली कड़केगी कि जगत् एक बार प्रकाशित हो उठेगा। और फिर ऐसी मूसलधार पड़ेगी कि सब प्रलय हो जाएगा। पर वह सब-कुछ जैसे फूँक में उड़ गया। पत्नी ने मुस्कराकर पूछा—'कल क्या लाया?'

उत्तर में मैंने अपने सामने का प्रसाद दिखाकर पूछा—'यह सब

कहाँ से किया ?'

बोली—'तुम फ़िक्र मत करो। पैसा आना होगा, तब आ जायगा। नाहक क्यों परेशान होते हो ?'

निशास्ता मेरे गले में अटकता मालूम हुआ। मानो आँसू गीले धुएँ की ग्रन्थि बनकर गले में कहीं उठते-उठते अटक गया हो। मुझसे उत्तर नहीं बना। करुण भाव से कुछ मुस्करा ही सका होऊँगा।

कि पत्नी बोलीं—'सोच-फ़िक्र काहे की करते हो ? थोड़ी-बहुत मजूरी तो मैं कर सकती हूँ। भगवान् ने चाहा, तो सब ठीक हो जायगा।'

मजूरी ! भगवान् !! ये शब्द गोली की तरह मेरे अन्दर घुसते चले गए। लांछना की तीखी लकीर कलेजे पर खिंच आई और मुझे याद आया : कम्युनिज़म।

पत्नी बोलीं—'जो मन हो, किए जाओ। काम से सब ठीक हो जायगा। ग़रीबी में लाखों जो गुज़र करते हैं। हम कोई विरले हैं ? तुम मन को ज्यादा त्रास क्यों देते हो ? इधर-उधर की सोचने से क्या फ़ायदा है ? मुझ पर भरोसा करो। हर हाल में तुम्हारी सेवा में हूँ। और इधर तुम अपने तन का ख़याल नहीं रखते हो, यह ठीक नहीं है। ऐसे कैसे चलेगा ? तुम मेरी और बच्चों की चिन्ता में क्यों घुलते हो ? सब अपनी क़िस्मत लाते हैं। तुम ख़ुश रहा करो, बस इतना चाहिए।'

मैंने अपने साथ ज़ोर-जब्र करके मुस्कराते हुए पूछा—'यह सब तुमने कैसे क्या किया ? पैसा तो घर में एक न था !'

बोलीं—'किया कुछ, तुम से मतलब—यह छोड़ा नहीं ? आधा गिलास तो था, सब पी जाओ। नहीं, पीना पड़ेगा।'

मैंने ज़ोर लगाकर कहा—'बस, अब पीया नहीं जाता।'

'पीया नहीं जाता ! ज़रा तो है—नहीं—तो फेंक दो।'

मैंने सब पी लिया और कृतज्ञता से इतना विभोर हो आया कि वहाँ ठहर न सका। कमरे में आकर बिना किताब खोले सामने सूनी

दीवार में देखता हुआ मैं बहुत देर तक बैठा रहा। बैठा-बैठा सोचता रहा। नहीं, सोचता नहीं रहा, बैठा ही रहा। लेकिन मैंने पा लिया कि 'लेनिनिज़्म' की किताब के लिए लाइब्रेरी में या मित्र के यहाँ जाना अब उतना ज़रूरी नहीं रह गया है। इस काम के लिए अब अवकाश आवश्यक नहीं है। जानना यहाँ क्या है? करना जो इतना सामने पड़ा है। करने से अलग होकर जो जानना है, वह न भी जाना गया, तो क्या विशेष हानि होने वाली है?

दीवार में देखते-देखते मालूम हुआ कि मुझे करना होगा। जो बनेगा, करूँगा। प्रेम को सार्थक किए बिना दूसरा चारा नहीं है।··· लेकिन फिर मार्क्स और लेनिन और स्टालिन का क्या होगा? और उनकी किताबों का? और चीन पर विजयी बने कम्युनिज़्म का? और एशिया और यूरोप में छा जाने वाले उस दर्शन और आन्दोलन का, जिनमें सत्य की घोषणा है और वज्र की टंकार? उन सबका क्या होगा?···ओह, मेरी ओर से वे हैं, हाँ, रहें। पर प्रेम को सार्थक होना है। सब-कुछ के द्वारा उसी को सार्थक होना है। मार्क्स-लेनिन-स्टालिन द्वारा, और उनके इज़्म द्वारा, और मेरे-तुम्हारे द्वारा,—हर तरह प्रेम को सार्थक होना है। अरे, सब करना-धरना क्या इसी में समाया नहीं है?

सूनी दीवार में देख-देखकर जैसे मैं जानता चला गया कि प्रेम का इन्कार नहीं हो सकेगा। कितने ही हम रूठें और गुस्सा करें और नफ़रत करें। यह टिकने वाला नहीं है। कारण, वह प्रतिक्रिया है। सारे भभकने और धधकने के बाद उसे प्रेम के छींटे पाकर शान्त हो रहना है। अन्त में उसे पहचानना-ही है कि सारा जानना और सारा करना प्रेम को देने और पाने के लिए है। उस इष्ट में सब समाया है। वहीं सार्थकता रहने वाली है, शेष निरर्थकता मिट जाने वाली है। अप्रेम अपने पर टिकने वाले को नहीं जिला सकेगा।

तीन-चार के बाद अब सात-आठ दिन हो गए हैं। मैं मित्र के यहाँ नहीं गया हूँ और अब इन पंक्तियों के साथ क्षमायाचना-पूर्वक उन्हें लिख

दे रहा हूँ कि कम्युनिज़्म को मैं नहीं जानता हूँ; पर जानने की स्पर्द्धा भी अब अपने पास नहीं रख सकता हूँ। आशा है कि वह और उसके नायक मार्क्स, लेनिन और स्टालिन प्रेम की चाकरी में ही अपने को सफल करना चाहते थे और चाहते हैं। उस राह पर हैं, तो सच हैं। उस पर नहीं हैं, तो फिर मैं उसे या उन्हें नहीं ही जान पाऊँ, तो उनकी अवज्ञा इसमें न मानिएगा।

कहानी नहीं

अभी कहानी की बात न कीजिए। मैं आज ही बाहर से आया हूँ और मेरा दिमाग़ जिस बात से भरा है वह कहानी नहीं है, इसलिए, ख़ुशनुमा भी वह नहीं है। वह सच्ची सच्चाई है, साफ़ है और बदनुमा है। मैं उससे छुट्टी पाना चाहता हूँ। मैं दिमाग़ साफ़ चाहता हूँ। बेमतलब की कोई बात मैं कहा नहीं चाहता।

मुझे किसी बहस से क्या बहस है? मैं आराम से रहना चाहता हूँ। कमाता हूँ, खाता हूँ और चैन से रह सकता हूँ। मुझे किसी के के रोग-सोग से क्या काम है? मैं बखेड़ा नहीं चाहता। ज़िन्दगी मेरी अपनी है। मौज से बिताऊँगा और कुछ आड़े नहीं आने दूँगा।

अपनी जिन्दगी अपने हाथ है। बनाओ, चाहे बिगाड़ो। मैं उसे बिगाड़ूँगा नहीं। मैं उसे बना-बनाकर ऐसा ख़ूब बनाना चाहता हूँ कि सब डाह करें। देखा तो है लोगों को! बहक में दसियों बिगड़ गए हैं। दिल देने में क्या लगता है? दिल पर काबू पाना आना चाहिए।

यहाँ जो ये सतरें लिखता हूँ, इससे यह न समझना चाहिए कि दिल मेरा कमज़ोर है। बात असल यह है कि जो वाक़या अभी देखकर आ रहा हूँ उसे कह डाल कर ख़त्म कर देना चाहता हूँ। उस पर परेशान होना मुझे मन्ज़ूर नहीं। जायदाद के किराए और बैंक के सूद की आमदनी ख़ासी-चोखी है। सो क्यों न मैं चैन से दिन काटूँ? जितने

दिन हैं उतने दिन हैं। उन्हें रोकर बिताश्रो तो, ऐश में गुजार दो तो। मैं रोने का कायल नहीं। अपनी तो ऐश से बीतेगी।

लेकिन, ये ऐसे-ऐसे वाक़यात क्यों हो जाते हैं? होते हैं तो हों, लेकिन हमारी आँख के सामने क्यों आते हैं? गोया वह हमें डराना चाहते हैं। पर मैं डरना नहीं चाहता।

जी हाँ, लिटरेचर पढ़ता हूँ। मजहब की किताबें भी देखी हैं। वक्त पर मेरा दिल भी मुलायम होता है। आईडियल की बात नहीं जानता सो नहीं। साधु-सन्त, फ़कीर-दरवेश, सबकी इज्जत करता हूँ। क्या नहीं करता? क्या नहीं जानता? नेकी का कायल हूँ। हक़परस्त हूँ। हक़ीक़त पाने की ख्वाहिश रखता हूँ। दान देता हूँ। सोसाइटी में आता-जाता हूँ।

यह सब सही है। लेकिन, उन सबके बाद यह और भी सही है कि मेरी जिन्दगी मेरी है। किसी और को उसमें उलझाना गलती है। भलाई करनी चाहिए, लेकिन खुद खटाई में न पड़ना चाहिए। जो अपने पास है वही अपना है। बाक़ी सब बेगाना है। जिसने यह पहचाना, वह रहा। जो यह भूला, वह गया।

लेकिन, सवाल यह उठता है कि बेहूदे वाक़यात दुनिया में क्यों होते हैं? उनके बाद सवाल यह है कि अगर वे होते ही हैं, तो हम-जैसे खुशवक़्तों की आँखों के सामने क्यों आते हैं?

मिसाल के लिए लीजिए कि दुनिया में गीदड़ होते हैं। इस दिल्ली में काफ़ी हैं, नई दिल्ली में और भी कसरत से हैं। रात में ये हो-हो-हो हो की आवाज़ में भूँकते हैं। मैंने अपनी कोठी में इन्तज़ाम किया है कि एक आदमी बन्दूक लेकर रात-भर बैठा जागता रहे, हो-हो-हो की आवाज आए और बन्दूक दाग़ दे। यह इन्तज़ाम पक्का है और मेरी कोठी भी ढंग की बनी है। यह गीदड़ों की आवाज़ तो होती ही होगी, होती ही है, लेकिन मुझ से वह दूर रहती है। यानी मतलब यह, कि इन्तज़ाम को बीच में डालकर मैंने अपने को उनसे दूर बना लिया है।

अब, जनाब, इसी नई दिल्ली में वायसराय साहब भी रहते हैं। मेरी तो कोई बात नहीं, लेकिन क्या यह क़यास किया जा सकता है कि किसी भी हालत में उनकी नींद हराम होने दी जाती होगी? गीदड़ भूँकते हैं तो भूकें, लेकिन, क्या उनको पता भी लग सकता है कि गीदड़ भूँक रहे हैं?

यही उसूल है। बहुत से नाखुश-गवार वाक़यात होते हैं। वे नहीं रुक सकते तो न रुकें। उन्हें होना ही है, तो हों। लेकिन, यह तो आम लोगों का फ़र्ज़ है कि वे हम खास लोगों के सामने न आने दिये जायँ। और पहले तो उन वाक़यात का ही फ़र्ज़ है कि वे अगर अपनी बदबख्त सूरत नहीं बदल सकते तो हम-जैसे नेकमाश और खुदबख्त लोगों के नमीद से तो डरें, और हमारे सामने मुँह दिखाने की जुरंत न करें।

पर ज़माना खराब है और किसी को अपने फ़र्ज़ का ख्याल नहीं है। और तो और ऊँच-नीच का भेद ही मिटा जाता है। अदना आला होने का दम भरता है और रुतबे और हैसियत का लिहाज़ नहीं रह गया है। ख़ैर, यह छोड़िए। दिन बुरे तो हैं ही। उनका गिला क्या? क़यामत नज़दीक ही है और बदबख्तों को अपनी बदबख्ती का फल चखना होगा। लेकिन, सवाल यह है कि जो हुआ वह हुआ क्यों? और अगर उसे होना ही था तो मेरी आँखों के आगे क्यों हुआ? आप नहीं जानते, यह सवाल कितना अहम है और मुझे कितना तंग कर रहा है। आँखों की राह चीज़ दिल तक चली जाती है तो परेशानी का बायस होती है। यों, कुछ होता रहे, दिल पाक चाहिए। आँखों के अन्धे में यही तो खूबी है। आँखें देखती हैं, पर जो देखती हैं वह कहीं भी अन्दर नहीं पहुँचता,—बाहर ही बाहर रहता है, न दिमाग़ को हरकत देता है, न दिल पर असर करता है। मैं कहता हूँ कि ऐसे लोग गैरत हैं। जी हाँ, गैरत हैं, उनकी आँख हुई न हुई बराबर है।

मैं उन लोगों में नहीं हूँ। आँख रखता हूँ और उनके पीछे दिलो-

दिमाग रखता हूँ। जो देखता हूँ सो समझता हूँ और उसकी तह में जाता हूँ। जी हाँ, तभी तो मैं इस कदर परेशान दीखता हूँ।

और आप कहते हैं—कहानी कहानी। मैं बाज़ आया आपकी कहानी से। कहानी न हो गई बला हो गई। कहानी खेल नहीं है। यूँ कहानी खेल से भी बदतर है। दिलचस्पगी की कहानी चाहिए तो हटिए, मुझे न सताइए।

किसी ने आपको गलत खबर दी कि वह चीज़ मुझे मयस्सर है। दिल यहाँ यूँ ही बेकस है। मसले-पर-मसले दरपेश हैं और दिल उलझन में रहता है। एक पेंच खुलता है नहीं कि दूसरा पेंच आ अड़ता है। दिमाग वाले की कैफ़ियत बस कुछ न पूछिए।—वह है कि पल-भर चैन नहीं। कुछ-न-कुछ उकदा खुलने के लिए सिर पर खड़ा रहता है। यही है कि किस्मत ने ज़रा दौलत बख़्शी है तो दिल-बहाव का कुछ सामान भी हो जाता है और तबियत ज्यूँ-त्यूँ हलकी कर लिया करता हूँ। नहीं तो दिमाग पर वह जिम्मेदारियों के बोझ हैं कि क्या अफलातून सँभालता होगा!

मैं क्या-क्या जिक्र करूँ? एक बात तो है नहीं। दसियों बातें हैं। और वह ऐसी एक-में-एक उलझी हैं कि एक को छेड़ा नहीं कि सब उभड़ पड़ती हैं। तब सम्भालिए,—किसे सम्भालिएगा? लीजिए, दिमाग में वह जूँएँ-सी रेंग-रेंगकर फिर रही हैं। और आपने किसी को पकड़ने की कोशिश की नहीं कि वह पन्जे गाड़ सिमिटकर वहीं चिपक रहती है। अब किए जाइए कोशिश।—वह वहाँ से उखड़ती ही नहीं। खैरियत यही है कि यार सकून से बैठे रहें और दिमाग के साथ छेड़-छाड़ न करें। वह दिमाग़ भी क्या अजब चीज़ है! एक बार छेड़ा कि भन्ना कर ही दम लेता है, फिर उसे चुप करना मुश्किल है।

मुद्दा यह है,—यानी, सवाल यह है, यानी—जी, मैं क्या कह रहा था? हाँ यानी—

तो ठहरिये। असलो बात याद कर लूँ।—जाने क्या कहना शुरू

किया था ? बताइए साहब—

जी हाँ, ठीक ठीक ! अब याद आया। सवाल यह है कि,—जी हाँ, यही है कि—चर्खीगढ़ का स्टेशन था। मैं सैकिण्ड क्लास में था। एक साहब और थे। वह अख़बार में मदद थे।—और ठीक वही चीज़ थी, यानी अख़बार, जिसमें मैं छपा हुआ था। प्लेटफार्म पर बहार थी। मेल-ट्रेन से जाने वाले दोस्तों को छोड़ने के लिए दोस्त लोग आए थे। कुछ दोस्त अपने दोस्तों के इस्तक़बाल के लिए आये होंगे। वे ही दोस्त, दो यहाँ चार वहाँ मिल बोल रहे थे। सब अपना-अपना टब और सभी अपने धारे में मुतमइन थे। प्लेटफार्म जीता-जागता सैरगाह था और अपनी बहार पर था। खोमचे वालों की बन रही थी और वह आवाज़ें आती थीं कि चिड़ियाघर मात था।

लेकिन, क़िस्मत की मार देखिए कि मैं अपनी सीट पर आकर रेल की दूसरी तरफ़ भी निगाह डालता हूँ। बोलिए, इसकी क्या ज़रूरत थी ? खाली बैठे मुझे यह क्या सूझा ? यह मेरा अहमक़पन था कि नहीं ? क्या झुनझुना था जो प्लेटफार्म पर न था ? इधर निगाह डालने की आख़िर ज़रूरत क्या थी ? पर गलती की, तो उसका नतीजा भी सामने आया। देखता क्या हूँ कि चार-छः बलाईगीर-से लड़के नीचे खड़े गिड़-गिड़ाकर पैसा माँग रहे हैं और दुआएँ दे रहे हैं। दो-एक उनमें लड़कियाँ भी थीं। जाने वे कहाँ की पैदावार थे ! आँखें, कान, नाक, मुँह तो इन्सान-जैसे उनके थे, पर क्या वे इन्सान के बच्चे थे ? तौबह ! तौबह ! हुलिए की कुछ न पूछिए। एक-एक के पास कपड़े वह मुलायम थे कि क्या बात ! अव्वल तो वह इतने मुख़्तसर थे कि इसमें शक है कि थे भी कि नहीं। फिर नए मज़ूले के मुताबिक उनमें हवा रोकने की खास सिफ़त थी। सुराखें उनमें काफ़ी तादाद में और काफ़ी कुशादा थे। कपड़े वे बिना रंगरेज़ की मदद के सियाह थे। लड़की एक पाँच बरस की होगी। अन्धी थी और कोढ़ से उसके दाएँ हाथ की दो उँगलियाँ दो ठूँठ-सी आधी-आधी रह गई थीं और एक

उनसे क्या सरोकार है ? क्या वास्ता है ?

लेकिन सवाल तो असल यही है कि मैं जानता हूँ, ताहम मैं परेशान हूँ। आखिर किस वजह से परेशान हूँ ? सबब क्या ? अलीगढ़ स्टेशन अब कोसों दूर गया। मैं नई दिल्ली की कोठी में हूँ। यहाँ बीबी है, बच्चे हैं, लाइब्रेरी है, दोस्त-अहबाब हैं, सिनेमा-तमाशे हैं। तब फिर मेरा दिल आराम क्यों नहीं पा रहा है ?

क्या मैं समझता हूँ कि मेरा एक पैसा हालात में कुछ भी फर्क डालेगा ? पैसा न देता तो क्या कोई ख़ास ख़राबी हो जाती ? ताहम एक पैसा मैंने निकाल फेंका, आख़िर क्यों ?

सवाल यही है कि क्यों मैं पैसा दे छूटा ? भिखमंगा मेरा कौन था ? कौन है ? किस इख़्तियार से, किस हक़ से, वह मेरे दिल के सकून में दख़लन्दाज़ होता है ?

क्योंकर उसे जुरअत है ? क्यों वह मेरे दिमाग़ का पीछा करता है ? किसने उसे यह इजाज़त दी ? क्यों उन्हें कोई जेलख़ाने में बन्द नहीं कर देता कि मेरी आँखों से दूर रहें।···लेकिन, क्या जेलख़ाने में होकर मुझसे दूर वह हो जाएँगे ? हक़ीक़तन, हो जाएँगे ?

जी हाँ,—सवाल यह है। यह सवाल बड़ा है और मुझे परेशान कर रहा है। यही मुझ में भरा है और इस वक्त मैं आपकी कहानी-वहानी कुछ नहीं जानता।

सवाल न जवाब

अकारण, अचानक, दो सवाल मानो सामना करते हुए मेरे आगे आ खड़े हो गए हैं। वे हैं :—

१—अक़ल बड़ी कि भैंस ?

२—साहित्य प्रधान कि राजनीति ?

पहला सवाल एक सज्जन अतिथि ने उपस्थित कर दिया है। वह अपने को अक्लमन्द मानते हैं और अपनी पत्नी को (अन्यथा नहीं, प्रेम में) भैंस कहते हैं। वह अवसर-अनवसर पत्नी के सामने यही प्रश्न फेंक कर पूछते हैं—'बोलो, अकल बड़ी कि भैंस ?' उनके प्रश्न की ध्वनि में ही मानों उत्तर बज जाता है कि भैंस देखने में यूँ भारी-बड़ी हो, पर अक़ल तो मुक्त में है। इसलिए असली बड़प्पन भी मुक्त में है, समझीं ?

इन्हीं अतिथि सज्जन ने अपनी स्त्री को साहित्यक बातचीत में दख़ल देते हुए देख एकाएक उन को उपलक्ष्य बना कर मेरे सामने भी सवाल उपस्थित कर दिया है। पूछ रहे हैं—बताइए साहब, अक़ल बड़ी कि भैंस ?

यह तो पहला सवाल। दूसरा सवाल इसी डाक से आए एक पत्र ने उठाया है—साहित्य प्रधान कि राजनीति ? सवाल उठा कर जरा उसे उभार दिया हो इतना ही नहीं, उसको एकदम चौपट और हल

कर डालने का जतन भी किया मालूम होता है। शब्द पर शब्द, कालम पर कालम, पृष्ठ पर पृष्ठ। इतना तर्क है कि मीलों राह रुक जाय। यह मैं नहीं कह सकता कि उस में क्या कहा गया है, क्यों कि कहा तो बहुत ही कुछ गया है, पर वह क्या है सो जानने के लिए योग्यतर योग्यता की आवश्यकता है। ऊँची कुर्सी साहित्य को दी है या राजनीति को दी है यह मेरी योग्यता को उचित रीति से पता नहीं चल पाया। जान पड़ता है कि ऊँची कुर्सी को लिखने वाले ने अपने नीचे से नहीं छोड़ा है। साहित्य से हो अथवा राजनीति से हो, वह कुर्सी अगर ऊँची है तो उन्हें अपने नीचे के लिए चाहिए। साहित्य इस काम में सहायक होता है तो साहित्य ठीक, नहीं तो राजनीति है ही।

अब पत्र भी तरह-तरह के होते हैं, कुछ विचार-पत्र होते हैं। ऊपर का पत्र अपनी सूरत विचारों, यानी विचारकों, यानी सूखे फलों, जैसी रखता है। हरात नहीं, भराव नहीं। न लहर, न मौज। सदा एक जैसा पका रूप। सुर्खी का नाम वहाँ आप को न मिलेगा। टाइप छोटा, रूखी अतीन्द्रिय। दूसरे पत्र जिन्हें समाचार-पत्र कहते हैं नई-नई धधिकताओं से भरे रहते हैं। सुर्खी की वहाँ भरमार पाइयेगा। ये हरकत देते हैं और खुद भी थिरकते हैं।

खैर, यह बात दूसरी है। ऊपर विचार-पत्र का जिक्र आया। लेकिन एक समाचार-पत्र में भी सवाल उठाया गया था कि राजनीति प्रधान है कि साहित्य? वहाँ यह तय पाया था कि देश को आज़ादी मिलनी चाहिए। और सब बात फिजूल; इन्कलाब ही एक चीज़ सच्ची है। इसलिए जिससे इन्कलाब हो वह चाहिए। बाक़ी विडंबन है। वह इन्कलाब कैसे होगा; कैसा होगा? क्या बुलबुल के नग़मों से और प्रियतम की प्रतीक्षा में वह इन्कलाब हो जायगा? इसलिए, ऐ समझदारो, प्रधान क्या गौण क्या, एक ही धुन ज़रूरी है। वह धुन है राजनीति।

विचार-पत्र ने तो बात स्पष्ट नहीं कही। कुछ इधर की भी कही

और कुछ उधर की भी कही। लेकिन बात होती है दो टूक। बात समाचार-पत्र की है कि जरा भी दुवर्फा नहीं। क्यों न हो। वह देखता सबको एक आँख से है। वह बात ऐसी साफ कहेगा जैसी चौखूँट ईंट, जहाँ बैठा दो बैठ गई। और ऐसी कसकर बैठती है कि वाह क्या बात! क्या हेर-फेर और घुमाव-फिराव? और कैसा किस का लाग-लगाव? बात वह है जो डंके की चोट पड़े। और समाचार-पत्र छाती की चोट कहता है कि देश आज़ाद होगा और साहित्य नहीं चाहिए।

सुना है, विचार-पत्र भी ऐसे हो चले हैं जो चोट का जवाब कम चोट से नहीं देंगे। जी हाँ, विचार मुलायम ही होने के लिए नहीं हैं। विचार सेर के लिए सवा सेर भी हो सकता है। तुम कहते हो राजनीति, तो हम कहते हैं साहित्य। बहस करना चाहते हो, तो आओ कर लो बहस। तुम जोर से बोलते हो, तो हमारा गला भी बैठा नहीं है। तुम बहुत हो, तो हम एक-एक ही सही। तुम्हारी संघ में जीत है, तो हमारी एकाकीपन की ही साधना है। राजनीति—छीः। बस साहित्य है जो उद्धार करेगा।

सुना है कि विचार समाचार को कूड़ा करके अपने को सच करने को उद्यत हो गया है। सुना क्यों, ऐसा कुछ देखा भी है। विचार-पत्र हैं जो दबने के नाम उभरते हैं। इस जाति के पत्र भी देखने में आए हैं जो बदाबदी में पीछे नहीं रह सकते। जौ भर रहेंगे तो आगे। वह डटे हैं अखाड़े में कि कोई आए और दो-दो हाथ कर देखें। हारने की ऐसी-तैसी। कोई है जिन को वे न हरा दें?

लेकिन छोड़ें झंझट। आएँ मूल तत्त्व पर। प्रश्न है कि—

१—अकल बड़ी कि भैंस?

२—साहित्य बड़ा कि राजनीति?

सवाल दो हैं। लेकिन दोनों का निपटारा अगर एक ओर इकट्ठा हो सके तो क्या हानि है? इसलिए हम दोनों सवालों को एक करने की छुट्टी लेते हैं। हाथ-सफाई का डर न कीजिए। असल में दोनों हैं ही एक।

कर डालने का जतन भी किया मालूम होता है। शब्द पर शब्द, कालम पर कालम, पृष्ठ पर पृष्ठ। इतना तर्क है कि मोढ़ों दाद तक जाय। यह मैं नहीं कह सकता कि उस में क्या कहा गया है, क्यों कि कहा तो बहुत ही कुछ गया है, पर वह क्या है सो जानने के लिए योग्यतर योग्यता की आवश्यकता है। ऊँची कुर्सी साहित्य को दी है या राजनीति को दी है यह मेरी योग्यता को उचित रीति से पता नहीं चल पाया। जान पड़ता है कि ऊँची कुर्सी को लिखने वाले ने अपने नीचे से नहीं छोड़ा है। साहित्य से हो अथवा राजनीति से हो, वह कुर्सी अगर ऊँची है तो उन्हें अपने नीचे के लिए चाहिए। साहित्य इस काम में सहायक होता है तो साहित्य ठीक, नहीं तो राजनीति है ही।

अब पत्र भी तरह-तरह के होते हैं, कुछ विचार-पत्र होते हैं। ऊपर का पत्र अपनी सूरत विचारों, यानी विचारकों, यानी सूखे फलों, जैसी रखता है। हराब नहीं, भाव नहीं। न लहर, न मौज। सदा एक जैसा पक्का रूप। सुर्खी का नाम वहाँ आप को न मिलेगा। टाइप छोटा, खूबी अतीन्द्रिय। दूसरे पत्र जिन्हें समाचार-पत्र कहते हैं नई-नई घलिकताओं से भरे रहते हैं। सुर्खी को वहाँ भरमार पाइयेगा। वे हरकत देते हैं और खुद भी थिरकते हैं।

खैर, यह बात दूसरी है। ऊपर विचार-पत्र का जिक्र आया। लेकिन एक समाचार-पत्र में भी सवाल उठाया गया था कि राजनीति प्रधान है कि साहित्य? वहाँ यह तय पाया था कि देश को आजादी मिलनी चाहिए। और सब बात फ़िजूल; इन्कलाब ही एक चीज सच्ची है। इसलिए जिससे इन्कलाब हो वह चाहिए। बाकी रिएक्शन है। वह इन्कलाब कैसे होगा; कैसा होगा? क्या बुलबुल के नग़मों से और प्रियतम की प्रतीक्षा में वह इन्कलाब हो जायगा? इसलिए, ऐ समझदारो, प्रधान क्या गौण क्या, एक ही धुन जरूरी है। वह धुन है राजनीति।

विचार-पत्र ने तो बात स्पष्ट नहीं कही। कुछ इधर को भी कही

और कुछ उधर की भी कही। लेकिन बात होती है दो टूक। बात समाचार-पत्र की है कि जरा भी तुवर्फा नहीं। क्यों न हो। वह देखता सबको एक आँख से है। वह बात ऐसी साफ कहेगा जैसी चौखूँट ईंट, जहाँ बैठा दो बैठ गई। और ऐसी कपकर बैठती है कि वाह क्या बात! क्या हेर-फेर और घुमाव-फिराव? और कैसा किस का लाग-लगाव? बात वह है जो डंके की चोट पड़े। और समाचार-पत्र छाती की चोट कहता है कि देश आज़ाद होगा और साहित्य नहीं चाहिए।

सुना है, विचार-पत्र भी ऐसे हो चले हैं जो चोट का जवाब कम चोट से नहीं देंगे। जी हाँ, विचार मुलायम ही होने के लिए नहीं हैं। विचार सेर के लिए सवा सेर भी हो सकता है। तुम कहते हो राजनीति, तो हम कहते हैं साहित्य। वहस करना चाहते हो, तो आओ कर लो वहस। तुम जोर से बोलते हो, तो हमारा गला भी बैठा नहीं है। तुम बहुत हो, तो हम एक-एक ही सही। तुम्हारी संघ में जीत है, तो हमारी एकाकीपन की ही साधना है। राजनीति—छीः। बस साहित्य है जो उद्धार करेगा।

सुना है कि विचार समाचार को झूठा करके अपने को सच करने को उद्यत हो गया है। सुना क्यों, ऐसा कुछ देखा भी है। विचार-पत्र हैं जो दबने के नाम उभरते हैं। इस जाति के पत्र भी देखने में आए हैं जो बदाबदी में पीछे नहीं रह सकते। जो भर रहेंगे तो आगे। वह डटे हैं अखाड़े में कि कोई आए और दो-दो हाथ कर देखे। हारने की ऐसी-तैसी। कोई है जिन को वे न हरा दें?

लेकिन छोड़ें झंझट। आएँ मूल तत्त्व पर। प्रश्न है कि—

१—अकल बड़ी कि भैंस?

२—साहित्य बड़ा कि राजनीति?

सवाल दो हैं। लेकिन दोनों का निबटारा अगर एक और इकट्ठा हो सके तो क्या हानि है? इसलिए हम दोनों सवालों को एक करने की छुट्टी लेते हैं। हाथ-सफाई का डर न कीजिए। असल में दोनों हैं ही एक।

अब चलिए। प्रश्न है कि अकल बड़ी कि भैंस? लेकिन इस प्रश्न में भी प्रश्न होता है कि क्या भैंस में अकल नहीं होती? या अकल होकर भी कोई भैंस बने तो इसमें क्या बाधा है?

पर सुनिए, यह मूठ बात है कि मेरे सिवाय किसी में साबित अक्ल हो सकती है। वह अकल ही क्या जो दूसरे को बेअकल न समझे? अकल है कुल ढेर। साबित एक मुझ में है, बाक़ी में बाक़ी दुनिया है। अक़्ल का यही लक्षण है। वह जिस में होती है बस खतम होती है। बाक़ी सब में तो सिर्फ टूट-फूट चूरा-चारा ही होता है। हरेक के लिए अपनी-अपनी अक़्ल ही सब-कुछ है। दूसरे की अकल हर अकल वाले के लिए, बिन खटके और बिन अपवाद, बेअक़ली और बद-अकली होती है। इसीलिए पागल को हक है कि वह अपने सिवाय सब दुनिया को पागल समझे।

अक़्ल का जब यह अहवाल है तो 'अकल बड़ी कि भैंस?' इस प्रश्न का वैज्ञानिक असल स्वरूप यह हो जाता है कि 'मैं बड़ा कि तुम?' जरूरी तौर पर 'भैंस' के माने हैं 'तुम' और अक्ल-वान् से आशय है 'मैं'। सच पूछो तो सच्चा सवाल यही है। उसी सच सवाल का एक बना हुआ (मूठा) चेहरा है यह सवाल कि 'साहित्य बड़ा कि राजनीति?' पर हम हैं कि सच्चाई के आदिम हैं और झूठ से हमें सरोकार नहीं।

प्रश्न अक़्ल और भैंस को अथवा साहित्य और राजनीति को आमने-सामने बिठा कर फिर उनके छुट-बड़पन को नापने से सम्बन्ध नहीं रखता। प्रश्न मूलतः इस अकाट्य सच्चाई से सम्बन्ध रखता है कि मैं मैं हूँ, इसलिए तुम कोई चीज नहीं हो। तुम हो छोटे, मुझे कहो बड़ा। कोई बहस नहीं कि मैं खुद में क्या हूँ। जो भी हूँ, वही होकर मैं तुम से बड़ा हूँ। मैं साहित्यक हूँ, तुम राजनैतिक हो! तो साफ-साफ मैं तुम से बड़ा हो गया, क्योंकि साहित्य राजनीति से बड़ा होता है। और अगर तुम कहो कि तुम साहित्यिक हो और मैं राजनीतिक हूँ, तब तो तुम्हें स्वयं

लज्जित होना चाहिए, क्योंकि तुम साहित्य-जैसी व्यर्थता के चक्कर में पड़े हो, जब कि देशोद्धार का इतना काम सामने पड़ा है। सुनो, मैं राजनीतिक हूँ, इसलिए मेरी बात तुम को सुननी होगी, और माननी होगी। राजनीतिक महान् होता है।

पर छोड़िए झगड़ा! राजनीति और साहित्य, इन में दूध किसी में से नहीं निकलेगा। आइये, अपनी भैंस की बात कीजिए! कृतज्ञ हूजिए कि भैंस अकल नहीं देती जो कि कोई किसी से लेना पसन्द नहीं करता, लेकिन दूध देती है जो सब को सब दिन चाहिए।

माता गौ को कहा जाता है। और बुद्धि के मुकाबिले में बुद्धिहीनता को रूपक देने के लिए हम लोग भैंस का नाम लेते हैं। फिर भी भैंस है कि चुपचाप अपना दूध हमें दे देगी। हमारे अपमान के उत्तर में गौ से भी गाढ़ा दूध वह हमें देगी। इसलिए राजनीति छोड़ो, साहित्य छोड़ो, भैंस की कृतज्ञता को बस याद रख लो।

लेकिन कहा जायगा कि साहब, भैंस के उपकारों को कौन भूलता है? पर आप अर्थ का अनर्थ न कीजिए। मूल जिज्ञासा यह है कि अक़्ल बड़ी कि भैंस?

बेशक मूल जिज्ञासा से मैं दूर हट गया। क्षमा करो भाई। और सुनो, जिज्ञासा के लिए यह लो फीता, इस में बड़प्पन के नापने के बाक़ायदा निशान लगे हैं। हाथ कंगन को आरसी क्या? लो, दोनों को नाप तो डालो। हाथ के हाथ पता चलता है कि अक़्ल में और भैंस में क्या समता है और कौन बड़नी है।

मौलिक जिज्ञासु बोले कि आप तो मज़ाक करते हैं। भैंस और अकल कहीं एक जगह नप सकती हैं?

मैंने कहा कि अगर एक जगह नहीं नप सकतीं तो भाई, बताओ, कैसे काम चलेगा? फैसला करना है तो नापना तो पड़ेगा ही।

उन्होंने फिर कहा कि आप तो हँसी करते हैं।

मैंने कहा कि अगर वे दोनों आपस में नप नहीं सकतीं तो मुझ से

यह मानने को किस आधार पर कहते हो कि भैंस से अकल बड़ी होती है। मेरी अक़्ल में तो अपनी अक़्ल का कोई बड़प्पन जम कर नहीं देता। तब बताओ, स्वाह-म-स्वाह भैंस को मैं छोटी कैसे कह दूँ ? कितना डील, कितना डौल; ऐसा काला रंग कि अंधेरे में भी चमके; इतने घन-फीट की ठोस मांसल सत्तात्मक सत्ता; ऐसे पैने सींग कि क्या बुद्धि पैनी होगी। इस सब को मुझ से छोटा कहने को कहते हो ? तब फिर इस बड़प्पन के फीते से दोनों का नाप नापकर अपना जाँच-फल मुझे बताने से सकुचाते क्यों हो ? मैं तो तुम जानो विज्ञानवादी हूँ। और बिना परखे अक़्ल तो क्या ईश्वर को भी मानने वाला नहीं हूँ। और तुम्हारी सकुचाहट का असली भेद भी मैं जानता हूँ। वह यह कि तुम खुद जानते हो कि अक़्ल तो जब कोई चीज़ ही नहीं है (बोलो भला, वह कहीं भी, कैसी भी, कुछ भी है ?) तब भैंस हेटी-से-हेटी कई मन पक्की तोल लो। अक़्ल होने से बच्चा भी इनकार कर सकता है। पर कोई है जो भैंस को इनकार करे ? करके देखे तो—

उन्होंने कहा कि अजी, टेढ़ी बात छोड़िए। सच कहिए कि क्या आप भैंस को अक़्ल से बड़ी कह सकते हैं ?

मैंने कहा कि सच-सच सुनना चाहते हैं, तो सुनिए। अपनी अक़्ल से तो मरते दम तक भैंस क्या हाथी को और किसी को भी बड़ा नहीं कह सकता। इसलिए नहीं कि वह अक़्ल है, बल्कि इसलिए कि वह मेरी है। और मेरी छोड़ आप की अक़्ल की बात कीजिए, तो उससे तो चींटी भी बड़ी है, साहब, चींटी। उस की साफ वजह यह है कि वह आप की है।

मौलिक जिज्ञासु ने कहा कि ठट्ठे की बात नहीं है। एकदम तत्त्व की बात है।

मैंने कहा कि ठट्ठे की बात क़तई नहीं है। कतअन तत्त्व की बात मैं कह रहा था।

बोले कि—अच्छी बात है, भैंस को छोड़िए। अब यह बताइए कि

आज के दिन साहित्य प्रधान होना चाहिए कि राजनीति ?

मैंने कहा कि एक बात मैं जानता हूँ। वह यह कि मेरे सिवाय प्रधान कोई दूसरा न होना चाहिए। कुत्तों में मेरा कुत्ता प्रधान, नीतियों में मेरी नीति प्रधान, दुनिया में मेरा नाम प्रधान। मेरी बुद्धि मुझे यही कहती है। इस उत्तर में क्या कोई उत्तर बाकी रह गया ?

"जी नहीं", उन्होंने कहा— "आज के दिन जब कि जीवन जटिल है, भारत में स्वराज्य नहीं है, समस्याओं पर समस्याएँ हैं, भूखे भूख और विलासी ऐश में बिलख रहे हैं, तब—"

"जी हाँ तब—प्रधान मैं—"

"आप की बात नहीं—"

"ओह, मेरी बात नहीं ! उस हालत में मेरा उस बात से वास्ता ? साहित्य बड़ा ठहरे कि राजनीति, हम को' तो हम ही रहना है। किसी को गिरा कर कोई उस की छाती पर चढ़ जाय, तो मेरा उस में क्या आता-जाता है ? मरने वाला न साहित्य है, न राजनीति। जो हारेगा वह व्यायामपूर्वक काफी मजबूत अपने को बना कर प्रतिपक्षी को फिर चुनौती दे सकेगा। लड़ाई होगी तो एक को मज़बूत और एक को कमज़ोर होना ही पड़ेगा। मसल है—एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते। सो यहाँ यह बात है कि जंगल एक है और शेर दोनों हैं। दोनों को अमरता का शाप भी है। तब यही होनहार है कि या तो पटका-पटकी होती रहे, नहीं तो दोनों मिलकर बैठें, मिलकर—"

जिज्ञासु बोले कि मेल की बात कैसे हो सकती है ? क्या दोनों में विरोध नहीं है ? साहित्य नम्रता की बात कहता है, राजनीति दर्पणपन चाहती है। साहित्य कहता है कि अपने को अज्ञ मानो, राजनीति कहती है कि सर्वज्ञ की भाँति व्यवहार करो। राजनीति कहती है कि कर्म के घमासान में घुस कर छत्र-दण्ड झपट लो। साहित्य सुझाता है कि एकान्त में अपने को ढूँढ़ो। यह विरोध क्या शाश्वत नहीं है ?

मैंने कहा कि एकदम शाश्वत है। इसलिए खूब लड़ना चाहिए।

वह शेर क्या जो एक जंगल में दो रह जायँ ? ऐसी तो भेड़ें होती हैं। इसलिए खम ठोंक-कर कोई दो लड़ें, इसी में उनके छुट-बड़पन का फैसला होगा।

ऐसे इधर-उधर की बातचीत करके मूल जिज्ञासा के विषय में और भी सप्रश्न होकर वह मौलिक जिज्ञासु मेरे घट (घर) में से चले गए। मैंने सोचा कि राजनीति और साहित्य तो गहन विषय हैं, लेकिन भैंस—

पर तनिक सोच में दिन-धौले बिना बुद्धि की यह भैंस बहस बन आई। और तब वह बहस के इतने किनारे आ उतरी कि मुझे मालूम हुआ कि बहस और भैंस में मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों सगी-सहेली हैं। बहस करना ही भैंस होना है। जैसे एकाएक ही ज्ञानोद्योत हो गया। आँखें ऐसी खुलीं कि वाह ! मानो भैंस शब्द की मूलात्मा ही मेरे हाथ आ गई हो। भैंस का बीज है बहस। ज़रूर यही उसकी व्युत्पत्ति है। भाषाशास्त्र और शब्द-विज्ञान की दृष्टि से इसमें किसी प्रकार की शंका को स्थान नहीं हो सकता। जब तक मैं बहस नहीं करता मैं भैंस भी नहीं हो सकता। भैंस नहीं हूँ, इसी के अर्थ हैं कि मैं अक़लमन्द हूँ। बहस कर पड़ता हूँ तो स्पष्ट है कि भैंस की भाँति मेरी अक़ल चरने चली गई है।

इसलिए साहित्य बड़ा कि राजनीति, इसका जवाब देने के लिए अगर बहस में पड़ना पड़ता है तो इस से वह हर शख्स बचेगा जो भैंस कहलाना नहीं चाहता। और मेरी बात तो आप जानते ही हैं। मैं ठेठ वह व्यक्ति हूँ जिसके बाँटे कुल देढ़ अकल में से साबित एक अकल आई है और शेष खंडित आधी में बाकी सब दुनिया को चुका दिया गया है। इसलिए मैं आप सब लोगों को प्रणाम करता हूँ और मूर्ख के अस्त्र मौन की भिक्षा चाहता हूँ। न सवाल लेता हूँ, न जवाब देता हूँ।

दही और समाज

गर्मियों के दिनों में दूध अच्छा नहीं लगता है, दही अच्छा लगता है। साथ ही खाना अच्छा नहीं लगता, पीना अच्छा लगता है। इससे सवेरे-शाम जो दूध आता है सो जमा दिया जाता है। फिर उस जमे पदार्थ को पीने लायक बनाने के लिए उसमें कितना ही पानी डालना जरूरी है।

एक रोज श्रीमती ने दूध-वाले को ऐसा सुनाया कि क्या पूछिये! कहा कि दूध लाते हो या तमाशा करते हो? दूध में उंगली डालकर, फर्श पर बूँद टपकाकर दिखाया कि यह दूध है, या पानी है?

दूध वाले ने नम्रता से कहा कि अजी दूध तो खालिस गाय का है।

श्रीमती ने सूचना दे दी कि और दो-चार रोज देखते हैं। दूध ऐसा ही आया तो दूसरे से लेना शुरू कर देंगे।

मैंने भी देखा कि दूध एकदम तरल है। बहाओ तो बह जायगा, ढुलकाओ तो ढुलक जायगा। पर शाम के इसी दूध को देखा तो सवेरे चकत्ता जमा हुआ है। हँडिया को हिलाते हैं, डुलाते है, पर उस पत्थर से जमे दही में कँप-कपी भी नहीं होती।

अब लोग हैं जो कहते हैं कि अजी अकेले भला क्या किया जा सकता है। चना अकेला भाड़ का क्या बिगाड़ेगा? एक के बदलने से क्या होता है। बदलनी तो दुनिया है। समाज नहीं बदले, और

परिस्थति नहीं बदली, और मूल्य नहीं बदले तो किसी एक अकेले के बदलने की कोशिश करने से क्या होता जाता है। अजी साहब, समाज-व्यवस्था का ढाँचा ही बदलना होगा। व्यक्ति जो अपने को बदलता और इसलिए अपने बदले जाने में जो सन्तोष मानता है, भ्रम में है। यह तो कूप-मंडूकता है। आपने खद्दर पहन लिया, चरखा चला लिया, और समझ बैठे कि शोषण आपने दूर कर दिया। बस पूँजीवादी *जीवन-नीति का यही ढकोसला और यही छल तो है। धर्म कर लिया* और मन को बहला लिया। लेकिन साहब, व्यक्ति इस तरह अपने को बदलता और चैन मानता है तो इससे यही बड़ा नुकसान होता है कि उस व्यक्ति में जो सामाजिक असन्तोष होना चाहिए वह नहीं रहता। *प्रगति की सम्भावना उसमें से नष्ट हो जाती है। वह जड़-भगत बन जाता* है। पूँजीवादी विधान को अनजाने वह मजबूत करता है। यह जो आपका अपरिग्रह और अहिंसा है न, इसमें यही खतरा है। आदमी अपने सुधार के चक्कर में पड़ जाता है और समाज को अनसुधरा रहने देता है। धर्म की व्यर्थता यही तो है। बताइये भला कि व्यक्ति की भी कोई सत्ता है। व्यक्ति परिस्थितियों की उपज है। आप स्थिति बाहर निकल ही नहीं सकते। धर्म की बात और आत्म-सुधार की बात तो बचाव जैसी है। सामने कर्तव्य की चुनौती है और आप धर्म में मुँह गाड़ते हैं। चाहिए तो यह कि क्रान्ति की तैयारी करें, और आप भलाई सिखाने की सीख देते हैं। बुरे विधान के नीचे भला होना सम्भव ही नहीं है। भले बनने की कोशिश पहले ही से बेकार है। वह बालक के अँगूठा चूसने जैसी है। अपने अँगूठे में रस लेते रहिए और बाहरी जगत् के लिए मूढ़ बने रहिए। जी नहीं, व्यक्ति नहीं बदल सकता। समाज बदले तभी व्यक्ति के बदलने की सम्भावना है।

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था से बेहद क्रुद्ध एक साथी मिले। साथी थे, इधर आठ-एक बरस से साथ छूट गया था। क्रान्ति की लगन उनमें पहले से कम नहीं पाई। पूँजीवादी विधान के प्रति क्रोध कुछ अधिक

ही उत्कृष्ट होगा। पहले गाँव-गाँव डोलकर किसानों का काम करते थे। लेकिन शायद उन्होंने पा लिया कि ऐसे कुछ न होगा। असल चीज पूँजीवाद है। उस पूँजीवाद से खुद उसके शस्त्रों से ही लड़ा जा सकता है। पूँजीवाद की जगह समाजवाद चाहिए। समाजवाद के प्रचार के लिए पूँजी चाहिए। इसलिए समाजवादियों को पहले पूँजी बनानी होगी, तभी पूँजी और पूँजीवादियों को चुनौती दी जा सकेगी। साथी समझदार थे, और समझकर उन्होंने यह सत्य पाया और गाँठ बाँध ली। अब देख रहा हूँ कि एक इंश्योरेन्स कम्पनी के प्रधान ऑर्गेनाइज़र हैं। मोटर उनके पास है, दूसरे दर्जे में सफर करते हैं। उनसे मुझे मालूम हुआ कि क्रान्ति होगी, और जल्दी होगी। गांधीजी का चर्खा उसे नहीं रोक सकेगा उन्हीं से यह मालूम हुआ कि समाज बदले तभी व्यक्ति बदल सकेगा, और कि उन दिनों गाँव-गाँव भटककर उन्होंने अपनी जिन्दगी बरबाद की थी। अब देखिये कि कोई चार दर्जन अपने कार्य-कर्त्ताओं को मैंने काम से लगा दिया है। नाम कम्पनी का, काम समाजवाद का। साथी अब खुद किसी लायक अपने को पा रहे हैं। पहले क्या था? पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली ही हम थे। अब पूँजीपतियों के घर में दाखिल होकर अन्दर से सेंध लगा सकते हैं। पाँच सौ माहवार मिलते हैं, मोटर मकान का भत्ता अलग। अब पूँजीपति नहीं कह सकता कि हम कुछ नहीं है।

बोले, आप कहेंगे कि मैं समाजवादी नहीं हूँ। तो मैं कहूँगा कि आप समाजवाद जानते ही नहीं। भाई, दुनिया आदर्श नहीं है। चलना चलने के ढंग से होता है। समाजवाद में खूबी है तो यही कि वह व्यावहारिक आदर्श है। पहले भी तो मैं ही था। गांधी के नाम पर नंगे पाँव गाँव-गाँव डोलता फिरता था। पर उससे क्या हुआ? मैंने क्या पाया? दुनिया ने क्या पाया? अब देखिए कि मैं कुछ हूँ, और दो चार का भला कर सकता हूँ। समाजवाद यही कहता है कि निजी आदर्श के फेर में न पड़ो। तुम आखिर क्या कर लोगे? रेल है, डाक

है, तार है, पैसा है। इन सबके ऊपर सरकार है, तब-तक और भी सब-कुछ उसके मुताबिक है। काम असल है उसको बदलना। उसके लिए फिर ताक़त चाहिए। इसलिए हमारा प्रोग्राम पहला हो सकता है Capture of power। फिर जो काम बरसों में न हो, वह घण्टों में हो जायगा।

मेरे साथी-मित्र बढ़ गये हैं। भगवान उनका भला करे। लेकिन शाम का पानी-सा दूध यह जो सवेरे अचक पत्थर-सा हो गया है, सो कैसे?

पर आदमी की बात के बीच ये दूध-दही प्रचित विषय हैं। आये दूध, कृपा होगी, और पी लिया जायगा। गर्मी के दिन हैं तो दही मथ कर लस्सी ले आई जाय। तब उसके साथ न्याय किया जायगा। पर चर्चा वास्तविक यह है कि आदमी अकेला क्या कर लेगा? हरिश्चन्द्र ने सत्यवादी होकर क्या कर लिया? युधिष्ठिर धर्मराज होकर हिन्दुस्तान को कौन तार गये? और हिमालय की कन्दराओं में जो ऋषि महात्मा सुने जाते हैं उन्होंने हमारा कौन दुख हर लिया है? बाँस अपनी जगह लम्बे-से-लम्बा हो जाय, तो क्या इसी कारण उसके आगे सिर झुकाएँ, और अपनी बुद्धि को गवाँ दें?

बात पक्की है। समुद्र में बूँद क्या बनाए? शर्बत की बूँद डालिए, समुद्र क्या मीठा हो जायगा? वह बूँद सोचा करे कि मेरी मिठास समुद को मीठा कर रही है। पर वह बिचारी नहीं जानती कि समुद्र के खारेपन के बीच उसकी मिठास निरी व्यंग है। वह अपने को मीठी जानती है सो अपने को नहीं जानती।

बात कुछ ऐसे फौलादी तर्क की है कि जवाब नहीं बन सकता। *इसलिए अगली शाम जब दूध आया और गर्म करने के बाद जमाया* जाने लगा तो मैंने श्रीमतीजी को पकड़कर कहा,—'सुनो जी, बताओ, *तुम किस जादू से पानी-दूध को चकत्ता दही कर देती हो।'*

श्रीमती ने कहा मजाक का वक्त तो देखा करो। छोड़ो, मुझे काम

जाने दो।

मैंने स्त्री की मति पर चाहा कि माथा ठोक लूँ। यहाँ गहन जिज्ञासा है और यह ठठोली समझती हैं। इन्हें कब पता चलेगा कि इनसे बाहर भी कुछ दिलचस्पी के लिए हो सकता है। बेशक किन्हीं (विशेष कर हमारी) श्रीमती का माहात्म्य कम नहीं है। इनके कारण मैं पति और पिता बनने के अनन्तर निकम्मा तक बना हूँ। लेकिन...ख़ैर, उत्तर में मैंने कहा, 'ठठोली न जानो, सच बताओ कि तुम यह करती क्या हो?'

इस बार इन्होंने हँसकर कहा—'अच्छा, अच्छा, बस मुझे यह दही जमा लेने दो।'

मुझे इनके हँसने पर बड़ा गुस्सा आया। क्या मैं कोरा पति ही हूँ, तात्त्विक बिलकुल नहीं हूँ? मैंने कहा—'सुनो जी, तुम्हारी नहीं, दही की बात है। वह कैसे जमता है?'

बोली—"देख लो, जमा तो रही हूँ।"

मैंने देखा। देखा कि वह अन्दर से चिपिया में रखा जामन लाईं। जामन यानी दही की फुटक। दूध था ढाई सेर। दही की मात्रा इतनी कि एक फूँक मारो तो हज़रत हवा में हवा हो रहें!

श्रीमती जी उस दही को उँगलियों पर लेना ही चाहती थीं कि मैंने झपटकर उस चिपिया को छीन लिया। कहा—'ठहरो जी, ग़ज़ब किये डाल रही हो!'

श्रीमती जी ने प्रसन्नता दाबकर कहा—'यह तुम्हें कभी क्या हो जाता है!'

मैंने मन में कहा कि हाय, दही से या दुनिया की किसी चीज़ से कोई श्रीमती अपने को बढ़कर मानना क्या कभी नहीं छोड़ सकेगी? सचमुच, क्या कभी भी नहीं?

बोला—'देखो, आज एक पुराने साथी मिले थे। समाजवाद का तुमने नाम सुना होगा! पर तुमने क्या सुना होगा, वह गहरी चीज़ है। उन मित्र ने उसकी थाह ली है। वही आज मिले। इसी से तो

की भाँति पत्ते से यह निकला। थाले में रखे पत्ते पर से बहती वह धार फर्श पर टपटप टपकने लगी। मुझे बेहद करुणा आई। मैंने उससे क्षमा माँगी। कहा कि भाई, मेरा तुम कसूर न मानना! पत्नी नाम की स्वामिनी जो मेरे ऊपर हैं, वही अपने को बचाकर तुझे मेरी हिरासत में दे गई हैं। लेकिन तू निर्दोष है यह मैंने अच्छी तरह देख लिया है। ले भाई, मुझे क्षमा कर और अब तू जा।

यह कहकर आँसू की धार में टपटप टपकते उस दही के पत्ते को आहिस्ता से मैंने बहती मोरी में छोड़ दिया। वह पत्ता कृतज्ञता में भीगा मोरी के पानी की लहरों पर नाचता हुआ चला गया।

मैं अपने से खुश था। निर्दोष को बन्धन-मुक्त करने की खुशी कैसी होती होगी, इसका मैं तब अनुभव कर रहा था। कि हाय, तभी आ पहुँची सिर पर श्रीमती! बोलीं, 'अब तक क्या हो रहा है? तब से दूध नहीं जमा?'

मैंने कहा, 'जादूगरनी तुम हो!'

बोलीं, "क्या हो रहा है तुम्हें आज?"

मैंने कहा, 'छोड़ो, तुम नहीं समझोगी। आज शक्ति को मैंने पहचाना है। लोग जानते होंगे कि दही दूध को जमाता है। पर वे तुम लोगों को जानते नहीं। राज्य शक्ति से चलते हैं, क्रान्ति शक्ति से होती है, और दूध शक्ति से जमता है। तुम जादूगरनी हो। लो, यह दूध जमाओ।'

मेरे आकस्मिक बोधोदय और मोहावेश को किंचित् मन्द बनाकर वह बोलीं, "दही का पत्ता कहाँ है?"

मैंने कहा, 'क्यों मुझे छलती हो, रानी? यह सब तुम्हारी ही माया है। दही को तो मैंने छुट्टी दे दी है।'

बोलीं, "तुम्हारा सिर! सच बोलो, दही कहाँ है।"

लेकिन मैं तो शास्त्रीय रहस्य को पा गया था। इससे मग्न भाव से श्रीमती की क्रीड़ा देखता रह गया।

जितनी वह झल्लाईं, उतना ही उनके शक्ति के जादू में मेरा विश्वास अटल होता गया।

बोलीं, "अब इस वक्त कहाँ से मैं जामन लाकर पटकूँ। मेरे करम फूटे हैं। बताते क्यों नहीं कि इस वक्त कहाँ से जामन आयगा! दही क्या अपने सिर से जमा दूँ!"

किन्तु उनके समस्त रोष को मग्न भाव से मैंने ग्रहण किया। कहा, "जो कहो आधी रात करने को मैं तैयार हूँ। जामन के नाम पर जो मँगाती हो वह यह लाया। पर जामन बिचारा कुछ नहीं है। सब तुम्हीं हो, क्योंकि शक्ति हो। शक्ति ही सब है।"

श्रीमती ने कहा, "इतने बड़े हो गए फिर भी तुम्हें..."

पर हाय, श्रीमती जादूगरनी हों कि देवी हों, स्त्री तो हैं ही। इससे वह क्या जाने। अपने-ही-अपने को वह तो देख सकती हैं। पर मैं तो एक महा रहस्य की बात जान गया हूँ। वह यह कि दही की एक फिटक सेरों दूध को नहीं जमाती। यह तो श्रीमतियों की छलना है कि लोग ऐसा समझते हैं। लोग तो ऐसा भी समझ लिया करते हैं कि अमुक एक आदमी ने इतिहास बदल दिया, या अमुक ने एक नया युग ला दिया। पर वह तो सब कहने की बात है। न दही दूध जमाता है न व्यक्ति समाज बनाता है।

समाज का शास्त्र है तो समाज की असलियत समाज में नहीं शास्त्र में है। उस शास्त्र से सिद्ध है कि घरवाली घर के दूध को अपने हाथ के ज़ोर से जमाती होगी। भावार्थ, पहले सब कहीं ज़ोर को हाथ में लेना होगा। चाहे बात घर की हो, सभा की हो, समाज सरकार की हो। सत्ता लिए बिना कुछ न होगा। लेना, यानी छीन लेना। वह ज़बरदस्त काम छल के बल, या बल के छल से ही हो सकेगा। हमारी श्रीमती में ज़रूर छल है, यही तो बल है। इसी से तो उनके आगे दूध बिचारा दही कैसे न हो रहेगा!

सेंक मिल जाता है। पर इससे अभिमान की गिल्टी को और खुराक ही मिलती है। जकड़ रेशमी डोरी की हो तो रेशम के स्पर्श के मुलायम के कारण क्या वह कम जकड़ होगी?

पर उस जादू की जकड़ से बचने का एक सीधा-सा उपाय है। वह यह कि बाज़ार जाओ तो मन ख़ाली न हो। मन ख़ाली हो, तब बाज़ार न जाओ। कहते हैं लू में जाना हो तो पानी पीकर जाना चाहिए। पानी भीतर हो, लू का लूपन व्यर्थ हो जाता है। मन लक्ष्य में भरा हो तो बाज़ार भी फैला का-फैला ही रह जायगा। तब वह घाव बिलकुल नहीं दे सकेगा, बल्कि कुछ आनन्द ही देगा। तब बाज़ार तुम से कृतार्थ होगा, क्योंकि तुम कुछ-न-कुछ सच्चा लाभ उसे दोगे। बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।

यहाँ एक अन्तर चीन्ह लेना बहुत ज़रूरी है। मन ख़ाली नहीं रहना चाहिए, इसका मतलब यह नहीं है कि वह मन बन्द रहना चाहिए। जो बन्द हो जायगा, वह शून्य हो जायगा। शून्य होने का अधिकार बस परमात्मा का है जो सनातन भाव से सम्पूर्ण है। शेष सब अपूर्ण है। इससे मन बन्द नहीं रह सकता। सब इच्छाओं का निरोध कर लोगे, यह झूठ है। और अगर 'इच्छानिरोधस्तपः' का ऐसा ही नकारात्मक अर्थ हो तो वह तप झूठ है। वैसे तप की राह रेगिस्तान *को जाती होगी, मोक्ष की राह वह नहीं है।* डाट देकर मन को बन्द कर रखना जड़ता है। लोभ का यह जीतना नहीं है कि जहाँ लोभ होता है, यानी मन में, वहाँ नकार हो। यह तो लोभ की ही जीत है और आदमी की हार। आँख अपनी फोड़ डाली, तब लोभनीय के दर्शन से बचे तो क्या हुआ? ऐसे क्या लोभ मिट जायगा? और कौन कहता है कि आँख फूटने पर रूप दीखना बन्द हो जायगा? क्या आँख बन्द करके ही हम सपने नहीं लेते हैं? और वे सपने क्या चैन-भंग नहीं *करते हैं? इससे मन को बन्द कर डालने की कोशिश तो अच्छी नहीं।* वह अकारथ है। यह तो हठवाला योग है। शायद हठ-ही-हठ है, योग

नहीं है। इसमें मन कृश भले हो जाय और पीला और अशक्त जैसे विद्वान् का ज्ञान। वह मुक्त ऐसे नहीं होता। इससे वह व्यापक की जगह संकीर्ण और विराट् की जगह क्षुद्र होता है। इसलिए उसका रोम-रोम मूँदकर बन्द तो मन को करना नहीं चाहिए। वह मन पूर्ण कब है? हम में पूर्णता होती तो परमात्मा से अभिन्न हम महाशून्य ही न होते? अपूर्ण हैं, इसी से हम हैं। सच्चा ज्ञान सदा इसी अपूर्णता के बोध को हम में गहरा करता है। सच्चा कर्म सदा इस अपूर्णता की स्वीकृति के साथ होता है। अतः उपाय कोई वही हो सकता है जो बलात् मन को रोकने को न कहे, जो मन को भी इसलिए सुने क्योंकि वह अप्रयोजनीय रूप में हमें नहीं प्राप्त हुआ है। हाँ, मनमानेपन की छूट मन को न हो, क्योंकि वह अखिल का अंग है, खुद कुछ नहीं है।

पड़ोस में एक महानुभाव रहते हैं जिनको लोग भगत जी कहते हैं। चूरन बेचते हैं। यह काम करते जाने उन्हें कितने बरस हो गए हैं। लेकिन किसी एक भी दिन चूरन से उन्होंने छः आने पैसे से ज्यादे नहीं कमाये। चूरन उनका आसपास सरनाम है। और खुद खूब लोकप्रिय हैं। कहीं व्यवसाय का गुर पकड़ लेते और उस पर चलते तो आज खुशहाल क्या मालामाल होते! क्या कुछ उनके पास न होता! इधर दस वर्षों से मैं देख रहा हूँ, उनका चूरन हाथों-हाथ जाता है। पर वह न उसे थोक देते हैं, न व्यापारियों को बेचते हैं। पेशगी आर्डर कोई नहीं लेते। बँधे वक्त पर अपनी चूरन की पेटी लेकर घर से बाहर हुए नहीं कि देखते-देखते छः आने की कमाई उनको हो जाती है। लोग उनका चूरन लेने को उत्सुक जो रहते हैं। चूरन से भी अधिक शायद वह भगतजी के प्रति अपनी सद्भावना का देय देने को उत्सुक रहते हैं। पर छः आने पूरे हुए नहीं कि भगतजी बाकी चूरन बालकों को मुफ्त बाँट देते हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ है कि कोई उन्हें पच्चीसवाँ पैसा भी दे सके! कभी चूरन में लापरवाही नहीं हुई है, और कभी रोग होता भी मैंने उन्हें नहीं देखा है।

सेंक मिल जाता है। पर इससे अभिमान की गिल्टी को और खुराक ही मिलती है। जकड़ रेशमी डोरी की हो तो रेशम के स्पर्श के मुलायम के कारण क्या वह कम जकड़ होगी?

पर उस जादू की जकड़ से बचने का एक सीधा-सा उपाय है। वह यह कि बाज़ार जाओ तो मन ख़ाली न हो। मन ख़ाली हो, तब बाज़ार न जाओ। कहते हैं लू में जाना हो तो पानी पीकर जाना चाहिए। पानी भीतर हो, लू का लूपन व्यर्थ हो जाता है। मन लक्ष्य में भरा हो तो बाज़ार भी फैला का-फैला ही रह जायगा। तब वह घाव बिलकुल नहीं दे सकेगा, बल्कि कुछ आनन्द ही देगा। तब बाज़ार तुम से कृतार्थ होगा, क्योंकि तुम कुछ-न-कुछ सच्चा लाभ उसे दोगे। बाज़ार की असली कृतार्थता है आवश्यकता के समय काम आना।

यहाँ एक अन्तर चीन्ह लेना बहुत ज़रूरी है। मन ख़ाली नहीं रहना चाहिए, इसका मतलब यह नहीं है कि वह मन बन्द रहना चाहिए। जो बन्द हो जायगा, वह शून्य हो जायगा। शून्य होने का अधिकार बस परमात्मा का है जो सनातन भाव से सम्पूर्ण है। शेष सब अपूर्ण है। इससे मन बन्द नहीं रह सकता। सब इच्छाओं का निरोध कर लोगे, यह झूठ है। और अगर 'इच्छानिरोधस्तपः' का ऐसा ही नकारात्मक अर्थ हो तो वह तप झूठ है। वैसे तप की राह रेगिस्तान को जाती होगी, मोक्ष की राह वह नहीं है। डाट देकर मन को बन्द कर रखना जड़ता है। लोभ का यह जीतना नहीं है कि जहाँ लोभ होता है, यानी मन में, वहाँ नकार हो। यह तो लोभ की ही जीत है और आदमी की हार। आँख अपनी फोड़ डाली, तब लोभनीय के दर्शन से बचे तो क्या हुआ? ऐसे क्या लोभ मिट जायगा? और कौन कहता है कि आँख फूटने पर रूप दीखना बन्द हो जायगा? क्या आँख बन्द करके ही हम सपने नहीं लेते हैं? और वे सपने क्या चैन-भंग नहीं करते हैं? इससे मन को बन्द कर डालने की कोशिश तो अच्छी नहीं। वह अकारथ है। यह तो हठवाला योग है। शायद हठ-ही-हठ है, योग

नहीं है। इससे मन कृश भले हो जाय और पीला और अशक्त जैसे विद्वान् का ज्ञान। वह मुक्त ऐसे नहीं होता। इससे वह व्यापक की जगह संकीर्ण और विराट् की जगह क्षुद्र होता है। इसलिए उसका रोम-रोम मूँदकर बन्द तो मन को करना नहीं चाहिए। वह मन पूर्ण कब है? हम में पूर्णता होती तो परमात्मा से अभिन्न हम महाशून्य ही न होते? अपूर्ण हैं, इसी से हम हैं। सच्चा ज्ञान सदा इसी अपूर्णता के बोध को हम में गहरा करता है। सच्चा कर्म सदा इस अपूर्णता की स्वीकृति के साथ होता है। अतः उपाय कोई वही हो सकता है जो बलात् मन को रोकने को न कहे, जो मन को भी इसलिए सुने क्योंकि वह अप्रयोजनीय रूप में हमें नहीं प्राप्त हुआ है। हाँ, मनमानेपन की छूट मन को न हो, क्योंकि वह अखिल का अंग है, खुद कुछ नहीं है।

पड़ोस में एक महानुभाव रहते हैं जिनको लोग भगत जी कहते हैं। चूरन बेचते हैं। यह काम करते जाने उन्हें कितने बरस हो गए हैं। लेकिन किसी एक भी दिन चूरन से उन्होंने छः आने पैसे से ज्यादे नहीं कमाये। चूरन उनका आसपास सरनाम है। और खुद खूब लोकप्रिय हैं। कहीं व्यवसाय का गुर पकड़ लेते और उस पर चलते तो आज खुशहाल क्या मालामाल होते! क्या कुछ उनके पास न होता! इधर दस वर्षों से मैं देख रहा हूँ, उनका चूरन हाथों-हाथ जाता है। पर वह न उसे थोक देते हैं, न व्यापारियों को बेचते हैं। पेशगी आर्डर कोई नहीं लेते। बँधे वक्त पर अपनी चूरन की पेटी लेकर घर से बाहर हुए नहीं कि देखते-देखते छः आने की कमाई उनको हो जाती है। लोग उनका चूरन लेने को उत्सुक जो रहते हैं। चूरन से भी अधिक शायद वह भगतजी के प्रति अपनी सद्भावना का देय देने को उत्सुक रहते हैं। पर छः आने पूरे हुए नहीं कि भगतजी बाक़ी चूरन बालकों को मुफ्त बाँट देते हैं। कभी ऐसा नहीं हुआ है कि कोई उन्हें पच्चीसवाँ पैसा भी दे सके! कभी चूरन में लापरवाही नहीं हुई है, और कभी रोग होता भी मैंने उन्हें नहीं देखा है।

और तो नहीं, लेकिन इतना मुझे निश्चय मालूम होता है कि इन चूरनवाले भगतजी पर बाज़ार का जादू नहीं चल सकता।

कहीं आप भूल न कर बैठियेगा। इन पंक्तियों को लिखने वाला मैं चूरन नहीं बेचता हूँ। जी नहीं, ऐसी हलकी बात भी न सोचियेगा। यह समझियेगा कि लेख के किसी भी मान्य पाठक से उस चूरन वाले को श्रेष्ठ बताने की मैं हिम्मत कर सकता हूँ। क्या जाने उस भोले आदमी को अक्षर-ज्ञान तक भी है या नहीं। और बड़ी बातें तो उसे मालूम क्या होंगी। और हम-आप न जाने कितनी बड़ी-बड़ी बातें जानते हैं। इससे यह तो हो सकता है कि वह चूरन वाला भगत हम लोगों के सामने एकदम नाचीज़ आदमी हो। लेकिन आप पाठकों की विद्वान् श्रेणी का सदस्य होकर भी मैं यह स्वीकार नहीं करना चाहता हूँ कि उस अपदार्थ प्राणी को वह प्राप्त है जो हम में से बहुत कम को शायद प्राप्त है। उसपर बाज़ार का जादू वार नहीं कर पाता। माल बिछा रहता है, और उसका मन अडिग रहता है। पैसा उसके आगे होकर भीख तक माँगता है कि मुझे लो। लेकिन उसके मन में पैसे पर दया नहीं समाती। वह निर्मम व्यक्ति पैसे को अपने आहत गर्व में बिलखता ही छोड़ देता है। ऐसे आदमी के आगे क्या पैसे की व्यङ्ग-शक्ति कुछ भी चलती होगी? क्या वह शक्ति कुंठित रहकर सलज्ज ही न हो जाती होगी?

पैसे की व्यङ्ग-शक्ति की सुनिए। वह दारुण है। मैं पैदल चल रहा हूँ कि पास ही धूल उड़ाती निकल गई मोटर। वह क्या निकली मेरे कलेजे को कौंधती एक कठिन व्यङ्ग की लीक ही आर-से-पार हो गई। जैसे किसी ने आँखों में उंगली देकर दिखा दिया हो कि देखो, उसका नाम है मोटर, और तुम उससे वञ्चित हो! यह मुझे अपनी ऐसी विडम्बना मालूम होती है कि बस पूछिये नहीं। मैं सोचने को हो आता हूँ कि हाय, ये ही माँ-बाप रह गए थे जिनके यहाँ मैं जन्म लेने को था! क्यों न मैं मोटरवालों के यहाँ हुआ! उस व्यंग में इतनी शक्ति है कि ज़रा में मुझे अपने सगों के प्रति कृतघ्न कर सकती है।

लेकिन क्या लोकवैभव की यह व्यंग्य-शक्ति उस चूरन वाले अकिंचित्कर मनुष्य के आगे चूर-चूर होकर ही नहीं रह जाती ? चूर-चूर क्यों, कहो पानी-पानी।

तो यह क्या बल है जो इस तीखे व्यङ्ग के आगे अजेय ही नहीं रहता, बल्कि मानो उस व्यंग की क्रूरता को ही पिघला देता है ?

उस बल को नाम जो दो; पर वह निश्चय उस तल की वस्तु नहीं है जहाँ पर संसारी वैभव फलता-फूलता है। वह कुछ अपर जाति का तत्त्व है। लोग स्पिरिचुअल कहते हैं; आत्मिक, धार्मिक, नैतिक कहते हैं। मुझे योग्यता नहीं कि मैं उन शब्दों में अन्तर देखूँ और प्रतिपादन करूँ। मुझे शब्द से सरोकार नहीं। मैं विद्वान् नहीं कि शब्दों पर अटकूँ। लेकिन इतना तो है कि जहाँ तृष्णा है, बटोर रखने की स्पृहा है, वहाँ उस बल का बीज नहीं है। बल्कि यदि उसी बल को सच्चा बल मानकर बात को जाय तो कहना होगा कि संचय की तृष्णा और वैभव की चाह में व्यक्ति की निर्बलता ही प्रमाणित होती है। निर्बल ही धन की ओर झुकता है। वह अबलता है। वह मनुष्य पर धन की और चेतन पर जड़ की विजय है।

एक बार चूरन वाले भगत जी बाज़ार चौक में दीख गए। मुझे देखते ही उन्होंने जय-जयराम किया। मैंने भी जयराम कहा। उनकी आँखें बन्द नहीं थीं और न उस समय वह बाज़ार को किसी भाँति कोस रहे मालूम होते थे। राह में बहुत लोग, बहुत बालक मिले जो भगत जी द्वारा पहचाने जाने के इच्छुक थे। भगत जी ने सबको ही हँसकर पहचाना। सबका अभिवादन लिया और सबको अभिवादन दिया। इससे तनिक भी यह नहीं कहा जा सकेगा कि चौक-बाज़ार में होकर उनकी आँखें किसी से भी कम खुली थीं। लेकिन भौंचक्के हो रहने की लाचारी उन्हें नहीं थी। व्यवहार में पसोपेश उन्हें नहीं था और खोये-से खड़े नहीं वह रह जाते थे। भाँति-भाँति के बढ़िया माल से चौक भरा पड़ा है। उस सबके प्रति अप्रीति इस भगत के मन में

नहीं है। जैसे उस समूचे माल के प्रति भी उनमन में आशीर्वाद हो सकता है। विद्रोह नहीं, प्रसन्नता ही भीतर है, क्योंकि कोई रिक्त भीतर नहीं है। देखता हूँ कि खुली आँख, तुष्ट और मग्न, वह चौक-बाज़ार में से चलते चले जाते हैं। राह में बड़े-बड़े फैंसी स्टोर पड़ते हैं, पर पड़े रह जाते हैं। कहीं भगत नहीं रुकते। रुकते हैं तो एक छोटी पन्सारी की दुकान पर रुकते हैं। वहाँ दो-चार अपने काम की चीज़ लीं, और चले आते हैं। बाज़ार से हठ-पूर्वक विमुखता उनमें नहीं है; लेकिन अगर उन्हें जीरा और काला नमक चाहिए तो सारे चौक-बाज़ार की सत्ता उनके लिए तभी तक है, तभी तक उपयोगी है, जब तक वहाँ जीरा मिलता है। ज़रूरत-भर जीरा वहाँ से ले लिया कि फिर सारा चौक उनके लिए आसानी से नहीं बराबर हो जाता है। वह जानते हैं कि जो उन्हें चाहिए वह है जीरा नमक। बस इस निश्चित प्रतीति के बल पर शेष सब चाँदनी चौक का आमन्त्रण उन पर व्यर्थ होकर बिखर रहता है। चौक की चाँदनी दाएँ-बाएँ भूखी-की-भूखी फैली रह जाती है; क्योंकि भगत जी को जीरा चाहिए वह तो कोने वाली पन्सारी की दुकान से मिल जाता है और वहाँ से सहज भाव में ले लिया गया है। इसके आगे आस-पास अगर चाँदनी बिछी रहती है तो बड़ी खुशी से बिछी रहे, भगत जी उस बेचारी का कल्याण ही चाहते हैं।

यहाँ मुझे ज्ञात होता है कि बाज़ार को सार्थकता भी वही मनुष्य देता है जो जानता है कि वह क्या चाहता है। और जो नहीं जानते कि वे क्या चाहते हैं, अपनी 'पर्चेज़िंग पावर' के गर्व में अपने पैसे से केवल एक विनाशक शक्ति—शैतानी-शक्ति, व्यंग की शक्ति ही बाज़ार को देते हैं। न तो वे बाज़ार से लाभ उठा सकते हैं, न उस बाज़ार को सच्चा लाभ दे सकते हैं। वे लोग बाज़ार का बाज़ारूपन बढ़ाते हैं। जिसका मतलब है कि कपट बढ़ाते हैं। कपट की बढ़ती का अर्थ परस्पर में सद्भाव की घटी। इस सद्भाव के ह्रास पर आदमी आपस में भाई-

भाई और सुहृद और पड़ोसी फिर रह ही नहीं जाते हैं और आपस में कोरे गाहक और बेचक की तरह व्यवहार करते हैं। मानो दोनों एक-दूसरे को ठगने की घात में हों। एक की हानि में दूसरे को अपना लाभ दीखता है और यह बाज़ार का, बल्कि इतिहास का; सत्य माना जाता है। ऐसे बाज़ार को बीच में लेकर लोगों में आवश्यकताओं का आदान-प्रदान नहीं होता; बल्कि शोषण होने लगता है। तब कपट सफल होता है, निष्कपट शिकार होता है। ऐसा बाज़ार मानवता के लिए विडम्बना है। और जो ऐसे बाजार का पोषण करता है, जो उसका शास्त्र बना हुआ है, वह अर्थ-शास्त्र सरासर औंधा है। वह मायावी (Capitalistic) शास्त्र है। वह अर्थ-शास्त्र अनीति-शास्त्र है।

जड़ की बात

उस रोज़ देखा कि सड़क के किनारे धूप में एक आदमी पड़ा हुआ है। हड्डियों का ढाँचा रह गया है और मिनटों का मेहमान है। चलती सड़क, काफी लोग आ-जा रहे थे। वे उसकी तरफ देखते और बढ़ जाते थे। मैंने भी उसकी तरफ़ देखा और बढ़ गया।

उस दृश्य पर आने से कुछ पहले उसी सड़क पर मैंने देखा कि एक मोटर चलते-चलते रुकी। उसमें से दो व्यक्ति उतरे और नीचे कुछ देखते हुए पीछे की ओर गये। आख़िर कुछ दूर चलने पर एक रुपया उन्हें पड़ा हुआ मिला। वह शायद उन्हें मोटर से जाते हुए दीखा होगा। उसके लिए ही वे मोटर से उतरे थे।

कल्पना कीजिये कि उस आदमी की जगह ताँबे का एक पैसा पड़ा होता, तो क्या उसको पड़ा रहने दिया जाता? लखपती भी होता तो *शायद उसे देखते ही उठा लेता। रुपये की तरफ़ उन मोटर वालों की* सावधानता देखी ही जा चुकी है। इसी तरह धन का प्रतिनिधि एक भी सिक्का कहीं पड़ा हो, तो किसी के देखने की देर है कि वह धूल से उठाकर छाती के पास की जेब में रख लिया जायगा।

लेकिन आदमी की दूसरी बात है। आदमी मरने के लिए आदमी की ओर से छुट्टी पा गया है। कारण, पैसे की क़ीमत है। आदमी की क़ीमत नहीं है।

दया आदि की बात छोड़िये। किसी को फुर्सत क्यों कि दया में पड़े? दया का दावा नहीं हो सकता। मरज़ी है कि दयावान दया करे। मरज़ी नहीं है तो दया न करने के लिए किसी को दोष नहीं दिया जा सकता। अर्थात् यह प्रश्न नहीं है कि दया आदमी में क्यों नहीं रही। आप मानते हैं कि किसी के दिल में दया होती तो वह उस अधमरे आदमी का कुछ उपचार करता। पर मुझे इससे सन्तोष नहीं है। उस आदमी के उपचार के लिए दयावान व्यक्ति की जरूरत हो और हममें से हर कोई उस तरह के उपचार में सचेष्ट न हो, यह स्थिति ही मेरी चिन्ता का विषय है। इस स्थिति में जरूर कोई बड़ा दोष है। दयालु होने के कारण ही मैं उस गरीब के काम आ सकता हूँ, समझदारी के कारण नहीं, आज का यही हाल है। उस गरीब को बचाकर क्या होगा? सैकड़ों-हजारों मरते हैं। अजी छोड़ो, अपना काम देखो। इस फेर में लगोगे, इतने कुछ और कमाई का काम ही न कर लो। यह आदमी मर जायगा तो किसी का क्या नुकसान होगा? इसमें समझदारी यह है कि दया में न पड़ा जाय।

यह सच ही है और मैं इससे सहमत हूँ। जहाँ दया और समझ का विरोध हो वहाँ मैं समझ के पक्ष में हूँ। दया कच्ची भावुकता है। समझदारी वह ज़मीन है जहाँ पैर टिकता है। हम नहीं माँग सकते कि हर कोई दयावान हो। पर समझदार हर किसी को होना चाहिये। दया में गिरकर लोग फ़कीर हो गये हैं। घर-घाट के नहीं रह गये, बारह बाट हो गये हैं। कोई भला ऐसे बना है? सब बिगड़े ही हैं। सद्पुरुषता का लक्षण गहराई से देखें तो दया से अधिक अदया (निस्पृहता) है। दया वह उतनी ही पालते हैं जितनी समझदारी में निभती है।

मैं अन्तःकरण की सच्चाई से कहता हूँ कि दया की प्रेरणा मुझे सच्ची प्रेरणा नहीं मालूम होती। और अगर उस भूखे, कंकाल इन्सान के वहीं सड़क की धूल में पड़े रहने का कारण सिर्फ इतना होता कि आदमी में दया नहीं रह गई, तो मुझे यह लेख लिखने की प्रवृत्ति

होतो। पर आज तो मुझे इसी पर विस्मय है कि समझदारी हमें यह समझाती मालूम होती है कि हमें, ज़िन्दा आदमियों को, उस मरते हुए प्राणी के झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। समझदार बेशक दयालु नहीं हो सकता। उसे दयालु नहीं होना चाहिए। दया का मतलब अहसान होता है। बेशक अहसान झूठ है। इससे दया भी झूठ है। पर समझ को तो समझदार होना चाहिए और आज का समझदार आदमी अगर अपनी राह चलता चला जाता है और मरने वाले को सड़क किनारे पड़ा रहने देता है तो ज़रूर कोई बहुत बड़ी ख़राबी है। उस ख़राबी का नाम दया की कमी नहीं, क्योंकि दया की कमी को अथवा कि उसके अभाव को हम ख़राबी नहीं कह सकते। वह क्षम्य बात है। एक तरह से उचित बात है। नहीं, उससे कोई बहुत बड़ी ख़राबी मैं मानता हूँ। और उसी ख़राबी को पाना चाहता हूँ।

पड़ा पैसा धूल में से हर कोई उठा लेता है। बच्चे को भी कहना नहीं पड़ता, धूल झाड़कर वह उसे जेब में रखता है। ज़रूरत नहीं कि हम समझाएँ—'देखो बेटा, पैसा मिले तो उस पर दया करना, उस बिचारे को धूल में पड़ा मत रहने देना।' यह सब ज़रूरत इसलिए नहीं रहती कि पैसे से उसका दिल जुड़ गया है। इसलिए एकदम स्वाभाविक है कि पैसा दीखे और उसे उठा लिया जाय।

क्या साँस लेता आदमी ताँबे के एक पैसे से भी कम क़ीमती है? मैं चाहता हूँ कि विज्ञानवेत्ता से पूछकर बता सकूँ कि मरे आदमी तक में से कितना फ़ॉस्फ़ोरस और कितना क्या-क्या मिल सकता है। फिर, मरे और जीते की तो तुलना क्या। चेतन आदमी में अगणित सम्भावनाएँ हैं। आत्मा में क्या नहीं है? इस तरह जब कि मुरदा आदमी भी जाने कितने अनगिनती पैसों से ज़्यादा क़ीमती है, तब जीते इन्सान का तो पूछना क्या?

पर आँखों देखी बात है कि पैसा उठा लिया जाता है; इन्सान को छोड़ दिया जाता है। उसकी क़ीमत पैसे की नहीं है। मैं जानना चाहता

हूँ कि यह अनर्थ कैसे होने में आया? क्यों यह ज़रूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ़ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े? क्यों यह ज़रूरी है कि आदमी दया की प्रतीक्षा करे और तब तक उस ओर से अपने को अछूता बनाए रखे? क्यों नहीं यह आदमी के स्वार्थ में शामिल हो कि वह दूसरे की मदद करे? उसे दूसरे की मदद ही क्यों समझा जाय? पैसे को उठाते हैं, तो यह हम अपनी मदद करते हैं। लेकिन अंग्रेज़ी में भी I help myself to it—यह वाक्य-प्रयोग इन्सान के बारे में नहीं होता। वह मदद दूसरे की है इसलिए दया भाव से ही की जा सकती है—यह बेवकूफ़ी हम में क्यों घर कर गई है? अगर पैसे को धूल में से उठाकर जेब में रखना उस पर उपकार करना नहीं है, तो रोगी को सड़क पर से उठाकर अस्पताल में रखने में भी उपकार की कहाँ आवश्यकता आ जाती है? मैं मानता हूँ कि जब तक उपकार और दया की आवश्यकता ऐसे कामों में मानी जायगी, अर्थात् जब तक उन्हें शुद्ध लौकिक हित और समझदारी का काम ही नहीं माना जायगा, तब तक हमारी समस्या हल नहीं होगी। यह हम में से हर एक के लिए स्वाभाविक होना चाहिए कि हम मृतप्राय को जीवनोन्मुख करें। एक आदमी जाता है तो क्या इससे मनुष्य जाति की पूँजी कम नहीं होती?

कहा जायगा कि मृत्यु है और रहेगी। मैं मानता हूँ कि उसे रहना चाहिए। मैं आदमी की अमरता में विश्वास नहीं करता; क्योंकि आत्मा की अमरता में विश्वास करता हूँ। इसलिए सचमुच इस बात पर मुझे दुख नहीं है कि कोई मर जाता है। पर मरने वाला कैसे मरता है, यह विषय मुझे अतिशय चिन्ता का मालूम होता है। हमें हक़ नहीं है कि किसी को द्वेष से, घृणा, क्रोध या निराशा से मरने दें। इससे मानव-जाति का बन्धन बढ़ता है। एक भी आदमी हमारी उपेक्षा पर, हमसे तिरस्कार पाकर मरता है, तो वही हमारे माथे पर कलंक का टीका बनता है। सचमुच उस बिचारे सड़क के किनारे पड़े आदमी पर दया की ज़रू-

रत नहीं है। वह तो मरकर छुट्टी पा जायगा, पर ये जो बड़े-बड़े सरकारी दफ्तर हैं और चुंगी-दफ्तर और सभा-समाजें समितियाँ और महलों में बसने वाले लोग और बोलने वाले नेता और लिखने वाले लेखक और छापने वाले अखबारी—इन सब पर तरस खाने की ज़रूरत ज़रूर है। वह जो सड़क पर पड़ा है, खुद में कुछ नहीं है। वह हम सब अहंमन्यों की अहंमन्यता की आलोचना है, मनुष्य पर व्यंग है। वह हमारी शर्म है। जितनी देर वह ज़िन्दा लाश वहाँ पड़ी है, उतना ही हमारा पाप बढ़ता है। उसके मर जाने से वह पाप कायम होता है।

मानव-जाति की व्यवस्था के काम में करोड़हा-करोड़ रुपया एक जगह जमा होता है और उससे फ़ौज और अस्त्र-शस्त्र, क़िले, अदालतें, दफ्तर और सरकारें बनती हैं। वह शासन की सत्ताएँ सुव्यवस्था के लिए हैं। *इसलिए हैं (यानी होनी चाहिएँ) कि सब आदमी जिऍं और* एक-दूसरे का भला चाहते हुए मरें। अर्थात् ये सत्ताएँ आदमियों के लिए हैं। सत्ता के लिए आदमी नहीं हैं। पर आज अन्धेर है तो यही कि उस सत्ता की रक्षा के लिए आदमी के अस्तित्व को माना जाय। आदमी यहाँ इसलिए है कि वह मरे और सत्ता जिये। वह ईंधन है कि सत्तावालों की रोटी पके। अर्थात् उनका प्रश्न नहीं है जिनकी सुव्यवस्था के लिए सब-कुछ है, बल्कि मानो व्यवस्था (Law and Order) ही वह देवी है जिस पर बलिदान होना व्यक्ति के व्यक्तित्व की सार्थकता है। सरकार ईश्वर है और आदमी उस महाप्रभु (सरकार) का सेवक होने के लिए है। फलतः सरकारी अमन सब कुछ है और आदमियों का मरना-जीना कुछ नहीं है। सुशासन के लिए आदमियों को मारा जा सकता है।

यही तो है जहाँ खराबी है। आदमी एक गिनती हो गया है। वह आत्मा नहीं है, पवित्र नहीं है। उसमें अपने-आपमें कोई कीमत नहीं है। दफ्तर चल रहे हों, और सरकार की मशीन चल रही हो। जब वह चीज़ ठीक चल रही है, तब दो-चार या सौ-हजार आदमी भूखे और

नंगे मर जाँय तो क्या हुआ ? सुशासन की आरती तो अखंड चल रही है, उसका रिकार्ड दफ़्तर में बराबर तैयार हो रहा है। यह जो आदमी सड़क के किनारे पड़े सिनकते हुए मर रहे हैं, यह तो अपने कर्मों का फल पा रहे हैं। बाक़ी हमारा बजट देखो, हमारी रिपोर्ट देखो, हमारे कारख़ाने में चलकर उसका इन्तज़ाम देखो। तब तुम्हारी आँखें खुलेंगी कि सभ्यता और उन्नति कहाँ पहुँच गई है! उस घृणित और सड़ी लाश को क्या देखते हो!

हाँ, मैं यही कहना चाहता हूँ। मैं कहना चाहता हूँ कि क़ीमत असल को छोड़ गई और नक़ल पर जा चढ़ी है। आदमी का बचाना असल प्राण का बचाना है, इसी से वह निष्फल है। और पैसे का बचाना यहाँ सफल है। आज की क़ीमतों की यही सबसे बड़ी आलोचना है। नहीं सवाल है कि तुम्हारी छाती कितनी बड़ी है। सवाल है कि उस पर लटकी तुम्हारी जेब कितनी भरी है। अन्दर से छाती चाहे पिचकी हो और क्षुद्र हो और उसमें और किसी के लिए समाई न हो, पर उसको ढकने वाली जेब अगर गर्म है, और चौड़ी है और मोटी है, तो सब ठीक है। नहीं चाहा जाता आज कि तुममें मनुष्यता हो। उसकी जगह तुम्हारे पास धन की पेटी है, तो अच्छा है। अर्थात् मूल्य आज हमारे उलटे हैं। हीरा आज फिक रहा है और कौड़ी को बटोरा जा रहा है। तभी तो देखते हैं कि पैसे पर हाथ लपकता है और आदमी पर लात चलती है।

ऊपर देखा, और वैज्ञानिक सत्य है, कि मुर्दा आदमी भी क़ीमत से ख़ाली नहीं है। लोग मुर्दा हड्डियाँ बटोरते और बाहर भेजते हैं। व्यवसायी उनमें से लाभ लेते और आविष्कारक तथ्य निकालते हैं। विवेकी के हाथ क्या चीज़ उपयोगी नहीं ? विष्टा भी वहाँ खाद है और कूड़े-कर्कट में से काग़ज़ बनता है। तो भी सड़क पर पड़े आदमी से सब आँख मोड़कर चले गये, जैसे कि उसको लेकर कोई लाभ का सौदा हो ही नहीं सकता।

मैं कहना चाहता हूँ कि वह स्थिति सदोष है, जहाँ आदमी को बचाना किसी भाँति लाभ का सौदा नहीं रह जाता। वह लाभ का सौदा नहीं है तभी तो हर कोई आदमी उस तरफ नहीं मुड़ता है। अगर हम चाहते हैं कि ऐसे दृश्य हमारे देखने में न आवें, तो कुछ ऐसा प्रबन्ध करना होगा कि भूखे को खाना, प्यासे को पानी और रोगी को उपचार देना हममें से हरएक के लिए लाभ का सौदा बन जाय। पुरानी क़ीमतें तो बदल गई हैं, क्योंकि ईश्वर बदल गया है। पहले ईश्वर भक्तवत्सल था और दूसरे जनम में नेकी का इनाम मिल जाता था। इससे नेकी हर किसी के लिए लाभ का सौदा था। पर अब सिंहासन पर सरकार है और स्वर्ग की जगह तरह-तरह की सरकारी पदवियाँ हैं। स्वर्ग नेकी से मिलता था, पर रायबहादुरी धन से मिलती है। ईश्वर औरों की सेवा से खुश होता था, सरकार अपनी सेवा से खुश होती है। इसलिए पहले का लाभ का सौदा अब आकर टोटे का हो गया है। इससे कोई उसके झंझट में नहीं पड़ता।

—ओह, आप मोटर से उतरे हैं; आप रायसाहब हैं; अजी आपके कपड़े और शक्ल बतलाती है; आइए, आइए, धन्य भाग्य! तशरीफ़ लाइए, और तुम हटो, निकलो! ये दाग़ीले कपड़े लेकर कहाँ घुसे चले आ रहे हो? क्या—? बीमार! सड़क!—तो मैं क्या जानूँ, उस ग़रीब को उठाने में कपड़े मेरे खराब होंगे। बस, बस, बको मत, चलो, हटो।

हमारा व्यवहार ऊपर के मानिन्द है। और उससे देखा जा सकता है कि मनुष्य के लिए मनुष्यता लाभ का सौदा नहीं है, बल्कि किसी क़दर अमनुष्यता इस वक़्त सौदा है।

क्या कहा? आप नेकी की और उसके नेक फल की और ईश्वर की और जगत् की भलाई की बात करते हैं? आप भोले हैं। आप ख्वाब में रहते हैं। युग बुद्धिवाद का है और आप में बुद्धि नहीं है। आप भावुक हैं। भावुकता के कारण आप सीधी उन्नति की सड़क पर

से हटकर किसी सेवा-देवा के चक्कर में पड़ना चाहते हैं तो पड़िए। पर हम बताते हैं कि वह लाभ का सौदा नहीं है।

और मैं यही कहना चाहता हूँ कि जब-तक हमारे मानसिक और सामाजिक मूल्य ऐसे नहीं हो जायँगे कि आदमी का लाभालाभ ही मनुष्यता के पैमाने में नापा जाय, अर्थात् जब-तक आदमी धन से नापा जायगा, मन से नहीं, तब तक हमारी लज्जा और ग्लानि के दृश्य हमारी आँखों के सामने आते ही रहेंगे।

वह आलीशान म्युनिसिपैलिटी की इमारत खड़ी है। उसके चारों तरफ़ बग़ीचा है और पुलिस के सन्तरी हैं। लेकिन उसके बाद भरभुखों की पाँत अपने दारिद्रय और अपने मैल को खोले पड़ी है। म्युनिसिपैलिटी के महल के लिए क्या यह दृश्य कलंक का नहीं है? और हम म्युनिसिपैलिटी के उस मेम्बर को सबसे ज्यादा चाहते हैं, जो सबसे अच्छे कपड़े पहनता और सबसे अच्छा बोलता है। नगर-पिता हम उसे बनाते हैं, जो सेवा की बकवास करता है कि सेवा का काम न करना पड़े।

पर सच यह है कि मनुष्य का लाभ मनुष्यता का लाभ ही है। इससे वह कुछ भी लाभ का सौदा नहीं है, जिससे मनुष्यता की पूँजी लुटती है। इस बात से आँख बचाकर जो लाभ के सौदे के फेर में पड़े हैं, वे अपने को भुलावा दे रहे हैं। वह दिन आने वाला है कि हम देखेंगे संचित धन आदमी का गौरव नहीं, वह आदमी का कोढ़ है। और मालदार बनने की इच्छा मनुष्यता की निधि में नकब लगाकर चोरी करने की इच्छा से कम या भिन्न नहीं है। आज हम अपने लाभ को दूसरे के अलाभ में देखते हैं। हमारी जेब में जो आता है वह दूसरे ही की जेब में से तो आता है। किसी को दरिद्र रखे या बनाए बिना हम मालदार रह या बन नहीं सकते। निपट दरिद्रता की तस्वीर से हम डरते हैं; तो अपनी धनाढ्यता की आकांक्षा से हमें डरना होगा। नहीं तो अपने ही रोग का दूसरा पहलू हमारी आँखों के आगे आने से बच

नहीं सकता। धनी धन में बन्द नहीं हो सकता। और कितना भी बन्द रहे, अपनी आत्मा के दैन्य के अनुभव से वह नहीं छूट सकता। आदमी लाचार है कि मरे और लाचार है कि जाने कि धन साथ नहीं जाता। इसी तरह वह लाचार है कि पाये कि धन बटोरना बखेड़ा ही बटोरना है और एक जगह धन का इकट्ठा होना शरीर में खून के इकट्ठा होकर गिल्टी बनने के समान है।

तो भी हम भ्रम को पोसते हैं। क्योंकि चारों ओर से उसकी सुविधा है। आसपास हमारे सब के मनों में सोने की छड़ी बस गई है। उससे आदमी को नापा जाता है। हममें उस रोग का बीज है ही। पड़ौसी से अपने को बढ़कर मान सकें, तभी हमें सुख मिलता है। अपने को घटकर मानने को लाचार हों, यही दुःख का कारण है। बस, इस तरह मेरे-तेरे की तराज़ू में हम लटके रहते हैं। वह तराज़ू है ही राग-द्वेष की। उसकी डण्डी अहंकार के हाथ में है। उसके बाट सोने-चाँदी के हैं। और बस, उन्हीं बाटों पर अपना लाभालाभ तोलकर हम चला करते हैं। पर तराज़ू ही वह खोटी है। क्योंकि मेरा-तेरा ही गलत है। पड़ौसी से बड़ा बनकर जो सुख मैंने माना है, वह सुख मेरे हाथ में कहाँ, वह तो पड़ौसी की मुट्ठी में है। अपने को वह छोटा न माने तो मेरे बड़प्पन का सुख भी किरकिरा हो जाता है। इससे मेरा असल सुख तो पड़ौसी को सुखी बनाने में है। क्योंकि वह सुख मुझसे कोई छीन ही नहीं सकता। इस ढंग से देखने पर जो जितना लाभ का सौदा समझा जाता है, वह उतना ही नुकसान का हो जाता है। क्योंकि अहंकार का फूलना आत्मा का क्षीण होना है। अभिमान आत्मा का शत्रु ठहरा। धन अभिमान की गाँठ है। धन की दुनियाँ में सबसे बड़ा सत्य इज़्ज़त है जो कि खुद झूठ है। इज़्ज़त में तुलनात्मक भाव है। मेरी नाक ऊँची होने का मतलब ही यह है कि वह दूसरे से ऊँची है। संसार ऐसे ही चलता है। पर मुक्ति ऐसे थोड़े ही मिलती है।

मैं मानता हूँ कि परस्पर की सहायता को भलाई की कोटि से

उतार कर स्वभाव की कोटि तक हमें लाना होगा। भलाई मानो एक अतिरिक्त वस्तु है। मानो वह कोई उपकार है। यानी हम उस पर गर्व कर सकते हैं। पर, यह तो बड़ी भारी भूल है। मैं जानता हूँ कि अभिमान को जो उससे एक प्रकार की सेंक मिलती है, उसके कारण बहुधा उपकार कर्म किया जाता है। इसीलिए मैं यह कहता भी हूँ कि भला करके दूसरे से ज्यादा हम अपना भला करते हैं। इससे भलाई का श्रेय कैसा?

शुरू में मैंने यही बात उठाई थी कि भलाई जब तक हममें दूर की वस्तु रहेगी, तब तक काम नहीं चलेगा। हममें से अपने को भला आदमी कहने को शायद ही कोई तैयार हो। पर समझदार अपने को सब मानते हैं। हम सब स्वार्थी हैं कि नहीं, अपना नफा-नुकसान देखते हैं। हम सब समझदारी में समान हैं। मैं यही कहना चाहता था कि जिसको नेकी कहकर सामान्य से ऊँची कोटि दी जाती है, वह समझदारी (Common-Sense) की बात होनी चाहिये। अर्थात् सामान्य बुद्धि की दृष्टि से नेकी का काम हमारे लिए लाभ का सौदा भी होना चाहिये।

यहाँ आकर मैं मानव-समाज के व्यवस्थापकों को दोष देता हूँ। वे इन प्रकृत मानवीय मूल्यों के विकास में सहायक नहीं हो रहे हैं। वे जिस अंश में अपने को शासक मानते हैं और सेवक की भाँति व्यवहार नहीं करते हैं, उतने ही अंश में वे सदोष हैं। उतने ही अंश में वे झूठी कीमतों को मजबूत करते हैं और असली कीमतों को उभरने से रोकते हैं। वे इन्सान को इन्सान बनाने की ओर प्रेरित नहीं करते, बल्कि उनमें बड़ा बनने, ऊँचा और अमीर बनने की लालसा पैदा करते हैं।

मैं मानता हूँ कि आदमी में आदमी के प्रति जो कुत्सा, ईर्षा, उपेक्षा और अवहेलना के भाव देखने में आते हैं, वे मूलतः इसी अहंप्रेरित जीवन-नीति के पालन करने के कारण बनते हैं। सत्ता अधिकांश उसी पर खड़ी होती है। व्यक्तियों में आपाधापी की वृत्ति को मूल से नष्ट

करने में शासन सत्ता का हित नहीं है। इससे जनता के ऐक्य से उसे डर लगता है, क्योंकि जनता का अनैक्य शासन का समर्थन है। शासन का मन्त्र है, भेद डालो और राज करो। जन-समाज में श्रेणियाँ डाल कर शासन चलाया जाता है। ऊँच और नीच, अमीर और गरीब, इस तरह के भेद सत्ता के लिए बहुत ज़रूरी हैं। क्योंकि उस भेद के कारण सत्ता अनिवार्य बनती है। दो लड़ें तो बीच-बचाव का काम हाथ में लेने के लिए तीसरा आ ही जाता है।

इसी से हितों की अनेकता पैदा करके शासन-सत्ताएँ मज़बूत बनती हैं। सब को अपने-अपने स्वार्थ की पड़ती है। इस स्वार्थ की वृत्ति को गहरा करके मानव-जाति के व्यवस्थापक अपनी कुर्सी को निश्चिन्त बनाते हैं। पर यह भी निश्चित है कि इस तरह वह अपनी कुर्सी को कलंकित करते हैं। भेद पर बनी व्यवस्था टिकने वाली नहीं। आदमी के भीतर स्वार्थ है तो निस्वार्थता भी है। यानी स्वार्थी आदमी में ही यह प्रतीति निवास करती है कि दूसरे की हानि पर पलने वाला स्वार्थ मेरा सच्चा स्वार्थ नहीं है। सच्चा स्वार्थ मेरा ही वह है जो दूसरे के स्वार्थ के साथ अभिन्न है।

इस तरह यह हालत बहुत दिनों तक रहने वाली नहीं है कि लोग सड़क के किनारे पड़े जीते कंकाल को देखते हुए निकल जायँ। जल्दी वह समय आ जायगा कि जब अपने व्यवस्थापकों से हम पूछेंगे कि क्यों तुमसे इतनी चूक हुई कि वह आदमी सड़क पर पड़ा हुआ है ? तुम हकूमत के लिए हो, व्यवस्था के लिए नहीं हो। तुमको हाथ का हुनर तो कोई आता नहीं था, तुमको और कामका न जान कर यह काम सौंपा गया है। पर तुममें यह पुरानी बू अबतक मौजूद है कि तुम अपने को अफसर समझो और उसमें भूल जाओ ? ध्यान रहे कि तुम सेवक हो, तुम मालिक के विश्वास को खो नहीं सकते। जो काम तुम्हें सौंपा गया है उसमें चूकते हो, तो जाओ, अपना रास्ता देखो।

आप सोचिए कि जब लड़ाई हो रही हो, तो बारूद को बरबाद

करने वाला आदमी कितना गुनहगार है। ईश्वर की सृष्टि में हर आदमी बारूद के गोले के मानिन्द है। उसे बरबाद होने दिया जा सकता है; उससे मौत का काम लिया जा सकता है, या उससे जिन्दगी का काम लिया जा सकता है। मनुष्य-जाति के व्यवस्थापकों का न्याय एक दिन इसी तराजू पर किया जायगा कि उन्होंने ईश्वर की पूँजी का क्या बनाया; कितना खोया, कितना कमाया? आदमी-आदमी में जितनी एकता, निस्वार्थता बढ़ेगी वह कमाई है। जितना उनमें अनैक्य और स्वार्थ बढ़ेगा, वह हानि है। अन्त में देखा जायगा कि आदमी का व्यवस्थापकों ने क्या उपयोग किया है? कितनों की सम्भावनाएँ नष्ट होने दीं या प्रस्फुटित होने दीं? कितनों को ईश्वर की ममता में खिलने दिया? और कितनों को अवरुद्ध रखा? आदमी के अन्दर कितनी हिंसा (स्वार्थ), को पोषण दिया और कितना उसमें अहिंसा (सेवा) की शक्ति को जगाया।

व्यक्ति एक शक्ति का पुञ्ज है। व्यवस्थापक का काम है कि उस शक्ति का अधिकाधिक उपयोग करे। उससे इसी का हिसाब माँगा जायगा! यह जो सड़क पर आदमी पड़ा है—किस हक से उसे वहाँ पड़ा रहने दिया गया है? सदा से तो वह ऐसा न होगा। किसी माँ का वह बेटा होगा, कभी जवान रहा होगा, मन में उमंग और आशा होगी। किसी के लिए उसमें प्रेम होगा। चाहता होगा कि मैं अपने को दे डालूँ।......वही आज यहाँ क्यों है? उसकी जवानी और उसका प्रेम और उसकी मनुष्यता क्यों हवा में उड़ जाने दी गई? क्यों वह आदमी सफल और सार्थक नहीं हो सका? क्यों वह यहाँ सड़क पर मनुष्य का तिरस्कार पाकर और अपने मन में मनुष्य के लिए तिरस्कार भरकर रोग की गाँठ के मानिन्द यहाँ पड़ा हुआ है? क्यों जो प्रेम बिखेर कर सकता था घृणा फैला रहा है? कौन उसके मन की जानता है? शायद लोग उसमे जितनी घृणा करते हैं, उससे कहीं तीव्र घृणा उनके लिए उसमें है। इस तरह उस पड़े हुए आदमी को केन्द्र बनाकर यह घृणा का चक्र

सारे वायुमण्डल में फैलता जा रहा है। जो प्रीति बखेरने के लिए ईश्वर की ओर से यहाँ आया है, वही आदमी जब नफ़रत की गन्दीली गाँठ बनकर आम सड़क पर पड़ा हुआ है, तब हमारे व्यवस्थापक कैसी सुव्यवस्था और शासक कैसा शासन कर रहे हैं? क्यों न कहा जाय कि वे कोई व्यवस्था नहीं कर रहे हैं, बस ढोंग और और आडम्बर कर रहे हैं!

नये-नये अस्पताल खुल रहे हैं और फण्ड हो रहे हैं। अच्छा है कि वह सब हो। पर महाप्रलय और महाव्याधि का बीज जो घृणा है और जिसके कीटाणु उस व्याधि के विषम रोगियों में से फूट कर चारों ओर फैल रहे हैं—उसकी ओर भी किसी का ध्यान है? बल्कि मुझे कहने दीजिए कि व्यवस्थापकों के खुद के रवैये से वे कीटाणु बढ़ते और फैलते हैं। व्यवस्थापक अभिमानी है और अभिमान नीची श्रेणी के आदमी में असन्तोष और द्वेष पैदा करने का कारण होता है। इस तरह व्यवस्थापक अस्वस्थ है और वह अस्वास्थ्य पैदा करता है।

हम न जानें, पर सभ्यता के वैभव के नीचे यह कीड़ा लगा हुआ है। हम क्या इधर-उधर की बात करते हैं। छोटे-मोटे रोगों के शमन का उपाय करते हैं। वह करें, पर अपने बीच के उस महारोग को भी तो पहचान लें। वही है जो आदमियों की शक्ति को आपसी सहयोग में समृद्ध नहीं होने देता और आपसी स्पर्धा में बरबाद कर देता है। वही है कि जिससे विषमताएँ पैदा होती हैं; विवाद, कलह, आन्दोलन और युद्ध पैदा होते हैं, जिसके कारण एक ओर भूख और दूसरी ओर ऐश देखने में आता है; जिसके कारण एक रंक है तो दूसरा राजा है।

मैंने कहा कि मौत में मुझे भय नहीं। वह तो जरूरी है। पर यदि हमारी व्यवस्था सच्ची हो तो कोई मौत घृणा का संचार करने वाली न हो। बल्कि वह प्रेम का संचार करे। सड़क पर पड़ा आदमी मरेगा तो अपने चारों ओर घृणा का एक वलय छोड़ जायगा। वह कटुता लेकर

जायगा और सबके लिए बद्दुआ छोड़ जायगा। मैं मानता हूँ कि वह बद्दुआ हमारे सिर टूटेगी। न सोचिए कि उसमें शक्ति नहीं है। रहीम ने कहा तो है कि निर्बल को न सताओ, क्योंकि उसकी मोटी हाय है। मुई खाल की साँस से क्या लोहा भस्म नहीं हो जाता ? और मैं मानता हूँ कि इस जगत् को चलाने वाली मूल शक्ति का नाम प्रेम है। जितनी प्रकार की और शक्तियाँ हैं, सब उसकी रूपान्तर हैं। वही शक्ति आदमी की करनी से रुद्ध और क्षुब्ध होकर घृणा बन जाती है। उसको अशक्ति मानना हमारा बड़ा भारी भ्रम है। वह घृणा संघटित होकर जाने क्या नहीं कर सकती ? ताज उससे धूल में गिर गये हैं और तख्त उलट-पुलट हो गये हैं। क्रान्ति और नाम किसका है ! आदमी की छाती के भीतर से, जैसे मानो धरती के गर्भ में से, हुंकार भरती हुई जब वह शक्ति उभर कर फूटती है, तब कौन उसके आगे टिकता है ? इससे न समझा जाय कि प्रभुता की ही सत्ता है, त्रास की सत्ता ही नहीं है। रुँध कर, इकट्ठा होकर वह कभी ऐसे प्रबल और अतर्क्य वेग से फूटता है कि ठिकाना नहीं।

शक्ति नष्ट नहीं होती। नष्ट कुछ नहीं होता। या तो वह उपयोग में आती है, नहीं तो चारों-ओर को खाने दौड़ती है। आदमी सचमुच बारूद का गोला है। वह जिन्दगी में अगर करने लायक कुछ नहीं कर जाता, तो न करने लायक बहुत-कुछ कर जाने को वह लाचार है। काम से नहीं तो सोच-विचार से करता है। वह या तो अपने जीवन से प्रकाश देता है या फिर अन्धकार और घृणा फैलाता है। प्रत्येक असफल जीवन अपनी जकड़ चारों ओर छोड़ जाता है, जो मनुष्य-जाति के विकास पर बेड़ी की तरह काम करती है।

हम भोले हैं अगर मानते हैं कि सड़क पर मरने को खुले पड़े आदमी से हमारा कोई वास्ता नहीं है। हम उसको लाँघकर जा सकते हैं, यह समझना भूल है। व्यवस्था न समझे कि उस मुखमरे को भूख से मरने के लिए छोड़कर वह स्वयं सुरक्षित रह जाती है। हम जीते होकर उसे

वह भ्रष्ट है कि जहाँ ऐसे दृश्य मिलते हैं। व्यवस्थापक और शासक अगर पहले इस तरफ़ ध्यान नहीं दे पाते हैं और अपनी-अपनी तनख़्वाहों और भत्तों की बात उन्हें उससे पहले सूझती है, तो वे अपने अधिकार के पात्र नहीं।

पैसा : कमाई और भिखाई

हमारे घरों में बच्चा कभी पढ़ने के बजाय खेलता है तो श्रीमती गुस्से में आकर कहती हैं "दुष्ट, पढ़ता क्यों नहीं है?" वही गुस्सा स्थायी होने पर दुश्चिन्ता का रूप ले लेता है। तब माँ कहती है, "मेरा क्या, खेलता रह, ऐसे तू ही आगे भीख माँगता फिरेगा। पढ़ेगा-लिखेगा तो हाकिम बनेगा; नहीं तो दर-दर भटकेगा।"

लड़का भीख माँगने या पढ़-लिखकर अफसरी करने के अन्तर को न समझता हुआ झल्लाकर कह देता है कि "हाँ, हम माँगेंगे भीख।"

माँ कहती है, "हाँ, भीख ही तो माँगेगा। इन लच्छनों और तुझसे क्या होगा? बेशरम, बेशऊर, दुष्ट!!" साथ ही एक चपत भी बच्चे की कनपटी पर रख देती है।

इस पर बालक का नियम बँधा हुआ नहीं है कि वह क्या करेगा। कभी रोकर बस्ते में मुँह डालकर बैठ जायगा, तो कभी मुँह उठाकर चलता बनेगा और बस्ते को हाथ न लगायेगा। कभी विरोध में भाग कर धूप में और भी जोर-शोर से गुल्ली-डण्डा खेलने लग जायगा। और कभी'''आशय, उसके मन का ठिकाना नहीं है।

आइये उस भिखमंगे की बात को ही कहाँ समझें जिसके होने की सम्भावना से माँ डरती और बालक को डराती है। उस दिन अखबार में पढ़ा कि एक आदमी पकड़ा गया। वह तरह-तरह के किस्से कहकर

स्टेशन पर यात्रियों से माँगा करता था। ज़रूर उसमें अभिनय की कुशलता होगी। विद्यार्थी अपने को कहता था, तो विद्यार्थी लगता भी होगा। इसी तरह अनाथ बालक, संकटापन्न पिता, भटका यात्री, सम्भ्रान्त नागरिक आदि-आदि बताकर सुना गया कि वह हर रोज़ ख़ासी 'कमाई' कर लेता था। उसके डेरे पर पाँच हज़ार की जमा मिली।

वह ऐसे पाँच हज़ार जमा कर पाया। सुनते हैं दस-बारह वर्षों से वह यह व्यापार कर रहा था।

हमारे पड़ोसी ने पाँच वर्ष व्यापार किया और ढाई लाख रुपया पैदा किया।

पर भिखारी जेल में है और पड़ोसी लाला रायबहादुर हैं। कारण, भिखारी की कमाई कमाई न थी और लाला की कमाई कमाई है। भिखारी ने ठगा और लाला ने कमाया। तभी पहला कैदी है और लाला मजिस्ट्रेट की कुरसी पर हैं। यानी भीख और कमाई में फ़र्क़ है।

अगर हाथ फैलाने वाले ने अपने पीछे कुछ जोड़ रखा है, तो उसका हाथ फैलाना धोखा देना है। तब क़ानून उसे देखेगा।

सज़ा मिलने पर जब हम ऐसे आदमी के बारे में सोचते हैं, तो दया नहीं होती, गुस्सा आता है। हम उसे धूर्त (दूसरे शब्दों में, चतुर) मानते हैं। हमें उत्सुकता होती है कि जाने उसने कैसे इतना रुपया जमा कर लिया होगा। बदमाश अच्छा हुआ पकड़ा गया और सज़ा मिली। हो सकता है कि उसकी सज़ा पर हमारे सन्तोष का कारण यह हो कि हमारी भरी जेब पर से इस तरह एक ख़तरा दूर हुआ। और झुँझलाहट का यह कारण हो सकता है कि पाँच हज़ार रुपये उसके पास क्यों पहुँचे, जो कहीं हमारे पास आते।

अब दूसरे भिखारी की कल्पना कीजिए जो सचमुच असहाय है। जितने दाने उसके हाथ पर आप डाल देंगे, उतने से ही वह अपनी भूख मिटाने को लाचार है। इस आदमी को पकड़ने के लिए क़ानून का सिपाही कष्ट नहीं करता; क्योंकि आसानी से लात-घूँसे मारकर या

मनुष्यता हुई तो धेला-पैसा फेंककर उसे अपने से टाला जा सकता है।

अब मन की सच बात कहिए। वह चतुर ठग और यह निपट भिखारी, दोनों में आपको कौन कैसा लगता है? चतुराई के लिए आप एक को तेज देंगे और मोहताजपन के लिए दूसरे को दया। यानी एक की व्यवस्था करेंगे, दूसरे को उसके भाग्य पर छोड़ेंगे। सच पूछिए *तो दीन भिखारी से आपको कष्ट और अमीर भिखारी से आपको गुस्सा* होता है। अर्थात् जो ठगी से अपनी सहायता कर लेता है, वह आपको लाइक आदमी मालूम होता है। पर जो इतना भी नहीं कर सकता और निरा आपकी दया पर निर्भर हो रहता है, वह आपकी आँखों में उससे गया-बीता है। मालूम हो जाय कि यह जो सामने आपके हाथ फैला रहा है, झोली में उसी के हजार रुपये हैं, तो आप उसे गौर से देखेंगे, उसमें दिलचस्पी लेंगे। अपनी कक्षा से उसे एकदम अलग और तुच्छ नहीं मानेंगे।

पर वह भिखारी जो काया से सूखा है और पेट का भूखा, आप चाहेंगे कि वह आपकी आँखों के आगे पड़ ही जाय, तो जल्दी-से-जल्दी दूर भी हो जाय। आप यथाशीघ्र पैसा फेंककर या रास्ता काटकर उससे अपने को निष्कंटक बना लेना चाहेंगे। अर्थात् झूठ मूठ के भिखारी को आप सह सकते हैं, सचमुच के भिखारी को नहीं सह सकते। दूसरा हमें अपनी ही लज्जा मालूम होता है।

अब एक बात तो साफ़ है। वह यह कि पैसा चाहिए। पेट को अन्न चाहिए और अन्न यद्यपि धरती और मिहनत पर होता है, पर मिलता वह पैसे से है। पैसा पहना नहीं जाता, खाया नहीं जाता; उससे किसी का कुछ भी काम नहीं निकलता। तो भी हर एक को हर काम के लिए चाहिए पैसा ही। यानी पैसे में जो ताँबा है, उसे खाओ तो चाहे वह किसी कदर ज़हर ही साबित हो, फिर भी पैसे की कीमत है। पैसा इसलिए कि वह कीमत उस (ताँबे) की नहीं, हमारी है। हमने वह कीमत दी है, इससे हम तक और हम पर ही वह आयद है।

पैसा क्या रुपया फेंकिए कुत्ते के आगे, वह उसे सूँघेगा भी नहीं। रोटी डालिए, तो आपकी इस उदारता के लिए जाने कितनी देर तक अपनी पूँछ हिलाता रहेगा। यानी, फर्जी के सिवा रोटी से अधिक पैसे में मूल्य नहीं है।

पैसे के मूल्य को हम कैसे बनाते हैं और हमीं उसे कैसे थामते हैं, यह एक दिलचस्प विषय है। लोग कहेंगे 'अर्थ-शास्त्र' का, पर सच पूछिए तो यह काम-शास्त्र का विषय है। काम का अर्थ यहाँ कामना लिया जाय। कामना के वश व्यक्ति चलता है। इस तरह पैसा असल मानव-शास्त्र का विषय है। व्यक्ति के मानस से अलग ताँबे के पैसे की अठखेलियों को समझना बिजली के बटन से अलग उसके चिराग को समझने जैसा होगा। कठपुतली खेल कर रही है, नाच-कूद दिखाती है, पर पीछे उसका तार थमा है बाजीगर की उँगलियों में। पर वह तार हमें दीखता नहीं, बाजीगर दुबका है और सामने कठपुतलियों का तमाशा दीखता है। बच्चे तमाशे में मगन होते हैं, पर समझदार तमाशा देखने या दिखाने के लिए कठपुतलियों से नहीं बाजीगर से बात करेंगे। पैसे के बारे में भी यही मानना चाहिए। उसका व्यापार आदमी के मन के व्यापार से वैसे ही दूर है, जैसे आदमी की उँगली से कठपुतली या बिजली के बटन से लट्टू दूर है। बीच का तार दिखता नहीं है; इसलिए वह और भी अभिन्न भाव से है, यह श्रद्धा रखनी चाहिए।

पर कहीं यह अर्थ को लेकर अनर्थ व्यापार न समझा जाय। हम शास्त्रीय अर्थ नहीं जानते। किन्तु देखा है कि अर्थ-शास्त्र सीखने वाला उस अर्थ-शास्त्र को सिखाने वाला ही बनता है। उस शास्त्र ज्ञान के कारण कभी अर्थ-स्वामी तो बनता हुआ वह पाया नहीं गया। अपने अर्थ-शास्त्र को पढ़वाने के लिए ऊपर का अर्थ-स्वामी ही अर्थ-शास्त्रियों को अपने अर्थ में से वेतन देने का काम जरूर करता रहता है। इससे प्रकट होता है कि अर्थ का भेद अर्थ-शास्त्र में नहीं है, अन्यत्र है।

थोड़ी देर के लिए पैसे का पीछा कीजिए। इस हाथ से उस हाथ, उस दूसरे से फिर तीसरे, फिर चौथे, इस तरह पैसा चक्कर काटता है। उस बेचारे के भाग्य में चकराना ही है। कहीं वह बैठा कि लोग कहेंगे कि क्यों रे, तू बैठा क्यों है, चल, अपना रास्ता नाप। किन्तु पैसे को अपनी यात्रा में तरह-तरह के जीव मिलते हैं। एक उसे छाती से चिपटा-कर कहता है कि हाय-हाय, मेरे पैसे को छेड़ो मत, मेरी छाती के नीचे उसे सोने दो।

पर, पैसे बेचारे की क़िस्मत में आराम बदा हो तो सभी कुछ न रुक जाय। इससे यदि उन प्रेमी का प्रेम पैसे की काया को छोड़ना नहीं चाहता तो उसका बड़ा दुष्परिणाम होता है। यह तो वही बात है कि खून हमारे बदन में दौड़ रहा है और कोई अवयव कहने लगे कि तू कहाँ जाता है, यहीं मेरे पास रुक जा। फोड़े जो बदन में हो जाया करते हैं, सो क्यों? किसी ख़ास जगह ख़ून की गर्दिश ठीक नहीं होती, इसी वजह से तो। यह जुदा बात है कि फोड़े भी होते असल में शरीर की स्वास्थ्य-रक्षा के निमित्त हैं। ऐसे ही कौन जाने, समाज के शरीर में कंचन की काया के प्रेमी भी किसी अच्छाई के निमित्त बनते हों। पर फोड़ा फूटता है, और कंचन-प्रेम भी टूटता ही है। ऐसे, पैसा बीच में थककर बेचारा साँस लेने को रुके, तो बात दूसरी; वैसे किसी के आलिंगन में गाढ़ी नींद सोने की उसे इजाज़त नहीं है। इस निरन्तर चक्कर से बेचारा पैसा घिस जाता है, सूरत और हरूफ़ उस पर नहीं दीखते, तब मुँह छिपा-कर जहाँ से आया वहीं पहुँचता है कि फिर उसे पुनर्जन्म मिले।

अभी थोड़े दिन पहले रानी का रुपया खिंच गया। अब आपकी गद्दी के नीचे कोई रानी का सिक्का सोया मिल जाय, तो क्या आप समझते हैं उसे सोलह आने को कोई पूछेगा? अजी, राम का नाम लीजिए। सिक्के में क़ीमत थोड़े थी। जैसे डाली गई थी वैसे वह क़ीमत खींच ली गई। अब रानी के सिक्के क्या हैं, टनटन गुपाल हैं। बस सूरत देखिए और मन भरिए।

इस पैसे की यात्रा का वर्णन कोई कर सके, तो बड़ा अच्छा हो। शास्त्रीय प्रतिपादन नहीं, वह तो आडम्बर है और बेजान है। वर्णन, जैसे कि अपनी यात्रा का हम करते हैं; यानी, सचित्र और जीवन की भाषा में। मैं मानता हूँ कि पैसे के तथ्य का किसी को यदि अनुभव हो और उसके पास कल्पना भी हो, तो वह पैसे की असलियत पर एक अत्यन्त सुन्दर उपन्यास हमें दे सकता है। पर पैसे के साथ दुर्भाग्य लगा है। वह कमबख्त है शक्ति। जिसने भी उस शक्ति को समझा, *वही उस शक्ति को बटोरने में लग गया। अब कहा जायगा कि इस* जीवन में शक्ति का संग्रह भी न किया जाय तो आखिर किया क्या जाय? कुछ कहेंगे, धर्म का संग्रह किया जाय। और सच ही कुछ जैसे सामान बटोरते हैं वैसे पुण्य भी बटोरते देखे जाते हैं। पर हाय, धर्म का संग्रह ही किया जा सकता, तो क्या बात थी! तब ऋषि कुटी न बनाकर गोदाम बसाते। अरे, वह तो स्वर्ण की जगह श्वास के संग्रह के उपदेश जैसा है। अर्थात् अपने को लुटाओ, इसी में धर्म का अर्जन है। *अब इस बात को कोई कैसे समझे और कैसे समझाए?...पैसा खरचे* बिना कभी जुड़ता है? और जो रुपया छोड़ सकता है, वही अशरफ़ी जोड़ सकता है। यह क्या हम रोज़ आँखों नहीं देखते कि जिसकी जहाँ मुट्ठी बँधी कि वह मुट्ठी उतनी ही भर रह गई। रुपये पर मुट्ठी लाने के लिए पैसे पर उसे नहीं बँधने देना होगा। अर्थात् लाखों की कमाई हज़ारों लगाए (गँवाए) बिना न होगी। इसी तरह धर्म की कमाई धन उजाड़े बिना न होगी। बात यह है कि धर्म है प्रीति और प्रीति और शक्ति में *शत्रुता है। शक्ति के ज़ोर से और सब हो जाय, प्रीति नहीं* होती। इसलिए जो प्रीति कमाए, वह शक्ति खो दे।

पर यह मैं क्या कह चला? कह रहा था कि पैसे का उपन्यासकार चाहिए। वह पैसे की काया पर न रीझे। न उसकी शक्ति पर जूझे। बल्कि उसके सत्य में ही वह तो अपनी आँख रखे। पैसे की शक्ति दिख-लाई तो भला क्या जतलाया? वह तो माया बतलानी हुई। उस

पैसे की अकिंचित्करता दिखलाई जा सकेगी, तभी मानो उसकी सत्यता प्रगट होगी। जैसे कि आदमी प्रेम में अपने को खोकर पाता है, वैसे ही निकम्मा दिखलाकर पैसे के असली मूल्य को पहचाना और बताया जा सकेगा।

मेरे हाथ में मानिए कि रुपये का एक नया सिक्का आया। वह कहाँ से आया? मैंने कुछ मिहनत की, उस मिहनत का किसी के अर्थ में उपयोग हुआ। उपयोग के रास्ते मेरी मिहनत में से अपना रुपया, और ऊपर से कुछ और भी अतिरिक्त, पाने की उन्हें उम्मीद है। इसलिए अपनी मिहनत का फल उन्हें देकर यह रुपया मैंने पा लिया। अब आता हूँ घर। वहाँ श्रीमती जी बोलीं कि माथे की बिन्दी को कब से कह रही हूँ, लाये? यानी अगले दिन मेरे हाथ से वह सिक्का बिन्दी वाले के यहाँ पहुँच जाता है।...इसी तरह हम कल्पना कर सकते हैं कि कैसे वह आदमियों की आवश्यकताएँ पूरी करता हुआ परस्पर के आदान-प्रदान का काम चलाता है।

अब परस्पर का आदान-प्रदान पैसे के माध्यम से होता है, पैसे के उद्देश्य से नहीं होता। प्रेम में व्यक्ति अपने सर्वस्व का दान कर देता है। प्रेम वह है, जहाँ देने के जवाब में लेने की भावना ही नहीं। अर्थात् मैं यहाँ चांदी के एक सिक्के की बात कर रहा हूँ; प्रेम के पथ में लाखों निछावर कर दिये गये हैं। अर्थात् पैसा जो यहाँ से वहाँ घूमता फिर रहा है, वह अपनी ताकत से नहीं, बल्कि हमारे मन की ताकत से। यह नहीं कि धन में ताक़त नहीं है। ताकत तो है, पर रेल के इंजन-सी ताक़त है। अब इंजन क्या अपने-आप चलता-फिरता है? यह कहना कि पटरी पर इंजन चलता है, ठीक है। पर हिन्दुस्तान की रेलों का इन्तज़ाम जिन सरकारी मेम्बर साहब के ऊपर है, सैकड़ों-हज़ारों इंजन और उनके चलाने वाले और उनके कल-पुर्जे समझनेवाले अपनी हरकत के लिए उनके इशारे हैं। और वह मेम्बर महाशय इंजिन पर नहीं, बल्कि कुछ और ही गहरी नब्ज़ पर निगाह रखते हैं। पर....सवारी गाड़ियाँ और

मालगाड़ियाँ जाने कितने न हज़ार लाख टन सामान और इन्सान को खींचती हुई दिन-रात इधर से उधर आ जा रही हैं। अपने दफ्तर में बैठे मेम्बर महाशय की क्या कहिए, उस रोज़ उनसे डबल वज़न का आदमी इंजन के नीचे आ गया था। उसका हाल अपनी आँखों क्या आपने देखा नहीं था ? अजी, आदमी और आदमियत का तो वहाँ पता-निशान बाक़ी नहीं रह गया था, यहाँ वहाँ बिखरा मांस ही दीखता था।...हाँ यह है, पर दूसरी बात भी है। इंजन की ताक़त सच है, पर उन मेम्बर साहब की ताक़त उस सच का भी अंदरूनी सच है। उन्हीं की कलम तो थी जिससे पचास इंजन बेचारे बक्स में बन्द होकर विलायत से हिन्दुस्तान लदे चले आये और चालीस इंजन, जो मानते थे कि हम में अभी सिसकने लायक़ कुछ जान है, उनकी एक न सुनी गई और अंजर-पंजर तोड़कर उन्हें लोहे के ढेर पर फेंक दिया गया !

चाँदी का सिक्का जैसा सच है, लोहे का इंजन भी वैसा ही सच है। फ़र्क इतना ही है कि सिक्का छोटा और हलका होने से सचाई में इंजन की निस्बत बड़ा और भारी है। इंजन इतना बोझल है कि उसी से वह सचाई में हलका है। तभी तो चाँदी के रुपये और सोने की मोहर से काग़ज़ी नोट क़ीमती होता है। कारण, वह चाँदी-सोने से हलकी और सस्ती वस्तु काग़ज़ का बना है। अर्थात् नोट में अपनी असलियत उतनी भी नहीं है, जितनी सिक्के में है। लगभग अपनी ओर से वह शून्य है। हम उसमें डालते हैं तभी कीमत की सचाई उसमें पड़ती है। इसीलिए जैसे-जैसे उन्नति होगी, काग़ज़ी सिक्का बढ़ेगा, धातु का सिक्का बेकार होता जायगा। सिक्के में क़ीमती धातु की ज़रूरत अविश्वास के कारण है। यानी वह झूठी क़ीमत है। फिर भी वह क़ीमत इसलिए है कि सच्ची कीमतों का अभी निर्माण नहीं हो पाया है उदाहरण लीजिए, दस्तावेज़। वचन झूठा है, तभी दस्तावेज़ की सचाई दरकार है; कौल सच्चा हो, तो दस्तावेज़ बेकार हो जाना चाहिये।

इस सबका मतलब यह कि पैसे की क़ीमत और शक्ति आदमी की

भावना की कीमत और शक्ति से अलग नहीं है। अर्थ-शास्त्र के नियम जीवन-शास्त्र के नियम से भिन्न नहीं हैं। यदि वे भिन्न से लगते हैं, तो इस कारण कि मनुष्य ने कामना में अपनी स्वतन्त्रता देखी है, जब कि वह स्वतन्त्रता निष्कामता में है। जो वह चाहता है और जिसको सुख का नाम देता है, समझता है उसकी कुंजी 'स्वर्ण' है। जैसे प्यासा हिरन रेगिस्तान पर की लू की झलझलाहट को पानी समझता है। पर स्वर्ण में सुख होता तो स्वर्णाधिपों के पास वह दिखाई देता। किन्तु पूछकर देखिए। मालूम होगा कि लाख के बाद करोड़ और करोड़ के बाद अरब पर आँख गड़ाए वे भागे जा रहे हैं, तो इसीलिए कि लाख में जो समझा था वह वहाँ नहीं मिला और फिर करोड़ में जो समझा वह करोड़ में भी नहीं मिल रहा है।

हमने ऊपर देख लिया कि सिक्के में अपने आप में दम नहीं है। अगर एक में दम नहीं है, तो करोड़ में भी नहीं हो सकता। जिसमें तात्त्विक कुछ है ही नहीं, उसके पहाड़-जैसे ढेर में भी कुछ कहाँ से आ जाएगा? मरीचिका में कुछ है तो यही कि वह मृगतृष्णा को प्यासा-का-प्यासा ही रखती है। धन भी जमा होकर अपनी इस सचाई को उजागर कर देता है कि मुझमें अपना कुछ नहीं है। मेरी छाया में तुम्हारी ही तृष्णा भरी है। तुम अपनी ओर से तृष्णा न डालकर मुझ में कोई दूसरी भावना डालोगे, तो फिर वह भी मेरी सचाई हो सकेगी। पर तृष्णा की राह से लोगे, तो सिवाय इस तृष्णा के मैं तुम्हें और क्या लौटा सकूँगा? मुझसे तुम्हें सुख नहीं मिलता, इससे मुझे प्यार करके भी तुम मुझे कोसते हो। पर कोसो मत, क्योंकि मैं खोखला हूँ। तुम जो भरते हो, उसी से मैं भर जाता हूँ। इससे मैं इस लायक नहीं हूँ कि मुझसे तुम कुछ चाहो या मुझे ही चाहो। क्योंकि तुम्हारी ही भूखी चाह मैं तुम्हारे आगे कर सकता हूँ। इससे तुम्हें सुख नहीं होता, नहीं होगा। पर तुम मानते हो कि अभी तनिक परिमाण में कमी है, इससे मुझे और जोड़ते हो। मुझे ही जोड़ते, फिर भी मुझे ही कोसते हो!

मैं बताता हूँ कि मैं अन्दर से रीता हूँ। मेरा सारा ढेर रीता है। जो तुम चाहते हो, वह मैं हूँ नहीं। मैं उसका द्वार हो सकता हूँ और प्रार्थना है कि मुझे तुम द्वार ही समझो, अधिक न समझो। दरवाज़े को ही जो तुम मंज़िल समझोगे, तो दरवाज़ा इसमें क्या करेगा? मंज़िल की तरफ वह तुम्हें बढ़ा सकता है। पर तभी, जब तुम उससे पार जाओ।

आज के ज़माने में बुद्धि इसी भूल में पड़ गई है। लिफ़ाफ़े को उसने ख़त समझा है। इससे ख़त नहीं पढ़ती, लिफ़ाफ़े को ही देखती समझती रह जाती है। इसीसे शाखा-विज्ञान बहुत बन गए हैं, और बीच का मेरु-दण्ड सूखते रहने को छोड़ दिया गया है। यानी विद्याएँ बहुत हो गई हैं, पर जो इन सब विद्याओं का आधार होना चाहिए, अर्थात् 'सर्वभूतात्मरूप ब्रह्म', वह उपेक्षा में रह गया है। परिणाम यह है कि अवयव सब पकड़ते हैं और हृदय को सब छोड़ते हैं। इस प्रकार की खण्डित विद्या क्या अविद्या नहीं है? क्या उस अविद्या का ही परिणाम आज के युद्ध की भीषणता नहीं है?

पर हम दूर आ गए। बात कमाई और भिखाई से शुरू हुई थी। कमाई किसे कहते हैं? धन अपने चक्कर पर आ-जा रहा है। जैसे नदी बहती है; कुछ उसमें नहाते हैं, कोई उससे खेत के लिए पानी लेते हैं, कुछ उसको देखकर ही आनन्द प्राप्त करते हैं। नदी अनेकों के अनेक प्रयोजन पूरे करती हुई समुद्र में मिलने के लिए बहती हो चली जाती है। ऐसे ही धन अपने बहाव में सब के प्रयोजनों को पूरा करता हुआ चलते चले जाने के लिए है। इस प्रक्रिया में कमाई क्या है? सच कहूँ तो उस कमाई का मतलब मेरी समझ में नहीं आता। हरिद्वार की गंगा प्रयाग आई; जो पानी हफ़्ते पहले हरिद्वार था, अब प्रयाग आ गया। क्या इस पर प्रयाग यह सोच सकता है कि हरिद्वार से हमने इस हफ़्ते गंगा के इतने पानी की कमाई कर ली? प्रयाग ऐसा नहीं सोच सकता।

पर हम ऐसा सोच सकते हैं। क्योंकि हम बुद्धिमान हैं। मेरी

तिजोरी में आज दस हज़ार रुपये हैं। बाज़ार में बैठा था, तब गाँठ में क्या था? यही सौ एक रुपल्ली होंगे। तीन साल में दस हज़ार रुपये की मैंने कमाई की! वाह, क्या बात है। मैं अपने से ख़ुश हूँ, कुनबे वाले ख़ुश हैं, और सब मानते हैं कि मैं होनहार और कर्मण्य हूँ। यह कमाई है।

अब चलिए, मैंने तो बाज़ार में तीन साल लगाए और घूमा-फिरा और मिहनत की। पर वह देखिए, क्या भाग्य का सिकन्दर आदमी है! लड़ाई आई कि रंग में दो दिन में पन्द्रह हज़ार पैदा किए! हल्दी लगी न फिटकरी और देखते-देखते मालामाल हो गए! लक्ष्मी की लीला जो है। अब सब उस भाग्य के बली और लक्ष्मी के वरद पुत्र की ईर्ष्या करते हैं। यह कमाई है।

एक मज़दूर टोकरी ढो रहा । जेठ आ रहा है; लू चल रही है; पसीना बह रहा है और वह टोकरी ढो रहा है। सूरज छिप चला; थक गया है, घर पर इन्तज़ारी होगी, पर वह टोकरी ढो रहा है। आख़िर लाला को दया आई। उन्होंने छः आने दिये। यह छः आने की कमाई है!

एक मित्र हैं। उनकी ख़ूबी यह कि वह अपने पिता के पुत्र हैं। उनके पिता की ख़ूबी थी कि वह अपने पिता के पुत्र थे। और पीछे चलें तो पाँच पुरत पहले वंश में एक पुरुषार्थी पुरुष हुआ था। उसने सामन्ती ज़माने में अपना गिरोह इकट्ठा करके एक नगर जीता और काबू किया था। उसने अपने शत्रुओं पर विजय पाई, यानी उन्हें यम-राज का घर दिखाया था। उस प्रबल पुरुषार्थ के कारण उस पुरुष के पुत्र और उसके पुत्र और उसके पुत्र, इस तरह उस परम्परा के अन्तिम पुत्र होने की ख़ूबी से मेरे मित्र की कमाई आज तीस हज़ार रुपये साल की है। वह कहाँ से है, उनकी जायदाद और ज़मींदारी कहाँ-कहाँ है, इत्यादि मित्र को पूरी तरह पता नहीं है। पर कमाई उनकी तीस हज़ार है!

एक और भाई साहब हैं। अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, और उदार और ज्ञानी और सुशील। वह कलक्टर कहलाते हैं। उनका काम है कलक्टरी। उनकी कमाई है पचीस हजार रुपया साल।

और एक वायसराय हैं। वायसरायगीरी करते हैं, जो बेहद ज़िम्मेदारी का काम है। उनकी कमाई की मुझे सूझ नहीं। वह भी खासी होनी चाहिए, *क्योंकि पसीने की वह नहीं है। पसीने की कमाई ही इतनी कम हो सकती है कि पेट न भरे।* क्योंकि पेट भरेगा तो मेहनती मिहनत से जी चुरायेगा। इससे अक्ल की ही कमाई को हक़ है कि वह लम्बी-चौड़ी हो। मिहनत की कमाई अधिक होगी, तो उससे मिहनती का नुकसान न होगा!

ख़ैर, ऊपर तरह-तरह की कमाइयाँ गिनाई हैं। इन सबमें दो बात सामान्य हैं, जिसकी वजह से वे सभी कमाई कहलाती हैं। एक तो यह कि कमाई करने वाला जेल नहीं जाता, इस कारण उसको चुराई या ठगाई हम नहीं कह सकते, कमाई ही कह सकते हैं। दूसरा यह कि हर कमाई, जिसकी वह समझी जाती है, उसकी जेब (बैंक हिसाब) में आकर पड़ती है।

इस पर से दो मूल सिद्धान्त समझे जा सकते हैं:—

१—कहीं से चलकर जो रुपया हमारी जेब या तिजोरी में आये वह हमारी कमाई है।

२—शर्त यह कि उसमें हमें जेल न हो, यानी वह वैध हो।

अर्थात् वह सब रुपया हमारा कमाया हुआ है, और उस सब रुपये पर खर्च करने का हमारा हक़ है, जो इस तरह से या उस तरह से, इस जेब से या उस जेब से, हमारी मुट्ठी तक आ जाता है। सीमा यह कि इस तरह खर्च करने वाला खुले समाज में हो, बन्द जेल में न हो।

सीमा की शर्त बहुत ज़रूरी है। कमाई और ठगाई में वही भेद डालने वाली रेखा है। जेल पा गये, तो तुम्हारी कमाई कमाई नहीं मानी जायगी। जेल पाने से बचे रहे, तो बेशक तुम्हारी कमाई कमाई

है। और तब अपने धन के परिमाण में ही तुम्हारी ऊँचाई की नाप होगी।

यह तो हुआ; पर भीख से पैसा पाने की विधि को मैं कहाँ रखूँ? उसमें भी पैसा आता है और जेल बची रहती है। भिखारी जेल पा गया तो गया। पर जेल के बाहर भिखारी के पैसे को कमाई का पैसा कैसे न माना जाय, यह मेरी समझ में किसी तरह नहीं आता है।

आप कहेंगे मेरी भाषा में व्यंग है। पर मैं सच कहता हूँ कि कमाई अगर सच्ची हो सकती है तो मुझे लगता है वह भीख की ही कमाई है, नहीं तो कमाई शब्द ही एकदम झूठ है।

पैसा मेरी जेब में आना कमाई है। बेशक मिश्र यह कि जेल मुझे न मिले। अब सवाल है कि दूसरे की जेब से, या मिहनत से, मेरी जेब में पैसा आता कैसे है? इसके कई तरीके हैं।

स्वभाव का पहला गुण लोभ कहा जा सकता है। इसलिए अपनी चीज के लिए दूसरों में लोभ पैदा करना कमाई बढ़ाने का पहला उसूल है। विज्ञापन और बिक्री की कला यही है। लोभ हुआ कि काम जागा। तब उस जेब का पैसा निकलकर आपकी जेब में आने से रुकेगा नहीं।

दूसरा तत्व है गरज़। अकाल है और लोग भूखे हैं। सबको अन्न चाहिए। अब जिसके पास अन्न है, उसने दाम बढ़ा दिये। इस तरह खिंचकर पैसा आ गया।

तीसरा है डर और अविश्वास। आगे का क्या ठिकाना, जाने कब मौत आ टूटे। तब बाल-बच्चों का क्या होगा? आग है, रोग है, चोर-डाकू हैं। इससे लाइये हमारे पास बचा-बचाकर जमा करते जाइये। हम ऊपर से ब्याज और जाने कितना और देंगे। यह भी पद्धति है जिसमें उपकार और कमाई दोनों साथ होते हैं।

या वह है जिसका नाम इंडस्ट्री (भीमोद्योग) है। हज़ारों मेहनती और भीमाकार यन्त्र। मेहनती मेहनत करते हैं, यन्त्र चलता है, और कमाई मोटी होती है। इसका रहस्य उद्योग की भीमता में है। यानी

हज़ारों का श्रम बह कर एक केन्द्र कुंड में पड़ता है। एक की एक-एक बूँद बचे तो हज़ारों हो जाती हैं। और बूँद-बूँद से घड़ा भरता है तो हज़ार-हज़ार बूँदों से क्या नहीं होता होगा।

या ज़ोर-ज़बरदस्ती है, लेकिन उसके पीछे कोई क़ानूनी बल चाहिए। जैसे ज़मींदारी, अफ़सरी इत्यादि।

एक तरीका जो बारीक है, उसका नाम सट्टा है। वह खेल सम्भावनाओं पर चलता है। उसमें भी तृष्णा उकसा कर जेबों का पैसा निकाला जाता है और वह गिनी-चुनी जेबों में निचुड़ आता है।

एक आम तरीका है, जिसको नौकरी कहते हैं। इसमें मुलाज़िम पैसा खींचता नहीं, पैसा पाता है। यानी उसके इस्तेमाल से पीठ पीछे बैठा हुआ दूसरा कोई आदमी, जो पैसा खींच रहा होता है, वह नौकर को ज़िन्दा और काम लायक़ रखने के लिए उसे खाने-पीने को कुछ देता रहता है। जेदारी

इनके बाद करुणा के ज़ोर से भी किसी जेब से पैसा निकलवाया जा सकता है। दान और भिक्षा में अधिकतर यही वृत्ति रहती है।

रुपया फिर प्रीति के नाते भी हस्तान्तरित होता है। जैसे मित्र की सहायता, परिवार का पालन आदि। वहाँ रुपये के लेन-देन में किसी एवज़ का भाव नहीं रहता।

इन सब पद्धतियों में रुपये का आना-जाना जहाँ प्रेम के कारण होता है, उसको मैं सबसे उचित समझता हूँ। उसमें न देने वाले को देने का, न लेने वाले को ही अपने लेने का पता रहता है। मानो अपने सम्बन्धों के बीच पैसे की वहाँ किसी को सुध ही नहीं है। पैसे का यह आदान-प्रदान बन्धन नहीं पैदा करता, दोनों ओर आनन्द की ही सृष्टि करता और उनके बीच घनिष्टता लाता है। पर, इस कोटि के आदान-प्रदान में कमाई शब्द काम में नहीं आ सकता। पिता ने पुत्र को सौ रुपये दिए तो इनमें पिता को सौ का घाटा हुआ और पुत्र को सौ का लाभ हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। दूसरे की जेब से निकलकर

अपनी जेब में आना कमाई है, पर वहाँ दो अलग-अलग जेबें ही नहीं हैं।

सच पूछिये तो मैं वही स्थिति चाहता हूँ जहाँ कमाई ख़त्म हो चुकी है। जहाँ जीवन की आवश्यकताएँ ही पूरी होती हैं। न आने वाले पैसे के प्रति लोभ है, न उसके आने में चतुराई का प्रयोग या अहसान का अनुभव है,

उससे हटकर कमाई की जो और कोटियाँ हैं, उनमें करुणा की प्रेरणा से जहाँ पैसा आता-जाता है, वह सह्यतर मालूम होता है। वह है दान, भिक्षा। करुणा प्रेम से भिन्न है; करुणा में बन्धन है और आत्मा पर दबाव है। उसमें दयावान् और दया-पात्र में कक्षा-भेद हो जाता है। यानी उससे दो व्यक्तियों के बीच समत्व सम्बन्ध का भङ्ग होता है। इसमें करुणा-प्रेरित दान अन्त में सामाजिक विषमता और जड़ता उत्पन्न करने का कारण होता है। उससे दोनों ओर आत्मा को प्रसार और विस्तार नहीं प्राप्त होता, बल्कि कुण्ठा और संकुचन होता है। मानो भिक्षा देने वाला भी भिखारी के सामने अपने को किंचित् लज्जित अनुभव करता है। अर्थात् पैसे का इस प्रकार आदान-प्रदान भी इष्ट और उत्कृष्ट तो नहीं हैं। अर्थात् यह कोटि पहली से उतरती हुई है, पर तीसरी कोटि से अच्छी भी हो सकती है।

तीसरी है नौकरी और मज़दूरी की कमाई की कोटि। बिलकुल हो सकता है, और शायद है, कि नौकर जिसकी नौकरी और मज़दूर जिसकी मज़दूरी करता है, उसके प्रति अन्दर से वह एकदम अश्रद्धा के भाव रखता हो। तब जो उनके बीच श्रम और वेतन का आदान-प्रदान है वह दोनों ओर हीनता और दूरी व द्वेष पैदा करने का कारण होता है।

चौथी अथवा अन्य कोटियाँ जहाँ लोभ, भय, अविश्वास उकसा कर या केन्द्रीकरण द्वारा लाभ किया जाता है, सबसे प्रचलित और सबसे वैध है। पर मुझे वह निकृष्ट मालूम होती है।

पाँचवीं है लाचारी से लाभ। वह निन्द्य है और क़ानूनन उस पर

रोक थाम भी की जाती है।

बिना मिहनत अमुक के पुत्र और पौत्र होने के बल पर जो बड़ी-बड़ी कमाइयों की सुविधा मिल जाती है—उसका भी औचित्य विशेष समझ में नहीं आता। ज़रूरी नहीं है कि एक प्रतिभाशाली पिता के पुत्र को अपनी पैत्रिक प्रतिष्ठा से हीन रखा जाय। पर स्वयं कर्म-हीन होकर वह अपने पिता की प्रतिभा के फलों को बैठा-बैठा खाया करे, यह उचित नहीं मालूम होता।

इन सबसे परिणाम निकलता है कि उत्कृष्ट स्थिति वह है, जहाँ परस्पर में लेन-देन की भावना ही नहीं है, एक-दूसरे के हित के काम आने की भावना है। इन सम्बन्धों पर आश्रित परस्पर का व्यवहार ही सच्चा व्यवहार है। अपने को और समाज को हमें उसी तक उठाने का प्रयत्न करना होगा।

पर, उससे उतरकर आदमी-आदमी के बीच करुणापूर्ण व्यवहार मुझे पसन्द है। अर्थात् कमाई की रोटी नहीं, दान और भीख की रोटी मुझे पसन्द है।

इस बात पर तनिक रुककर मुझे अपने को साफ़ करना चाहिए। मैंने पुस्तक लिखी और प्रकाशक से रुपये पाये। अब दो बात हैं: या तो मैं उसे अपनी कमाई कहूँ, या फिर मैं उसे प्रकाशक की कृपा कहूँ। मैं दूसरी बात पर क़ायम हूँ। कमाई मायावी शब्द है। उस शब्द के सहारे माया जुड़ती है और भीतर की सचाई नहीं जागती। सचाई है प्रेम। लेकिन कमाई शब्द मुझमें ऐसा भाव भरता है कि प्रकाशक को प्रेम देने में मैं असमर्थ हो जाता हूँ। मानो कि मैंने किताब लिखी, तुमने पैसा दिया। बस अब हम दोनों चुकता हैं। मानो कि एक-दूसरे को समझने की आवश्यकता और एक-दूसरे के लिए झुकने और काम आने की भावना से ही हम ऐसे चुकता हो जाते हैं। यानी हमारा आदान-प्रदान एक-दूसरे को दो किनारों पर डाल देता है और वह रुपया ही आकर बीच में खाई बन जाता है। नहीं, मैं उस रुपये को

अपनी कमाई नहीं, दूसरे की कृपा मानूँगा। आप कहेंगे कि तुम हो भोले। प्रकाशक बाज़ार में बैठता है और किसी को एक देता है तब, जब कि उसके दो वसूलता है। तुम्हारी किताब छापकर तुम्हें जितने दिये हैं, उससे चौगुने दाम अपने खरे न कर ले तो प्रकाशक कैसा ? तुम कृपा कहते हो, पर वह ठगी है। चार में तुम्हें एक देकर तीन अपनी जेब में डाले हैं। तुम्हें आँखें हों तो तुम्हें कभी सन्तुष्ट न होना चाहिए। अभी एक मिलता है, तो ज़रूर लेलो; लेकिन बाक़ी तीनों पर अपनी निगाह जमाए रखनी चाहिए। आपकी यह बात सही हो सकती है। पर, फिर भी मैं 'उनकी कृपा' की जगह 'अपने हक़' के शब्द को इस्तेमाल नहीं करना चाहता। क्योंकि मैं नहीं चाहता कि दो व्यक्ति अपनी सीमाओं पर काँटे के तार खड़े करके मिलें। ऐसे वे कभी एक-दूसरे में घुल नहीं सकेंगे और न उनमें ऐक्य उत्पन्न होगा। वैसे आपस में वे सदा कतराते रहेंगे और फल उसका वैर होगा।

इस तरह मैं अपनी कमाई का खाता हूँ—इस झूठे गर्व से मैं मुक्त हो जाना चाहता हूँ। अगर ईश्वर है, तो मेरा-तेरा झूठ है। अगर ईश्वर की यह दुनिया है, तो उसकी अनुकम्पा पर ही हम जीते हैं। अगर ईश्वर सर्वव्यापी है तो उसकी अनुकम्पा भी सब में है और उसी के बल पर हमें जीना चाहिए।

इस दृष्टि से जिसको बाक़ायदा कमाई कहा जाता है, उसको बढ़िया नहीं मानना होगा। उससे अहंकार का चक्र कसता और फैलता है। उसमें मैं तू और मेरा-तेरा बढ़ता है।

मैं जानता हूँ कि हमारे समाज में एक चीज़ है, इज़्ज़त। उसको धुरी मानकर हमारा सभ्य-जीवन चल रहा है। अरे, हरेक अपनी इज़्ज़त रखता है। कमाई नाम का शब्द उसकी इज़्ज़त को मजबूत और ऊँची बनाता है। वह कमाता है, इसलिए उसकी नाक किसी से क्यों नीची हो ? नवाब घर का नवाब हो, अपने घर में हम भी नवाब हैं। इस तरह कमाई पर टिक कर हम अपना आत्म-गर्व सुरक्षित करते हैं। इस

तरह हम इस लायक होते हैं कि किसी को अपने से छोटा समझें।

इस में तथ्य भी हो। पर जो अतथ्य है, वही मैं दिखाना चाहता हूँ। कमाई के बल पर हम सच्चे भाव में विनम्र बनने से बचते हैं। अपने इर्द-गिर्द इज्जत का घेरा डालते हैं, जो हमारे विकास को रोकता है। हम उससे अहम् को केन्द्रित करते हैं और फलतः सेवा-कर्म के लिए निकम्मे होते हैं।

संक्षेप में, अपने लिए, मैं कमाई के धन को नहीं, कृपा के अन्न को अच्छा समझता हूँ। कमाई में आगे की चिन्ता है। आगे का अन्त नहीं, इससे चिन्ता का भी अन्त नहीं। दस हज़ार हैं तो वह थोड़े, पचास हज़ार हैं, तो पाँच बेटों में बँटकर भला वह क्या रह जाएँगे? इस तरह भविष्य के अविश्वास के आधार पर चिन्ता का पहाड़-का-पहाड़ हम अपने ऊपर ओढ़ लेते हैं। तब चिड़िया जैसे सबेरा निकलते ही चह-चहाती है, वैसे हम नहीं चहचहा पाते। कमर झुक जाती है, क्योंकि अनन्त चिन्ता का बोझ उस पर हम लेते हैं। मस्तक तब आकाश में नहीं उठ सकता। दूसरे का दुख देखने की फुरसत नहीं रहती, क्योंकि हम अपने और अपनों से दब जाते हैं।

नहीं-नहीं, विश्वास का रास्ता आस्तिक का रास्ता है। कल की शंका करके आज को मैं नष्ट कैसे करूँ? और यह सच है कि आज यदि नष्ट नहीं होगा, तो कल और पुष्ट ही होने वाला है। पर कल के दबाव में आज को हाथ से जाने देते हैं तो फिर कल भी कोरा ही रह जाने वाला है।

दान की बात

दान देने को कहते हैं। दिये बिना चल नहीं सकता, जैसे लिये बिना नहीं चल सकता। कुछ या कोई अपने में पूरा और बन्द नहीं है, औरों के साथ किसी-न-किसी तरह के सम्बन्ध में वह जुड़ा हुआ है। इन सम्बन्धों के ज़रिये वह अपने लिए आपसीपन जुटाता और अपने को और अपनी आत्मीयता को फैलाता है। चेतना का स्वभाव ही यह है। शास्त्रकार ने जीव का लक्षण परस्परोपग्रह कहा है। यानी देन-लेन के द्वारा आपस में एक-दूसरे के काम आना।

साँस हम में जीवन की पहचान है। उसका आना-जाना रुका कि वही मृत्यु। भीतर से वायु लेकर उसे फिर बाहर दे देने को श्वास-प्रश्वास कहते हैं। उस ली हुई हवा का अणु भी हम अपने भीतर रोक रख नहीं सकते। सबकी सब साँस वापस लौटा देनी होती है। इसी क्रिया से हमारा जीवन चलता है। श्वास लेकर लौटा न सकें, या देकर फिर न ले सकें, तो जीवनी शक्ति समाप्त समझिये।

दान इस तरह जीव का अनिवार्य धर्म है। वह सहज धर्म है। वह उससे अलग नहीं हो सकता। जो जितना धार्मिक हो उसे उतना ही निरन्तरदानी मानिए। कुछ रहता ही नहीं उसके पास जो वह न दे। अपना सर्वस्व वह दिए हुए है। शरीर रखता है तो भी पर निमित्त। प्राप मानो उसमें उसके होकर नहीं, विसर्जित होकर रहते हैं। ऐसा

व्यक्ति यथावश्यक लेकर यथासाध्य देता है। सच पूछो तो मात्र आवश्यक भी जो लेता है वह भी ऋण रूप में। इससे वह नम्र बनता है। उस पर उसका मन प्रार्थना से भीगा रहता है। तब उसकी सब प्रवृत्तियाँ मानो ऋण-मोचन के निमित्त से होती हैं। सतत आत्मदान ही मानो उसका जीवन बनता है।

सच तो यह कि इसके सिवा दूसरा सम्भव नहीं है। वृक्ष के लिए क्या यह शक्य है कि वह अपने पर फल न आने दे? फूल के लिए सम्भव है कि वह सुरभि को अपने में रोक ले? वैसे ही मनुष्य के लिए अपने को रोक रखना या न देना सम्भव नहीं है। दे न सकेगा उससे पहले जीना ही रुक चुका होगा। वृक्ष फल देता है, फूल सुवास देता है, बादल पानी देता है, सूरज धूप देता है—यहाँ देने शब्द का प्रयोग औपचारिक ही है। असल में देने के गर्व को वहाँ कहाँ अवकाश? सब स्वानुरूप वर्तन में नियुक्त हैं। उस रूप में वे समष्टि की लीला में संयुक्त हैं। सब अपने को शेष के प्रति देते हुए जी रहे हैं। अपनी निजता को सबकी समस्तता में मुक्त करने के प्रयास में ही यह विश्व की यात्रा अनन्तकाल में से बढ़ी चली जा रही है। अखण्ड सत्य ही तो है जो नानात्व में प्रतिफलित है। जगत् की उन नाना वस्तुओं और व्यक्तियों के मध्य परस्पर आत्मदान की यह अनिवार्यता ही सृष्टि की मंगलमय व्यवस्था है। यही धर्म है। जगत् व्यापार को और किसी तरह समझना मुश्किल है।

यह जो जगत् में निरन्तर सब ओर से निःशेष आत्म-दान का समारोह सम्पन्न हो रहा है, जिसमें कोई अपने को अपने पास रोक रखने में स्वतन्त्र नहीं है, जहाँ सब अपनी-अपनी नियति में जीकर और मरकर और फिर-फिर जीकर समष्टि के चिद्विकास में आत्म-योग दे रहे हैं—वहाँ दान जैसे शब्द की स्थिति ही कहाँ रह सकती है? कौन किसको क्या दे? क्या कुछ अपना है जो देने की बात की जा सके? समस्त से अलग होकर खण्ड है ही क्या! अतः किससे कोई क्या लेगा और किसे

क्या देगा? सब भगवान् का है। उसी में से है और उसी में लीन होने के लिए है।

लेकिन फिर भी दान की बात करनी है। क्योंकि आज वह एक समस्या भी है। समस्या इसलिए कि हम में अहंकार है। और आसक्तियाँ हैं। उनके बीच में आ पड़ने से चैतन्य का प्रवाह मुक्त नहीं रहता, जगह-जगह वह रुँध और घुट जाता है। उससे क्लेश और व्याधि और युद्ध उपजते हैं। उससे आदमियों के बीच में से ही एक राजा बन उठता है, तो दूसरा रंक हो रहता है। उससे आदमी पशु तक बनता देखा जाता है कि दिन-भर जुए में जुते और शाम को दाने के लिए तरसे। उससे ऐसी अमीरी उपजती है कि जिसे समय बिताने को नए-नए चस्के ईजाद करने पड़ें और दूसरी तरफ ऐसी निपट गरीबी जिससे मौत अच्छी समझी जावे। ऐसे विषम समाज में दान का प्रश्न गम्भीर प्रश्न है।

गम्भीर है, क्योंकि सारभूत आत्मदान हमें भूल गया है, उसकी जगह हिसाबी अर्थ-दान रह गया है। मन के देने को हम नहीं गिनते। वह हिसाब में जो नहीं आता। सच पूछो तो बात वही महत्त्व की है। धर्म मन को देखता है, धन को नहीं और धन बिना मन के भी दिया जाता और दिया जा सकता है। ऐसा धन बन्धन न उपजाए तो क्या करे। उससे समाज में श्रेणी-भेद हो चलता है। उससे चैतन्य की हिंसा होती है। उससे मनों में राग-द्वेष उपजते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्रश्न मानवीय होकर ही विचारणीय है, केवल आर्थिक और यांत्रिक वह नहीं है। अर्थ के विषम वितरण और स्वार्थक्लिष्ट विनिमय के द्वारा मनुष्यता की ही जो हानि होती है वही चिन्ता की बात है। प्रश्न यही है कि कैसे सुख, शान्ति और सद्-भाव फैले; आदमी और आदमी में मत्सर की जगह प्रीति और स्वार्थ की जगह सेवा पनपे। इस इष्ट की दृष्टि से ही अर्थ के दान और उसके बटवारे का सवाल धर्मसंगत होता है।

उत्पत्ति सब श्रम से होती है। मनुष्य में कल्पना और उद्भावना

है; जगत् में उपकरण रूप साधन-सामग्री है। मनुष्य दोनों के योग से आवश्यकतानुसार वस्तुओं को उपजाता और बनाता है। मनुष्यकी बुद्धि और श्रम के इस फल के विनिमय के सुभीते के लिए सिक्का जनमा। सिक्के का स्वतन्त्र मूल्य न था। पर इधर गड़बड़ हो आई है, सिक्का श्रम पर निर्भर रहने के बजाय श्रम सिक्के के तले हो रहा है। मानो श्रम नहीं सिक्का ही धन हो। चुनांचे अवस्था यह है कि दुनिया में सब आदमियों के लायक खाना-कपड़ा और दूसरी चीज पैदा होने और बनने पर भी दुनिया में भूख से मरने वाले और कपड़ों विना ठिठुरने वाले लोग कम नहीं हैं। संस्कृति और शिक्षा के अभाव की तो बात क्या कहिए। आज की संस्कारिता तो विलास है जो मुट्ठी-भर लोगों को

से लाचार होकर उनको फौजों और नौकरियों में झुके जा रहे हैं। जो अपरिमित साधन-सामग्री पसीने के बल मानव-जाति उगाती है वह कुछ हाथों में जमा होती और वहाँ से वह फिर कृपा और दान के रूप में अन्यों को प्राप्त होती है। इस तरह दीन बनाने के बाद ही दान सम्भव होता है। दैन्य में ही दान का समर्थन है। यदि दीनता अच्छी बात नहीं है तो दान को भी बढ़ावा नहीं देना होगा। दैन्य को यदि दूर करना है तो दान की संस्था को क्रमशः इतना शुद्ध करना होगा कि उसमें दया-भाव के लिए गुञ्जायश न रह जावे। यह उत्तरोत्तर हृदय का ऐसा सहज और अनिवार्य धर्म हो आए जैसे मेघ का जलदान। आज तो देने वाला कृपालु है और लेने वाला प्रार्थी है। दो व्यक्तियों के बीच यह दयालु और दयनीय, मालिक और दास का सम्बन्ध कृत्रिम सम्बन्ध है। उससे मनुष्य का गौरव नहीं बढ़ता। उससे उलझन बढ़ती है और मैल बढ़ता है। इसलिए दान को उस धरातल पर पहुँचाना होगा जहाँ देने वाले को अपने को दाता मानने के दम्भ से छुटकारा मिले और लेने वाला

भी अपने को उस कारण निम्न अनुभव करने की आवश्यकता से बचे।

यह स्वाभाविक है कि धन को अतिरेक से अभाव की ओर चलना हो। यह अनिवार्य है। इस प्रक्रिया को बहुत काल रोका नहीं जा सकता। अब इष्ट यह है कि यह क्रिया ऐसे सम्पन्न हो कि दोनों ओर हार्दिक ममता और प्रीति की सम्भावना बढ़े।

आज तो हमारे बीच सरकार नाम की संस्था सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है। वह नोट और सिक्के छापती है। हमारे जीवन का नियमन उसके हाथ में है। धन की कुन्जी उसके पास है और वितरण के साधन उसके हाथ में हैं। धनवान उसी की छाया में और संरक्षण में बना जाता है। इसलिए मुख्यता से दीनता के सवाल का आरोप उस सरकार पर आता है। उसके निवारण का उपाय भी बहुत कुछ उसके हाथ है। सरकार सचमुच चाहे तो इस बारे में काफी कर सकती है। लेकिन प्रजा से अलग होकर सरकार का अस्तित्व भी क्या है? तिस पर आजकल लोक-तन्त्र का राज समझा जाता है। इसलिए लोक-जीवन की भी कम ताकत नहीं माननी चाहिए। इससे लोकमत के नेता और निर्माताओं पर यह दायित्व आता है कि दान की संस्था को ऐसा शुद्ध करें कि उससे मानव में दैन्य की जगह चैतन्य बढ़े। अगर हम ऐसा समाज चाहते हैं जिसमें हर आदमी दूसरे से नफा उठाने के बजाय उस को लाभ पहुँचाने की सोचे, और ऐसी अहिंसक-समाज रचना में अपना भाग भी लेना चाहते हैं, तो दान से, क्रय-विक्रय छीन-झपट अथवा दूसरी पद्धति से जो अर्थ इधर-से उधर होता रहता है, सो उसकी गतिविधि समझनी होगी। उस पर निगाह रखनी होगी। निगाह वह धर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन की होगी। वह सम्यक्-दृष्टि हमें बताएगी कि इस धन के अमुक यातायात में कितनी तो अहिंसा की सिद्धि होरही है अथवा कितना हिंसा मय शोषण हो रहा है। दृष्टिसम्यक् हो तो श्रम ही धन है। इस दृष्टि से धन श्रमिक का है। इसलिए जो श्रमिक का है उस धनका वितरण ऐसा होना चाहिए जिसमें मुद्राकी तुलना में श्रम का और श्रमिक का

महत्त्व बढ़े, श्रम में और श्रमिक में स्वावलम्बिता आवे, और पर-निर्भरता दूर हो। श्रममें मजूरी के भाव की जगह स्वाधीन चेतना उत्पन्न हो और इस तरह उत्पादक शारीरिक श्रम में बुद्धि-कौशल का भी योग होने लगे। इस प्रकार श्रम के साथ स्वाभिमान का सामञ्जस्य होगा, श्रमिक मनस्वी बनेगा और मानव-समाज का अन्तरङ्ग से स्वस्थ परिगठन आरम्भ होगा। अन्यथा जो धन काम करने वाले को स्वाधीन न रखकर अनुगत और परमुखा-पेक्षी बनाता है उससे सच्चा लाभ नहीं होता। धन का वह दान जिससे कार्यकर्ता में तेजस्विता की हानि हो, इष्ट नहीं है। दूसरे शब्दों में धन का वही दान शुभ है जो श्रद्धापूर्वक किया जाता है। उसमें कार्यकर्ता को अन्तःस्फूर्ति प्राप्त होती है। नहीं तो जिस धन से कार्यकर्ता की आत्मा दबती हो उसमें भला क्या असली लाभ मिलने की आशा हो सकती है?

ऊपर की इस सब बात में से हम निम्नांकित परिणाम प्राप्त कर सकते हैं:—

१. दान हार्दिक हो। इसमें यह अवकाश न रहेगा कि कोई अपने को दाता गिने।

२. हृदय की विवशता से दिया गया दान तात्कालिक ही हो सकता है। अर्थात् देने की भावना और देने की क्रिया में व्यवधान तब नहीं हो सकता। दान की वसूली का जहाँ प्रश्न उठे वह दान ही नहीं है।

३. दिये दान को तत्काल अपने से अलग कर उस व्यक्ति अथवा संस्था को सौंप देना चाहिए कि जिसके प्रति देने की भावना है।

४. श्रद्धा का होकर दान शर्त के साथ नहीं होगा। भावना की स्पष्टता की जासकती है।

५. कृपा के भाव से दिया गया दान निकृष्ट है। उसमें दोनों ओर आत्मा की हानि है।

६. दान की रकम का यदि ट्रस्ट बनाया जाय तो उचित यह है कि

देने वाला अपना नाम ट्रस्टियों में न रखे। मैनेजिङ्ग ट्रस्टी तो उसे बनना ही नहीं चाहिए।

७. दान वहाँ देना उचित है जहाँ उसका सीधा उपयोग है। अर्थात् जहाँ फिर वह रकम ब्याज पर नहीं लगाई जाने वाली है।

८. शर्त के साथ दिया दान शंकित मन का है। उसमें से अश्रद्धा और फैलती है। ऐसा दान श्रेष्ठ नहीं है।

९. सार्वजनिक कोषों में बड़ी रकमें दान देने वालों को अधिकारी पद पर आने से बचाना चाहिए।

१०. धन श्रम का प्रतीक है। इसलिए वह श्रमिकों का अर्थात् काम करने वालों का हो—यह भावना रखकर दान देना चाहिए। आशय यह कि दी गई राशि के संचालन और उपयोग का दायित्व एवं अधिकार अधिकाधिक कार्यकर्ताओं के हाथ आता जावे।

११. देने वाले की भावना दानी के गुण-स्थान से आगे सेवक के गुण-स्थान तक बढ़ने की होनी चाहिए। सेवा-धर्म के लिए दान प्राप्त करने वाला सेवक और दान देने वाला दानी, इनमें सेवक का गुण-स्थान ऊँचा है। दानी को उस ओर, यानी अपरिग्रहशीलता की ओर, उठने का सदा यत्न करते रहना चाहिए।

१२. पैसे में शक्ति है। शक्ति में मद है। मद विष ही ठहरा। उसमें स्वतन्त्रता की हानि है। सम्यग्दर्शन द्वारा यह पहचान कर धन के साथ वर्तन करना चाहिए। ऐसा सम्यक्-दर्शी धन के दान द्वारा यश, मान, प्रभुता या और तरह के लौकिक लाभ की चाहना नहीं रखेगा।

१३. धन की सच्ची संज्ञा है क्रय-शक्ति। उससे चीज़ों के साथ आदमी भी खरीदे जा सकते हैं। कारण, आदमी को चीज़ें चाहिएँ। उन चीज़ों का अभाव या मँहगाई पैदा करके आदमियों को बिक्री के बाज़ार में खींच लाया जा सकता और उनका मोल भाव किया जा सकता है। पैसे की यह शक्ति दानवी शक्ति है। सच्चा दानी इस दानवी शक्ति के उपभोग में दुःख और उसके परिहार में सुख मानेगा।

१४. दान वह जो पैसे में से दानवी शक्ति खींचे और दैवी शक्ति उसमें भरे। अर्थात् देने वाला दान में प्रायश्चित्त की भावना रखे और माने कि जो धन उसके पास से जा रहा है वह तो उस नारायण का ही था और है जो दरिद्र का रूप धरकर उसकी मानवता की परीक्षा ले रहा है। यदि मैंने अब तक उस दरिद्र नारायण का ही रोकडिया अपने को नहीं माना है तो यह बेईमानी और चोरी की है। इस भावना के द्वारा धन में दैवी शक्ति डाली जा सकती है।

१५. अहंभावना से दिया गया दान दीनता और विषमता पोसने और बढ़ाने वाला है। धर्म (अकिंचन) भावना से दिया गया दान प्रीति और सद्भाव बढ़ाएगा।

१६. मुद्रा-धन का स्रोत सरकारी (दंड) शक्ति है। धर्म का स्रोत व्यक्ति की भावना है। सरकार की ओर से कानून के बल से लाई गई आर्थिक और सामाजिक समता के नीचे भाव के वैषम्य और विकार के बीज रहेंगे ही। प्रबल-से-प्रबल कानून-बल और शस्त्र-बल उस विषमता को निर्मूल नहीं कर सकता। इस तरह राजनीतिक प्रयत्न एक विप्लव के बाद दूसरे और एक युद्ध के बाद दूसरे युद्ध को लाये बिना नहीं रह सकता। स्थायी संस्कार के लिये मानव-मन का धार्मिक परिष्कार जरूरी है। इसका आशय यह कि सम्पन्न वर्ग स्वेच्छा से नीचे झुके और दलित वर्ग का सेवक बने। धार्मिक दान इसी इष्ट की दृष्टि से है। दूसरी तरह का दान राजनीतिक-चक्र को पुष्ट करता है और बन्धन को मजबूत करता है।

१७. इससे जहाँ तक हो सरकार के सम्बन्ध को दान और उसकी व्यवस्था के बीच में न लेना ही अच्छा है। सहयोग समिति या ट्रस्टी-संघ बनाकर उसकी सुव्यवस्था की जा सकती है। इन समिति और संघों को आज दिन सरकार से रजिस्टर्ड कराने में कोई आपत्ति नहीं है।

१८. ध्यान रखना होगा कि अन्त में किसी भी शस्त्र-बल या बाह्य-बल के बिना मानव-जाति को अपनी अन्तरङ्ग शान्ति और

व्यवस्था कायम रखने लायक होना है। यह ध्येय अन्तर्यामी भगवान् के सिवा किसी दूसरे न्यायकर्ता को बीच में लेकर काम चलाने की आदत से पूरा न होगा। अर्थात् दान की रकमों या सार्वजनिक कोषों का मुकदमा सरकारी अदालत में न होकर पंचायतों में आना चाहिये।

शायद इन परिणामों की अङ्क-गणना जरूरत से ज्यादा हो गई। दान तो मूल में एक ही है। हम में स्वत्व की वासना है, तो आत्म-दान की भावना भी है। मेरी श्रद्धा है कि व्यक्ति में स्वार्थ से भी गहरी परमार्थ की जड़ है। अन्यथा तो इमी जगत् में, जहाँ सब अपनी दो दिन की ज़िन्दगानी से और उसके रोग-भोग से चिपटे दीखते हैं, उन महापुरुषों के चरित का क्या अर्थ है कि जो स्वेच्छा से मृत्यु को स्वीकारते हैं और जीवन को तिल-तिल होमते हैं? क्या वे हमारे ही अन्तर्भूत सत्य को हमारे ही आगे प्रगट नहीं कर जाते? नहीं तो कोई कारण न था कि उन तपोधन हुतात्माओं को हम भूल न जाते। मैं मानता हूँ कि कहीं निछावर कर डालने के लिए ही हम इस जीवन का रक्षण और पोषण करते हैं। प्रीति-प्रेरित वह आत्मार्पण ही हमारे समूचे आत्म-संग्रह की सार्थकता है। उसी भाँति निष्कांक्षित दान में ही समस्त अर्जन की सार्थकता है। दान नहीं तो अर्जन क्या चोरी ही न है? अर्जन तो एक मिथ्याचार है, दान ही यत्किंचित् उसको सत्यता प्रदान करता है। आत्म-साधक के लिए इसी से अपरिग्रह धर्म बताया है। जो जितना आत्म को पाता चलता है उतना ही वह पदार्थ से उत्तीर्ण होता और उस पदार्थ को छोड़ता चलता है। पर में से छूटे बिना स्व की उपलब्धि कहाँ? इससे जो बाह्य में दान है, वह तो भीतर में लाभ है। सच ही सम्पूर्ण आत्म-लाभ का उपाय निश्शेष आत्मदान के सिवा दूसरा और नहीं रहता है। सब प्रकार के दानों में इस आत्म-दान की जिस अंश में सिद्धि होती हो असल में वहाँ उतना ही सार मानना चाहिए।

दीन की बात

उस दिन एक तीर्थ पर देखा कि सड़क के दोनों ओर पाँत-के-पाँत भिखारी बैठे हैं। उनमें बालक हैं, बूढ़े हैं, स्त्रियाँ हैं। कुछ अपङ्ग हैं, ज्यादा रोगी हैं, सभी दीन हैं।

अधिक तीर्थों की यात्रा का लाभ मुझे नहीं मिला है। इससे ऐसा दृश्य सामने आने का मेरे लिए यह पहला मौका था। उन भिखमंगों की तादाद थोड़ी नहीं थी। उस वक्त तो ऐसा मालूम हुआ जैसे उनकी गिनती का अन्त ही नहीं है। मील-सवा-मील चलते चले जाइए राह के दोनों किनारे उन्हीं उनसे भरे थे।

एक बार तो उनके सामने होकर मन बैठने लगा। आगे बढ़ा नहीं जाता था। जी हुआ कि चलो लौट चलो। उन आदमियों की पुकार ऐसी थी कि बस! आदमी में कुछ आदमियत होनी चाहिए, तनिक इज्ज़त का भी ख्याल चाहिए। पर इज्ज़त का ख्याल या आदमियत का सवाल जैसे उन्हें छू भी न गया हो। मानो कोई काम नहीं जो आपसे पैसा पाने के लिए वे नहीं कर सकें। मनुष्यता का यह रूप सहसा भला किसके लिए आसान है। मैं जानता हूँ कि यह खुद उनके लिए आसान नहीं है।

औरों को क्या कहूँ? मैंने तो तब एक काम किया। कठोरता से अपनी आँखों को नीचा कर लिया। इधर-उधर देखूँ ही क्यों, जब देखना

दूभर होता है। पर पलक से ओझल करने से क्या सचाई को ओट में डाला जा सकता है ? इससे सच पूछो तो, इस तरह मैंने अपनी मान की ही रक्षा की।

उस सङ्कट के समय सौभाग्य से मुझे अपने से एक सांत्वना प्राप्त हो सकी। वह यह कि उस वक्त मैं भी पैसे का स्वामी नहीं था। (शायद इसी कारण हो कि) तब आँख नीची करने पर एक बात अत्यन्त सत्य के रूप में मेरे भीतर स्पष्ट हो उठी। वह बात यह कि खुद पैसे वाला होना भिखारी के भिखारीपन में सहायी होना है। धनवान होना निर्धन का व्यङ्ग करना है। और कि यदि सचमुच हम दीन के प्रति प्रेम से खिंचकर सेवा-सहायता करना चाहते हैं तो उसकी दिशा यही हो सकती है कि हम और वह बराबरी पर आकर मिलें। पर क्योंकि सब दीन धनिक नहीं बन सकते, यानी मैं सबको धनिक नहीं बना सकता, इससे बराबरी का एक ही मार्ग रह जाता है। वह मार्ग यह कि मैं स्वयं स्वेच्छा-पूर्वक दीन बन चलूँ।

जान पड़ता है कि इस अनुभूति के सहारे मन को टिकाकर उस सड़क चले चलना उस समय मेरे बस का हो सका, नहीं तो···

लेकिन हज़ारों स्त्री पुरुष भी रोज़ इस सड़क पर आते-जाते हैं। तभी तो जाने कहाँ-कहाँ के भिखारी यहाँ आ जमा हुए हैं। उन शत-सहस्र नर-नारियों के मन की हालत मैं नहीं जानता। अधिकांश उनमें तीर्थ-यात्री पुण्यार्थी होते हैं। दूर-देश से कष्ट उठाकर भक्ति-भाव से भरे वे आते और कुछ अतिरिक्त कष्ट उठाकर तीर्थ-दर्शन करके फिर अपने दूर-देश चले जाते हैं। इन हाथ फैलाए बैठे कङ्गालों को राह में वे दान भी करते जाते हैं। अन्न देते हैं, वस्त्र देते हैं, पाई-धेला-पैसा देते हैं। वे कोमल चित्त के लोग दया से द्रवित होकर दान-पुण्य द्वारा अपना और दीनों का, दोनों का भला करते हैं।

मुझे इन दया के विषय में कुछ कहना नहीं है। जो दया कर सकता है उसे दया करनी चाहिए। लेकिन यह बात मेरे मन में ज़रूर उठती है

कि अपने को दयावान की जगह पर पाना और इस तरह दूसरे को दय नीय स्थिति में डालना क्या उचित है ? क्या इससे हालत कुछ सुधरती है ? क्या यों विषमता बढ़ती ही नहीं है ? क्या इससे बखेड़ा थोड़ा भी निपटता है ? क्या इससे भिखारी से उसका भिखारी-पन तनिक भी उतर कर दूर होता है ? क्या ऐसी दया अपने दायित्व से बचने का ही एक जतन नहीं है ? यह दया आत्म-विसर्जन के विरोध में आत्म-संरक्षण का ही एक ढंग नहीं है ? क्या आत्म-ग्लानि को इस बहाने हम टाल ही नहीं जाते हैं ? एक मुट्ठी नाज या उतरा कपड़ा या ताम्बे का पैसा देकर क्या अपने मान को ही दुरुस्त रखने की कोशिश हम नहीं करते हैं ?

दया ग़लत नहीं है। लेकिन विचारवान के लिए क्या वह दया काफ़ी हो सकती है ?

पर यहाँ हम सावधान रहें। दया में कुछ देना ही होता है। चाहे स्थूल हो, या सूक्ष्म, दया में त्याग अनिवार्य है। त्याग से बचने के लिए दया से बचना पाप है। तर्क-वितर्क करके जो त्याग-रूप कर्त्तव्य से ही छुट्टी पा लेता है, मुझे इसमें सन्देह है कि वह कोई ठीक काम करता है। सन्देह है कि ऐसा तर्क-वितर्क घोरतर आत्म-प्रवंचन ही तो नहीं है ? मैं स्वीकार करूँ कि जो त्याग से बचा है, वह अवश्य प्रवंचक है।

तर्क के सहारे त्याग से बचा जा सकता है, बचा जाता है। वैसा तर्क विनाशकारी है। किन्तु देख यह भी पड़ता है कि दया-भावना भी उस त्याग-धर्म से छुटकारा पाने के काम में आती है। पैसा या कपड़ा या नाज देकर जैसे हम खुद अपने को देने के धर्म से बच जाते हैं; ऐसा त्याग गहरे स्वार्थ-त्याग से हमें बचा देता है और एक तात्कालिक चैन हमें पहुँचा देता है।

सवाल होगा कि तो क्या फिर दीन की खातिर स्वयं दीन बनना होगा ? इस तरह क्या दीन की दीनता दूर हो जायगी ?

कहा जायगा कि हम खुद धनिक होकर निर्धन में जो एक डाह और

द्वेष और स्पर्द्धा की भावना जगाते हैं, उससे यदि निर्धन व्यक्ति चाहे तो उसका भला ही हो सकता है। इस प्रकार उसमें अपनी हालत में असन्तोष जागता है, बेचैनी पैदा होती है। आशा की जा सकती है कि ऐसे ही चैतन्य उसमें चेत जायगा और कर्तृत्व और कर्मण्यता भी प्रकट हो आयगी। जो नीचे है, गिरा हुआ है, उसके लिए खुद गिर जाना ग़लत होगा। सही यही होगा कि हम बराबर ऊँचे हो चढ़ते जायँ, जिससे कि निम्न की निम्नता उसे और भी चुभने लगे और वह भी उठने का जतन करने लगे। बराबरी हो तो ऊँचाई पर होनी चाहिए न। मैं धनाढ्य हूँ और बराबरी हुई रखी है अगर निर्धन भी मेरे जैसा बन जाय। पर अगर मैं उसे अभी बराबरी का दर्जा दूँ तो क्या यह उसकी निर्धनता को उचित ही स्वीकार कर लेना न होगा? इस दृष्टि से धनिक होकर मैं अपने को झुका नहीं सकता और खुद निर्धन के हक़ में मुझे उसके बराबरी के दावे को नहीं सुनना चाहिए।

इस प्रकार की दलील से धनाढ्य के और अधिक धन-संग्रह करने की धुन का समर्थन किया जा सकता है और निर्धनों को हिक़ारत की नज़र से देखा जा सकता है। तिस पर समझा जा सकता है कि यह हिक़ारत की नज़र निर्धन को उन्नत होने की प्रेरणा देगी।

लेकिन मेरे चित्त को ऊपर का तर्क नहीं छूता। मुझे वह भ्रान्त मालूम होता है। उसकी जड़ खुदी और खुदगर्ज़ी में दुबकी हुई मालूम होती है।

समता के दो प्रकार कहे जा सकते हैं। एक यह कि मैं मानूँ कि मुझ से बड़ा कोई नहीं है। बड़े-से-बड़े के मैं बराबर हूँ। और जो हठात् मुझे अपने से बड़ा दीखता हो, आलोचना से टाँग पकड़कर उसे अपने बराबर खींचने की कोशिश करूँ। यह एक प्रकार है।

दूसरा प्रकार है कि मैं अपने से छोटा किसी को न मानूँ। जो अपने को छोटा मानता है, उससे इस प्रकार व्यवहार करूँ कि वह अपने छुटपन को भूल जाय। सब का मान करूँ। आलोचना करूँ तो

अपनी ही, या दूसरे की तो प्रेम-वशात, और छोटे से भी छोटा अपने को मानने को तैयार रहूँ।

पहला बताता है कि मैं किसी को बड़ा न मानूँ। दूसरा सुझाता है कि मैं किसी को छोटा न समझूँ

मेरा विश्वास है कि पहले ढंग से बराबरी नहीं बढ़ेगी, बड़ा-बड़ी बढ़ेगी और विषमता बढ़ेगी। और सच्ची समता यदि समाज में थोड़ी-बहुत कभी कायम भी होगी तो वह दूसरी ही पद्धति को अंगीकार करने से होगी, अन्यथा नहीं।

मैं इस चाह को गलत मानता हूँ कि मैं धनवान बनूँ। मुझे कोई हक़ ऐसी इच्छा रखने का नहीं है। ऐसी तृष्णा असामाजिक है, यानी सामाजिक अपराध है। इसमें ज़रूरी तौर पर यह शामिल है कि मैं दूसरे को निर्धन देखना चाहता हूँ। धनवान होने में स्वाद तभी तक है जब तक कि पड़ौस में कोई निर्धन भी है। अगर मुझे उस स्वाद का लोभ है, वह रस मुझे अच्छा लगता है, तो यह बात झूठ है कि मुझे दीन की दीनता बुरी लगती है। दीन के दैन्य में मुझे जब तक अन्दरूनी तृप्ति है, तभी तक स्वयं धनवान होने की तृष्णा मुझमें हो सकती है। मैं मानता हूँ कि वैसी तृष्णा में अहंकार का सेवन है। और अहंकार को चैन तभी मिलता है जब दूसरा अपने से नीचा मालूम होता है।

व्यवहार में देखें कि धनवान का क्या अर्थ होता है। चारों ओर झोंपड़ियाँ हों और उनके बीच मेरा मकान पक्की ईंटों का बना हो तो मैं अपने को धनवान लगूँगा। मुझे उस मकान का मालिक होने पर गर्व होगा। वही मकान यदि शहर में है, जिसके आस-पास आलीशान हवेलियाँ हैं, तो वही मुझे अपनी दीनता का प्रमाण मालूम होगा और मैं उस पर लज्जित दीखूँगा। इससे धनवान होने की इच्छा में ही गर्भित है कि कोई दीन भी हो। हम धनवान होना चाहते हैं, यानी हम दीन को दीनतर बना देना चाहते हैं।

इसलिए जो नीति तुम्हें और हमें सांसारिक सम्पन्नता के रास्ते पर

आगे-से-आगे बढ़ने की ओर उकसाती है, वह नीति ग़रीबों के हक़ की नहीं है। वह उनका भला नहीं चाहती। सच पूछा जाय तो उस नीति के पेट में नीयत स्वार्थ की है। उस नीयत का मुँह बाहर न दीखता हो, पेट में छिपी उसकी जड़ है ज़रूर।

उसके विरोध में जो नीति सब के भले का दावा करना चाहती है; ख़ास तौर से ग़रीबों का, यानी हर देश और हर काल के बहुसंख्यक वर्ग का, भला करना चाहती है, वह दुनिया की तृष्णा और संचय के लोभ पर खड़ी नहीं हो सकती। सार्वजनिक हितकर्म की नीति धन नहीं, मन चाहेगी। वह अमीर बनने को बड़ा बनना नहीं मान सकती। वह पैसे पर आश्रित सम्बन्धों को बढ़ावा नहीं दे सकती।

अगर समाज एक है तो दीन की दीनता के दोष से हम अपने को अछूता नहीं मान सकते। अगर दीनता के कारण उस आदमी में मनुष्यता तक नहीं रह गई है, वह जानवर और अपराधी बनता जा रहा है, तो याद रखना चाहिए कि हम अपनी अमीरी निष्क्रियता से उसमें मदद दे रहे हैं। अपनी आराम-देह स्थिति से चिपट कर हम उसकी तकलीफ़ को क़ायम बना रहे हैं। उसका मनुष्यता पर से विश्वास उठता जा रहा है तो क्या इसलिए नहीं कि हम लोग उसका विश्वास करने को तैयार नहीं होते? समाज-मान्य हम लोग उससे बन्धु-भाव से व्यवहार करने को तैयार नहीं हैं तो वह क्यों न समाज-द्रोही हो? क्या हम उसे इस प्रकार लाचार ही नहीं करते कि वह मानवता का द्वेषी बन आये?

आशय यह नहीं कि व्यक्ति के दुःख का दोष मैं व्यक्ति पर से टाल कर एकदम समाज पर डाल देना चाहता हूँ। व्यक्ति अपने दुख के सम्बन्ध में निर्दोष तो हो ही नहीं सकता। कर्मफल का सिद्धान्त अटल है और वह सर्वथा वैज्ञानिक है। पर वह बात व्यक्ति पर समाप्त होकर क्या चुक जाती है? व्यक्ति का दुःख समाज के छिए घुन है। इसलिए दुखी व्यक्ति के दुःख का सवाल हमारा-तुम्हारा यानी उन

सुधार नहीं किया जा सकता है। दीनावालों, अनाथालयों और अन्न-क्षेत्रों से हानि बची नहीं है, बढ़ी है। सवाल को आर्थिक और सिर्फ आर्थिक समझे जाने को ही सुधारना होगा। रूप उसका आर्थिक हो, पर मूल में अर्थ पहुँच गया है तो अनर्थ है। मूल में तो हार्दिक वेदना ही हो सकती है। वेदना यानी विसर्जन और त्याग। और जहाँ मूल में वह नहीं है, वहाँ तमाम आर्थिक योजनाएँ विफल हैं। विफल ही नहीं, बल्कि वे दुष्फल आगे ला सकती हैं। यह बात आजकल इसलिए भी कहना आवश्यक होगया है कि विज्ञान के नाम पर अर्थ को मूलाधार माना जाने लगा है और विचार-मात्र को आर्थिक चाहा जाता है। लोग हैं जो आदमी कुञ्जी अर्थ में देखते हैं। वे विश्वास दिलाना चाहते हैं कि जो कुछ होता है, अर्थ-प्रयोजन को सामने लेकर होता है। कि स्वार्थ ही मनुष्य की प्रेरणा है। लेकिन वे नहीं जानते, वे सही नहीं हैं। अगर यही सही होता तो सब सवाल समाप्त थे। तब किसी को किसी से क्यों गरज होती। लेकिन ऐसा न हो सकेगा। एक का सबसे नाता है और अगर दूसरे का दुःख उसे नहीं छूता तो वह आदमी नहीं है, जड़ है। मैं जड़ नहीं हूँ, अगर इसका प्रमाण है तो यही कि मैं दूसरे के दुःख में दुखी हो सकता हूँ, मुझ में संवेदन है। और अगर यह सच है तो मनुष्य वह सच्चा और वह ऊँचा और वह श्रेष्ठ है जो अधिक-से-अधिक दुख को अपना सकता है यानी उसके लिए अपना अधिक-से-अधिक उत्सर्ग कर सकता है, जो निरन्तर सब के लिए होम होता रहता है।

मुझे दीखता है कि उसी ओर चलना सच्चा उपाय है। नहीं तो दुःख के सवाल की कोई और पकड़ नहीं है।

व्यवसाय का सत्य

एक रोज़ एक भेद ने मुझे पकड़ लिया। बात यों हुई। मैं एक मित्र के साथ बाज़ार गया था। मित्र ने बाज़ार में कोई डेढ़ सौ रुपये खर्च किये। सो तो हुआ, लेकिन घर आकर उन्होंने अपना हिसाब लिखा और खर्च खाते सिर्फ़ पाँच रुपये ही लिखे गये। तब मैंने कहा, "यह क्या?" बोले, "बाकी रुपया खर्च थोड़े ही हुआ है। वह तो इन्वेस्टमेण्ट है!"

इन्वेस्टमेण्ट : यानी खर्च होकर भी वह खर्च नहीं है, कुछ और है। खर्च और इस दूसरी वस्तु के अन्तर के सम्बन्ध में कुछ तो अर्थ की झलक साधारणतः मेरे मन में रहा करती है; पर उस समय जैसे एक प्रश्न मुझे देखता हुआ सामने खड़ा हो गया। जान पड़ा कि समझना चाहिए कि खर्च तो क्या, और 'इन्वेस्टमेण्ट' क्या? क्या विशेषता होने से खर्च खर्च न रहकर 'इन्वेस्टमेण्ट' हो जाता है? उसी भेद को यहाँ समझकर देखना है और उसे वणिक जीवन की परिभाषा में भी फैलाकर देखेंगे।

रुपया कभी जमकर बैठने के लिए नहीं है। वह प्रवाही है। अगर वह चले नहीं तो निकम्मा है। अपने इस निरन्तर भ्रमण में वह कहीं-कहीं से चलता हुआ हमारे पास आता है। हमारे पास से कहीं और चला जायगा। जीवन प्रगतिशील है, और रुपये का गुण भी गति-

शीलता है। रुपये के इस प्रवाही गुण के कारण यह तो असम्भव है कि हम उसे रोक रखें। पहिले कुछ लोग धन को ज़मीन में गाड़ देते थे। गड़ा हुआ धन वैसा ही मुर्दा है जैसे गड़ा हुआ आदमी। वह बीज नहीं है जो धरती में गड़कर उगे। गाड़ने से रुपये की साख बिगड़ जाती है। फिर भी उसमें प्रत्युत्पादन शक्ति है, उस शक्ति को कुण्ठित करने से आदमी समाज का अलाभ करता है। खैर, रुपये को गाड़कर निकम्मा बना देने या उसे क़ैदखाने में बन्दी करके डाल देने की प्रवृत्ति अब कम है। रुपया वह है जो जमा रहने-भर से सूद लाता है। सूद वह इसलिए लाता है कि कुछ और लोग उस रुपये को गतिशील रखते हैं, वे उससे मुनाफ़ा उठाते हैं। उसी गतिशीलता के मुनाफे का कुछ हिस्सा सूद कहलाता है।

रुपया गतिशील होने से ही जीवनोपयोगी है। वह हस्तान्तरित होता रहता है। वह हाथ में आता है तो हाथ से निकलकर जायेगा भी। अगर हमारे जीवन को बढ़ना है तो उस रुपये को भी व्यय होते रहना है।

लेकिन उस व्यय में हमने ऊपर देखा कि कुछ तो आज 'व्यय' है, कुछ आगे बढ़कर *"पूँजी"* हो जाता है—*"इन्वेस्टमेण्ट"* हो जाता है। समझना होगा कि सो कैसे हो जाता है।

कल्पना कीजिए कि दिवाली आने वाली है और अपनी-अपनी माँ से राम और श्याम को एक-एक रुपया मिला है। राम अपने रुपये को कुछ खिलौने, कुछ तस्वीरें और फुलझड़ी आदि लेने में खर्च करता है। श्याम अपने बारह आने की तो ऐसी ही चीजें लेता है, पर चार आने के वह रंगीन कागज़ लेता है। उसने शहर में कन्दील बिकते देखे हैं। उसके पिता ने घर में पिछले साल एक कन्दील बनाया भी था। श्याम ने सोचा है कि वह भी कन्दील बनायेगा और बनाकर उसे बाजार में बेचने जायेगा। सोचता है कि देखें क्या होता है!

राम ने कहा—श्याम, यह कागज़ तुमने क्यों लिये हैं? इसके

बदले में वह मेममाहब वाला खिलौना ले लो न, कैसा अच्छा लगता है!

श्याम ने कहा—नहीं, मैं तो कागज़ ही लूँगा।

राम ने अपने हाथ के मेममाहब वाले खिलौने को गौरवपूर्ण भाव से देखा और तनिक सदय भाव से श्याम को देखकर कहा—अच्छा!

राम ने श्याम की इस कार्यवाही को नासमझी ही समझा है। राम के चेहरे पर प्रसन्नता है और उसने मेममाहब वाले अपने खिलौने को विशिष्ट रूप से सामने कर लिया है।

राम के घर में सब लोग खिलौनों से खुश हुए हैं, इसके बाद वे खिलौने टूट-फूट के लिए लापरवाही से छोड़ दिये गये हैं। उसी भाँति फुलझड़ियों में से जलते वक्त भाँति-भाँति की चिनगारियाँ छूटी हैं। जल कर फिर फुलझड़ियाँ समाप्त हो गई हैं।

उधर यही सब श्याम के घर भी हुआ है। पर इसके बाद श्याम अपने रंगीन कागज़ों को लेकर मेहनत के साथ कन्दील बनाने में लग गया है।

यहाँ स्पष्ट है कि श्याम के उन चार आनों का खर्च खर्च नहीं है, वह पूँजी (Investment) है।

अब कल्पना कीजिये कि श्याम की बनाई हुई कन्दील चार आने से ज्यादा की नहीं बिकी। कुछ कागज़ ख़राब हो गये, कुछ बनाने में ख़ुबसूरती न आई। हो सकता था कि वह चार आने से भी कम की बिकती। अच्छी साफ़ बनती तो मुमकिन था, ज्यादा की भी बिक सकती थी। फिर भी कल्पना यही की जाय कि वह चार आने की बिकी और श्याम उन चार आने के फिर खील-बताशे लेकर घर पहुँच गया।

इस उदाहरण में हम देख सकते हैं कि राम को दिये गये एक रुपये ने चक्कर नहीं काटा। श्याम के रुपये ने ज़रा ज्यादा चक्कर काटा यद्यपि अन्त में श्याम का रुपया भी सोलह आने का ही रहा और इस बीच श्याम ने कुछ मेहनत भी उठाई। राम का रुपया भी बिना मेहनत

जिसको इन्वेस्टमेण्ट कहा जाता है वह उस रुपये के इनर्जी-रूप को कायम रखने की ही पद्धति है। उसका हस्तान्तरित होते रहना गति-चक्र को बढ़ाने और तीव्र करने में सहायक होता है। यानी इस हाथ से उस हाथ जाने की क्रिया में पैसा पहले हाथ से गया, खर्च हुआ, और दूसरे में आया, यानी आमद हुई, यह समझा जाता है। इस पद्धति में वह किंचित् कहीं ठहरता भी है। वास्तव में गति अव-स्थान के बिना सम्भव नहीं होती। चेतन व्यक्त होने के लिए अचेतन का आश्रय लेता है। इनर्जी अपने अस्तित्व के लिए 'डेडमैटर' की प्रार्थिनी है। पर जैसे नींद जागरण के लिए आवश्यक है—नींद अपने-आप में तो प्रमाद ही है,—जागरण की सहायक होकर ही वह स्वास्थ्य-प्रद और जरूरी बनती है; वैसे ही वह संचय है जो किसी कदर पैसे की चाल को धीमा करता है। किन्तु, प्रत्येक व्यय यदि अन्त में जाकर 'इन्वेस्टमेण्ट' नहीं है, तो वह हेय है। हम भोजन स्वास्थ्य के लिए करते हैं और सेवा के कार्य के लिए हमें स्वास्थ्य चाहिए। इस दृष्टि से भोजन पर किया गया खर्च उपार्जन बनता है। अन्यथा, रसना लोलु-पता की वजह से भोजन पर किया गया अनाप-शनाप खर्च केवल व्यय रह जाता है और वह मूर्खता है। वह असल में एक रोग है और भाँति-भाँति के सामाजिक रोगों को जनमाता है।

जहाँ-जहाँ व्यय में उपयोगबुद्धि और विवेक-बुद्धि नहीं है, जहाँ-जहाँ उसमें अधिकाधिक महत्व बुद्धि है, वहाँ ही-वहाँ मानो रुपये के गले को घोटा जाता है और उसके प्रवाह को अवरुद्ध किया जाता है। सच्चा व्यवसायी वह है जो रुपये को काम में लगाता है और अपने श्रम का उसमें योग-दान देकर उत्पादन बढ़ाता है। सच्चा आदमी वह है जो कर्म करता है और कर्म के फलस्वरूप और कर्म करता है। हम देखते आ रहे हैं कि वह व्यक्ति रुपये का मूल्य उठाना नहीं जानता जो उसे बस खर्च करता है। रुपये की कीमत तो वह जानता है जो उसे खर्च करने के लिए ही खर्च नहीं करता, प्रत्युत मेहनत करने के लिए

खर्च करता है। रुपये के सहारे जितना अधिक धन-उत्पादन किया जाय, उतनी ही उसकी सार्थकता है।

हमने ऊपर देखा कि पैसे का पूँजी बन जाना और ख़र्च का कमाई हो जाना उसके प्रतिफल से अपना यथासाध्य अन्तर रखने का नाम है। स्पष्ट है कि वैसे फामले के लिए किसी कदर बेग़रज़ी की ज़रूरत है। मनुष्य की ग़रज़ उसे दूरदर्शी नहीं होने देती। ग़रज़मन्द पैसे के मामले में सच्चा बुद्धिमान् नहीं हो सकता। हम यह भी देख सकेंगे कि मनुष्य और उसकी ज़रूरतों के बीच में जितना निस्पृहता का सम्बन्ध है उतना ही वह अपने 'इन्वेस्टमेंण्ट' के बारे में गहरा हो जाता है। जो आकांक्षा-ग्रस्त है, विषय-प्रवृत्त है, वह रुपये के चक्र को तंग और संकीर्ण करता है। वह समाज की सम्पत्ति का ह्रास करता है। वह इनर्जी को रोकता है और इस तरह विस्फोट के साधन उपस्थित करता है। प्रवाही वस्तु प्रवाह में स्वच्छ रहती है। शरीर में खून कहीं रुक जाय तो शरीर-नाश अवश्यम्भावी है। जो रुपये के प्रवाह के तट पर रहकर उसके उपयोग से अपने को स्वस्थ और सक्षम बनाने की जगह उस प्रवाही द्रव्य को अपने में खींचकर संचित कर रखना चाहता है वह मूढ़ता करता है। वह उसकी उपयोगिता का हनन करता है और अपनी मौत को पास बुलाता है।

आदर्श अलग। हम यहाँ व्यवहार की बात करते हैं, उपयोगिता की बात करते हैं। दुनिया क्यों न स्वार्थी हो? हम भी स्वार्थ की ही बात करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति क्यों न समृद्ध बने? यहाँ भी उसी समृद्धि की बात है। हम चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति व्यवसायी हो और हरएक व्यवसायी गहरा और अधिकाधिक कुशल व्यवसायी बने। हम देखते हैं कि व्यवसायी ही है जो मालदार है। यह अहेतुक नहीं है। यह भी हम जान रखें कि कोई महापुरुष, ऊँचा पुरुष, अव्यवसायी नहीं होता। हाँ, वह ज़रा ऊँचा व्यवसायी होता है। हम यही दिखाना चाहते हैं कि दुनिया में अच्छे-से-अच्छा सौदा करना चाहिए। कोई ह—

नहीं अगर दुनिया को हाट ही समझा जाय। लेकिन जिसके बारे में एक भक्त कवि की उक्ति उलटने में कहा जा सके कि उसने—

"कौड़ी को तो खूब सँभाला लाल रतन को छोड़ दिया।"

उस आदमी को बता देना होगा कि लाल रतन क्या है और क्यों कौड़ी से उसे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए।

हमारी गरज़ आँखों को बाँध देती है। ईश्वर की ओर से मनुष्य की अज्ञानता के लिए बहुत सुविधा है। बहुत कुछ है जहाँ वह भरमा रह सकता है। लेकिन भ्रमने से क्या होगा? हम अपने ही चक्कर में पड़े हैं। जैसे फुलझड़ी जलाकर हम रंग-बिरंगी चिनगारियों को देखते हुए खुश हो सकते हैं, वैसे ही अगर चाहें तो अपनी ज़िन्दगी में आग लगाकर दूसरों के तमाशे का साधन बन सकते हैं। लेकिन पैसे का यही उपयोग नहीं है कि उसकी फुलझड़ी खरीदी जाय, न जीवन का उपयोग ऐश और आराम है। धन-संचय से अपनी सामर्थ्य नहीं बढ़ती। धन की भी सामर्थ्य कम होती है। इनर्जी को पेट के नीचे रखकर सोने में कुशल नहीं है। ऐसे विस्फोट न होगा तो क्या होगा?

— पैसा नष्ट नहीं होता। इससे यथार्थ में वह खर्च भी नहीं होता। पर अपने को उसके ज़रिये हम चुकाते हैं तब वह खर्च हो है। अपने में शक्ति लाते हैं, तब वह खर्च उपार्जन है। पैसा संवर्धन के लिए है। संवर्धन, यानी जीवन-संवर्धन। धन का व्यय जहाँ संवर्धनोन्मुख नहीं है, वहाँ वह असामाजिक है, अतः पाप है। विलासोन्मुख व्यय से सम्पत्ति नहीं, दीनता बढ़ती है।

धन में लालसा उस धन की उपयोगिता को कम करती है। प्रतिफल में हमारी गरज़ जितनी कम होगी, उतना ही हमारे और उसके बीच फासला होगा, उतना ही उसमें श्रम समा सकने का अवकाश होगा। उस फासले के कारण वह फल उतना ही बृहद् और मानव के उद्यम द्वारा गुणानुगुणित होता जायगा। वह गम्भीर और सत्य व्यवसाय है जहाँ कर्म का और व्यय का प्रतिफल दूर होते-होते अन्तिम

उद्देश्य से अभिन्न अपृथक् हो जाता है। जहाँ इस भाँति फलाकांक्षा रहती ही नहीं। विज्ञान के, व्यवसाय के, और अन्य क्षेत्रों के महान् पुरुष वे हुए हैं, जिन्होंने तात्कालिक लाभ से आगे की बात देखी; जिन्होंने मूल-तत्त्व पकड़ा और जीवन को दायित्व की भाँति समझा, जिन्होंने नहीं चाहा विलास, नहीं चाहा आराम, जिन्होंने सुख की ऐसे ही परवाह नहीं की, जैसे दुख की। उनका तमाम जीवन ही एक प्रकार की पूँजी, एक प्रकार की समिधा, इन्वेस्टमेण्ट बन गया। उनका जीवन बीता नहीं, वह हविष्य बना और सार्थक हुआ। क्योंकि वे एक पुरुष के प्रति, आदर्श के प्रति, एक उद्देश्य के प्रति समर्पित हुए।

अर्थ-शास्त्र के गणित को फैलाकर भी हम [illegible] तक नहीं पहुँच पाते। यों अर्थ-शास्त्र अपने-आप में सम्पूर्ण एवं स्वाधीन विज्ञान नहीं है। वह अधिकाधिक राजनीतिगत है, पॉलिटिक्स है। पोलिटिक्स अधिकाधिक समाज शास्त्र (Social Science) है। समाज-शास्त्र अधिकाधिक मानस-शास्त्र (Psychology) के प्रति आश्रित होता जाता है। मानस-शास्त्र की भी फिर अपने-आप में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। क्योंकि व्यक्ति फिर समाज में और उसका अंग है। और जो कुछ वह अब है उसमें समाज की तात्कालिक और ऐतिहासिक स्थिति का भी हाथ है। इस तरह फिर अर्थ का शास्त्र, मानस-शास्त्र, [illegible]-शास्त्र और समाज-शास्त्र आदि के प्रति परस्परावलम्बित है।

अर्थ-शास्त्र के आंकिक सवाल बनाने और निकालने में हम [illegible] चारों ओर कोई बन्द दायरा न खड़ा कर लें। [illegible] उस [illegible] के भीतर चक्कर काटते रहेंगे, और कुछ न होगा। यह ठीक नहीं है। यह उस विज्ञान को सत्य की मान्यता से [illegible] समान है।

ऊपर हमने देखा है कि व्यावहारिक [illegible] के [illegible] का नियामक तत्त्व लगभग वही है जो [illegible] का [illegible] है—अनासक्ति निष्कामता। इस निष्कामता की भाँति ही [illegible] का प्रतिफल

नहीं होता, न वह ह्रस्व होता है। प्रत्युत इस भाँति उसके तो असंख्य गुणित होने की ही सम्भावना हो जाती है। अत्यन्त व्यावहारिक व्यवहार में यदि वह तत्व सिद्ध नहीं होता है कि जिसे अध्यात्म का तत्त्व कहा जाता है, तो मान लेना चाहिए कि वह अध्यात्म में भी असिद्ध है, अ-यथार्थ है। अध्यात्म नहीं चाहिए पर व्यवहार तो हमें चाहिए। व्यवहार से असंगत अध्यात्म का क्या करना है। वह निकम्मा है। गीता में भी तो कहा है—'योगः कर्मसु कौशलम्'।

इस दृष्टि से व्यक्ति यह न कह पाएगा कि सम्पत्ति उसकी है। इसमें सम्पत्ति की बाढ़ रुकेगी। खून रुकने से रोग होगा और फिर अनेक उत्पातों का विस्फोट होगा।

हमें अपने व्यवहार में व्यक्तिगत भाषा से क्रमशः ऊँचे उठते जाना होगा। हम कहेंगे सम्पत्ति व्यक्ति की नहीं, वह सहयोग समितियों की है। कहेंगे, वह श्रमिकों की है। कहेंगे वह समस्त समाज की है, जो समाज कि राष्ट्र-सभा में प्रतिबिम्बित है। कहेंगे कि वह राष्ट्र की है। आगे कहेंगे कि राष्ट्र क्यों, वह समस्त मानवता की है। इसी भाँति हम बढ़ते जाएँगे। अन्त तक हम देखते जाएँगे कि बढ़ने की अब भी गुन्जायश है। किन्तु ध्यान रहे कि निराशा का यहाँ काम नहीं, व्यग्रता को भी यहाँ स्थान नहीं। हम पाने के लिए तैयार रहें कि यद्यपि बुद्धि-संगत (Rational) आदर्श में बढ़-चढ़कर हम मानवता से आगे विश्व और समष्टि की धारणा तक पहुँच सकते हैं। पर समष्टि कहने से व्यष्टि मिटता नहीं है। व्यक्ति भी है ही। वह अपने निज में अपने को इकाई अनुभव करता है। समष्टि हो पर वह भी है। उसे इनकार करोगे तो वह समष्टि को इनकार कर उठेगा। चाहे उसे उसमें मिटना पड़े, पर वह स्वयं अपने को कैसे न माने ? ऐसी जगह मालूम होगा कि व्यक्तित्व की धारणा को ब्रह्माण्ड में भी चाहे हम व्याप्त देखें, पर पिण्ड में भी उसे देखना होगा। और उस समय विश्व-समष्टि आदि शब्दों से भी असन्तुष्ट हम कहेंगे कि जो है, सब परमात्मा का है, सब परमात्मा है।

वह मानकर व्यक्ति अपनी सत्ता में सिद्ध भी बनता है। और वह सत्ता समष्टि के भीतर असिद्ध भी हो जाती है। विचार की दृष्टि से तो हम देख ही लें कि इसके बिना समन्वय नहीं है। इसके इधर-उधर समाधान भी कहीं नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्ति के भाव का उन्मूलन तभी सम्भव है जब हम मानें कि व्यक्ति की इच्छाएँ भी उसकी अपनी न होंगी, वह सर्वांशतः परमात्मा के प्रति समर्पित होगा।

इसलिए लोगों से कहना होगा कि हाँ, नेशनलिज़ेशन, सोशलिज़ेशन के लिए तैयार रहो। तैयार क्यों, उस ओर बढ़ो। लेकिन मालूम होता है कि सोशलिज़ेशन वालों से भी कहना होगा कि देखो भाई, उसके आगे भी कुछ है। उसके लिए भी हम सब उद्यत रहें, सचेष्ट रहें। फार्मूला कुछ बनाया है, इसमें हरज नहीं, पर फार्मूला फार्मूला है। फार्मूले से कहीं बहुत चिपट न जाना। ऐसे वह बन्धन हो जाता है।

दिखला देना। ऐसे ही उसमें दिलेरी पैदा होती है। कहीं अगर उसके मन में यह लालसा भी लहकाई जा सके कि दूसरों का माल हड़प करने का मौका है, तब इस दिलेरी में और धार आ जायगी।

लड़ाई लड़ने वालों में यही दो पक्ष हैं, एक स्वार्थ-रक्षा में लड़ते और दूसरे स्वार्थ-विस्तार में लड़ते हैं। इन वृत्तियों को जगत् में तरह-तरह के नाम प्राप्त हैं—न्याय, कर्तव्य, धर्म इत्यादि। स्पष्ट है कि जो अपनी तरफ़ न्याय और धर्म को मानता है, वह सबका सब अन्याय और अधर्म दूसरे के माथे पटकता है···स्वयं सभ्यता और संस्कृति का उद्धारक या प्रादुर्भावक वह होता है, दूसरे को उसमें विघ्न रूप राक्षस मानता है। ऐसे परस्पर का अविश्वास, क्लेश और घृणा तीव्रतर और लड़ाई अधिकाधिक अनिवार्य होती जाती है।

यह बिलकुल ज़रूरी है कि दुनिया लड़ रही है तो हम भी चुप न बैठें। बेशक आग के ऊपर आसन जमाकर बैठने और लपटों को उपदेश देने से लाभ नहीं है। आग से अप्रभावित रहने की बात में कुछ मतलब ही नहीं है। उसका अर्थ यही हो सकता है कि आग की झुलस ने अभी आपको छुआ नहीं है। यह कोई श्रेय की बात नहीं। दुनिया के आप अंग हैं। यह कहकर कि धोती में आग लगी है कुर्ता निश्चिन्त नहीं हो सकता। दुनिया एक है, तो उसके कई और अनेक देश भी परस्पर अनुबद्ध हैं। इसमें कोई तुक नहीं कि योद्धाओं के बीच आप कोरे उप-देशक बनें। यह तो दम्भ होगा। योद्धा पहचानता है तो योद्धा को। उपदेशक उसके लिए निकम्मा है। शत्रु पक्ष का ही चाहे हो, सच्चे योद्धा के लिए हर योद्धा में प्रशंसा होगी। युद्ध की भाषा ही उसे प्राप्त है। वही उसका साध्य, वही साधन, वही एक उसका तर्क। इससे युद्ध में शान्ति का उपदेशक सिवाय युद्ध की बर्बरता को भड़काने के और कोई सेवा नहीं कर सकता है। वह अपने लिए योद्धा का तिरस्कार ही प्राप्त कर सकता है!

किन्तु शान्ति यानी निर्वैर का उपदेशक नहीं योद्धा भी बना जा

सकता है। असल में आज वही योद्धा चाहिए। योद्धा वह जो अपनी जान को तो हथेली पर ले अवश्य, पर दूसरे की जान को अभय देता हुआ आगे बढ़े।

पहले ही कहा कि शत्रु भय में से बनता है। जो निर्भय है वह अजातशत्रु है, उसे जाकर किसको मारना है ? पर जो भयभीत होकर उसे ही मारने के लिए आना चाहता है, उसको तो उसके भय से छुटकारा दिलाना है। इसलिए उसे शत्रु मानकर नहीं, बल्कि अपना भूला हुआ मित्र मानकर सच्चे योद्धा में उससे भेंट करने की तैयारी चाहिए। तब स्वयं मरकर शायद वह शत्रु की शत्रुता को भी मार दे। ऐसे ही शत्रु मित्र बनेगा।

भय-जात साहस भय-जात कायरता से तो अच्छा ही है। पर चूँकि दोनों भय-जात हैं इससे उनमें बहुत-कुछ समता भी है। हिंसक लड़ाई में दीखने वाला साहस एक प्रकार की कायरता ही है, और जब लड़ाई चल रही हो तो कायरता से बड़ा जुर्म कोई नहीं।

ब्लैक आउट जन-हित में ही किया जाता होगा। पर उसमें सचमुच हित होता है यह संदिग्ध है। हिसाब लगाकर देखना चाहिए कि उससे कितनी जानें बचीं। बचने वाली जानें कुछ हों भी, पर यह सच है कि उससे सब लोगों में एक दहल पैदा होती है। उस दहल के नीचे सामरिक कर्मण्यता की स्फूर्ति भी पैदा होती होगी। इससे तबियत में हौल और शायद उस कारण वस्तुस्थिति की भयंकरता का आतंक भी बैठ सकता होगा। ये चारों ओर आशंका के बादल और शत्रु के षड्यन्त्र हैं, कुछ ऐसी प्रतीति लोगों के मनों में हठात् घर कर सकती है। सामरिक मनोवृत्ति को फैलने और मज़बूत करने के काम में यह भारी मददगार क़दम है और उस दृष्टि से अवश्य उपयोगी है।

कहा जायगा कि मूर्ख के स्वर्ग में आप रहिए। हम तो यथार्थता में रहते हैं। सच यह है कि दुश्मन है। हज़ारों जानें रोज़ जा रही हैं और आप कहना चाहते हैं कि दुश्मनी भ्रम है ? दुश्मनी अच्छी बात

नहीं ये हम भी जानते हैं, पर कहने भर से वह मिट जाती तो बात ही क्या थी। इसलिए उसे हम स्वीकार करके ही चल सकते हैं। आप अन्धे हठ में मानते रहिए उसे अपना मित्र, पर वह आएगा और आपको और आपकी मित्रता को पल-भर में स्वाहा कर देगा। नहीं, हम यह मूर्खता नहीं कर सकते। शत्रु आता है तो हम कहेंगे कि आओ, यहाँ तुम्हारा महाशत्रु बैठा है। यथार्थता से आँख मींचकर मरा जा सकता है, ज़िन्दा नहीं रहा जा सकता। हम लोग ज़िन्दा रहने वालों में से हैं। इसलिए यथार्थता को पहचानकर हम उसके सामने की तैयारी में सावधान होने से विमुख नहीं हो सकते। शत्रु ने फ़ौज खड़ी की है, हम सवा फ़ौज बनाएँगे। हमारा बहरी बेड़ा और हवाई सेना और बम बारूद और तोप-टैंक सब उनसे बढ़कर होंगे। हम शान्ति चाहते हैं और सभ्य नागरिक हैं। पर शत्रु सभ्यता का दुश्मन है। वह बर्बर होकर हम पर चढ़ने आता है। हम बता देंगे कि उसकी मनचीती होने वाली नहीं है। और ऐ लोगो, तुम भी मानवता की रक्षा के लिए कटिबद्ध खड़े हो जाओ। छोड़ दो उन दो-चार को जो सपने लेते पड़े रहना चाहते हैं। हमारी दया है कि हम उन सनकियों (Cranks) से नहीं बोलते। वैसे तो लड़ाई के वक्त बचने वालों की सज़ा मौत होनी चाहिए थी। पर वे भोले हैं और मूर्ख हैं, आँख खोले वे अन्धे हैं। अपने में मुँह गाड़कर आदर्श की बात करते हैं और यथार्थ को पहचानते नहीं। मत उनकी सुनो। दुश्मन बढ़ रहा है और हम दुश्मन को जीतेंगे। पर ऐ लोगो, तुम सबको तत्पर रहना चाहिए। दुश्मन तुम्हारे घरबार को, इज़्ज़त को, सबको उजाड़ देना चाहता है, यह सब हड़प कर जाना चाहता है। लेकिन तुम वीर हो—आन पर मर मिटोगे। पर भाइयो, सोचो, दुश्मन की तदबीरों को हम पहले से क्यों न हरा दें? इसलिए ब्लैक-आउट होगा। इसलिए गैस-मास्क का इस्तेमाल सीखो और फ़ौज में भर्ती होओ और रुपया जमा करो और अपनी कोठें भेजो और···

यथार्थता ठीक है। उसको पहचानना होगा। पर वह यथार्थ होने

में आई कैसे ? आज का दुश्मन, दुश्मन कैसे बना ? आज लड़ाई है, सही। पर कल क्या बोया था कि आज लड़ाई का फल मिल रहा है, यह समझना भी क्या ज़रूरी नहीं है ? आज का आज हम पर आस मान से नहीं टपका, वह हमारे कल में से बना है। इसलिए यह कहकर कि आज का यथार्थ यह है, हम उसकी परम्परा को ज्यों-का-त्यों कैसे चलने दे सकते हैं ? कल का फल आज भुगतना होगा, पर जो फल आने वाले कल के लिए चाहते हैं, उसका बीज क्या आज बो चलना ज़रूरी नहीं है ? इसलिए यथार्थ का तर्क ही सम्पूर्ण तर्क नहीं हो सकता। यथार्थ की यथार्थता के भीतर जाएँगे, तो देखेंगे कि विषफल की बेल को एक रोज़ तो समाप्त करना ही है। इसलिए यथार्थ से झुकना नहीं, बल्कि उसे सम्भालना है। नहीं तो शत्रुता के चक्कर से छुटकारा कैसे मिलेगा ? शत्रु के भय में से शत्रुता की बेल हरी होती है। दनुजों की कथा में सुनते हैं कि एक मरता था, तो उसकी जगह सौ हो जाते थे। इसलिए यदि कभी जाकर शत्रुता को इस धरती पर से मिटना है, तो उसे मिटाने का आरम्भ आज ही कर देना होगा। यदि आज नहीं तो उसका आरम्भ कभी भी न हो सकेगा, क्योंकि यथार्थता का तर्क ज्यों-का-त्यों सिर पर लटका रहेगा।

मतलब यह नहीं कि 'शत्रु मित्रवदाचरेत्' कहकर हम उसकी खोटी लालसाओं को बढ़ावा दें। नहीं, हम प्रतिरोध करेंगे। अपनी आत्मा को बेचकर उसके भीतर के दानव को हम भोज्य नहीं देंगे। अपनी आत्मा को सुरक्षित रखकर उसकी आत्मा को भी सुरक्षित करने का साधन करेंगे। वह अपने को भूल रहा है। वह फाड़ खाने को आता जो दीखता है, सो तो पागलपन है। शायद वह सताया हुआ है। ज़रूर किसी त्रास ने या भय ने उसे ऐसा बना दिया है। वह उसकी असली प्रकृति नहीं, विकार है। अगर ईश्वर है तो उसमें भी है। पर हम अपनी ईश्वरता को उसके समक्ष करके ही उसकी असलियत यानी उसकी आत्मा को छू सकेंगे। उसके थप्पड़ के आगे अपना मुखड़ा करके

यह काम नहीं किया जा सकता। हाँ, थप्पड़ के आगे गुरु किया जा सकता है। यह लाचारी के सबब नहीं, बल्कि खुशी के साथ किया जाता है, तो सन्देह नहीं कि उस थप्पड़ में मारने वाले का गर्व कम हो जायगा।

ऊपर कहा गया है कि युद्ध के समय उपदेश बेतुका है। उस समय कर्म की दरकरता चाहिए। अर्थात् यदि चाहिए तो शान्ति का उपदेश नहीं, शान्ति का कर्म चाहिए। और अहिंसा की माला नहीं, अहिंसा का युद्ध चाहिए।

जो मरने से डरता है, उसे कोई क्यों पूछे? पर जो नहीं डरता उसे तो पूछना ही होगा। किन्तु निडरता कोई कर्महीन स्थिति नहीं है। वह कर्मठता के साथ ही टिक सकती है। हम निडर हैं, ये हमारे मानने का विषय नहीं। निडर हम तभी हैं जब दुनिया कहे कि हम निडर हैं। अर्थात् निडरता कोई अव्यक्त तत्त्व नहीं है, बल्कि व्यक्त प्रभाव है। व्यक्त नहीं तो उसका कुछ अर्थ नहीं। व्यवहार में निडरता ही सच्चे योद्धा का लक्षण है। हिंसक योद्धा उद्दण्ड हो सकता है। बल्कि किंचित् उद्दण्ड होना उसके लिए अनिवार्य है। क्योंकि मूलतः हिंसक युद्ध की प्रेरणा एक गहरे हीन भाव Sense of inferiority में से आती है। दूसरे शब्दों में उसकी जड़ में आतंक या भय होता है। इसीसे उसके फल में शेख़ी और उद्दण्डता देखने में आती है। अहिंसक योद्धा में वैसी सम्भावना ही नहीं। वह समभावी है। इससे वह ऐसा योद्धा है कि कभी किसी परिस्थिति में किसी के प्रति उद्दण्ड नहीं हो सकता। वह सदा सविनय है। पर इस्पात की तरह दृढ़ भी है। मौत तक उसको नहीं तोड़ सकती यों सबके आगे वह झुका हुआ है।

मेरी कल्पना है कि वीरता का आदर्श ऊँचा उठता जायगा, तो इसी जगह पहुँचेगा। वीर यदि क्रूर नहीं है, तो इसीलिए कि उसमें विवेक का मार्दव है। और इस जगत् में सच्चा वीर वही हो सकता है, जिसे इस जगत् के यश और वैभव में कोई आसक्ति नहीं, जो यदि योद्धा है

तो असत्य के ख़िलाफ, और आसक्ति है तो उस सत्य की जो प्राणि-मात्र की गहराई में स्थित है।

अख़बारों के प्रचार से और 'ब्लैक-आउट' के अभ्यास से और तरह-तरह की तैयारियों से जो तात्कालिक फल होता है वह यही कि हम में मौत का डर और सुरक्षा की चिन्ता समा जाती है। स्पष्ट है कि इस वृत्ति में से जो साहस उठेगा वह कृत्रिम साहस होगा। वह अपने विश्वास पर नहीं, बल्कि किसी के विरोध पर, यानी शत्रु की शत्रुता पर स्थापित होगा। इससे शत्रु के प्रबलतर साबित होने पर वह साहस टूटकर कातर भय को जगह दे रहेगा। और ऐसा ही देखने में भी आता है। हिंसक लड़ाई में एक हद तक ही सिपाही लड़ते हैं, फिर भाग रहते हैं, या हथियार डाल रहते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि शत्रु को सामने रखकर ही वह साहस उपजाया जाता है। वह सीधा शत्रु के डर में से ही आता है। इससे शत्रु के हावी होने पर वह उड़ जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में निःशस्त्रीकरण की बात होती रही; पर अविश्वास से घिरकर निःशस्त्रता में हरेक को अपनी निर्बलता मालूम होती है। अपने को कोई निर्बल नहीं चाहता। भयभीत के लिए तो पलायन अथवा युद्ध ही उपाय है। सक्रिय विश्वास और प्रीति विस्तार में से ही निशस्त्रता का साहस आ सकता है। तब निशस्त्र होकर राष्ट्र निर्बल नहीं, बल्कि सच्चे अर्थों में बलशाली अनुभव करेगा।

बीच में कांटेदार तार दो पड़ोसियों के प्रेम को महफ़ूज़ नहीं बना सकता। यह बहस कि कांटे कितने पैने हों या कितने घने हों, व्यर्थ है। शस्त्रों की समगणना के आधार पर निःशस्त्रता नहीं आ सकी। न कभी आ सकेगी। और शस्त्र की व्यर्थता तो देख ही ली गई है। शस्त्र की दौड़ की कोई हद नहीं। बीच में अविश्वास है तो अधिक-से-अधिक शस्त्रास्त्र भी थोड़े मालूम होंगे। बराबर ख़याल रहेगा कि अभी कुछ और चाहिए और निगाह रहेगी कि दुश्मन ने कितने बनाये हैं।

साफ़ है कि ऐसी हालत में एक देश या राष्ट्र दूसरी ज़रूरी बातों के लिए, ज्ञान-विज्ञान और कला-संस्कृति के संवर्धन की चिन्ता के लिए खाली नहीं रह सकता। जो पड़ोसियों से अनबन मोल ले बैठा है, उससे नागरिकता के विकास में क्या मदद मिल सकती है? ऐसे ही जो चारों ओर शत्रुताओं से घिरा है, मनुष्यता के विकास में वह क्या सहायता पहुँचा सकता है?

किन्तु इतिहास हमसे क्या चाहता है? हम जा किस लिए रहे हैं? मनुष्य जाति किस ओर बढ़ती आई है? और किस दिशा में उसे बढ़ते जाना है? क्या वह दिशा परस्पर का बढ़ता हुआ ऐक्य ही नहीं है?

यदि वह ऐक्य है, तो हिंसा से उस ओर गति न होगी। हिंसा अपने फल में हिंसा ही दे सकती है। और जब तक हिंसा के द्वारा राष्ट्र और राष्ट्र के बीच के सवालों का निपटारा देखा जायगा, तब तक मानना चाहिए कि वह सवाल कभी हल भी न होगा। और तो और घर में हम अपने तीन बरस के बालक से ज़ोर-ज़बरदस्ती के आधार पर हार्दिक सम्बन्ध नहीं बना पाते। जब-जब हमने थप्पड़ का उपाय हाथ में लिया है, समस्या कसती ही गई है। तत्काल तो मालूम होता है कि मामला कुछ हल्का पड़ गया है, पर असल में गाँठ उससे सदा कुछ गठीली होती देखी गई है। बच्चे में अहम् पैदा होने पर जब उसको ज़ोर-ज़ब से रास्ते पर नहीं लाया जा सकता, तो राष्ट्र का 'अहम्' तो और भी व्यापक और ठोस वस्तु है। उसका उपचार फिर शस्त्रास्त्र के बल पर ठीक कैसे हो सकता है?

कहा जायगा कि यह बातें तो ठीक हैं, पर ठण्डक की हैं। अभी तो आग लगी है। ऐसे वक्त उनका कहना और सुनना जुर्म है। आग बुझनी चाहिए, तब दूसरी कोई बात होगी।

पर आग बुझनी चाहिए कि लहकनी चाहिए? अगर उसे बुझना है तो ऊपर की बात न सिर्फ़ असंगत है, बल्कि वही एक संगत बात

है। आग से अपनी जान बचाने तक का ही हमारा कर्तव्य नहीं है; क्योंकि भागकर जान बचाने का कोई रास्ता ही नहीं है। ब्लैक-आउट इत्यादि से उनसे जान बच सकती है और बचानी चाहिए—इस तरह का भ्रम पैदा करने वाले प्रयोग हैं। वे एक तरह शत्रु की शक्ति की पुनः सूचना और उसके पूर्व निमन्त्रण का रूप हैं। माना जा सकता है कि नगर में रहने वाले निर्दोष स्त्री-पुरुषों और बाल-बच्चों की रक्षा का किंचित् उपाय इस प्रकार होगा। पर सोचने की बात है कि उन निर्दोष स्त्री-पुरुषों पर आस्मान से हमला हो, यह स्थिति ही बनने में कैसे आई?

हम सरकार को धन्यवाद दे सकते हैं कि उसे हमारे जान-माल की रक्षा की चिन्ता है। वह शत्रु के हाथों हमें लुटवाना नहीं चाहती। उसकी फौज सरहद पर है और सब नाकों पर है और उसका सरकारी इन्तज़ाम सब जगह फैला हुआ है। सरकार हमारे देश की रक्षा करेगी। हम उसकी सुनें और उसके आदेश का पालन करें। ऐसे संकट के समय सचमुच हमें कृतज्ञ होना चाहिए कि सरकार की दृढ़ भुजाएँ हमारी रक्षा को उद्यत हैं। हाय, सरकार न होती तो हम कहाँ होते! ऊपर के शत्रु के लिए तो खुले शिकार होते ही, भीतरी गुण्डे भी हमें क्षत-विक्षत किए रहते। दुहाई है कि सरकार है और हमें उसकी सुरक्षा में ब्लैक-आउट के प्रयोग की शिक्षा मिल रही है।

सिर पर आ गई स्थिति को देखते सरकार की छत्र-छाया निश्चय ही हमारे लिए परम सन्तोष का विषय हो सकती है। पर हमने क्या किया है कि पश्चिम का कोई देश हमारा दुश्मन बने? पश्चिम की लड़ाई पूर्व में क्यों आ गई है? यह तो ठीक है कि पश्चिम और पूर्व दो नहीं हैं। पर पूर्व का यह भारत क्यों आज अपने ही निर्णय से लड़ाई में कुछ मदद करने में असमर्थ है? संकट हम पर इसी से तो है कि वह एक पश्चिम के मुल्क के साथ नत्थी है और उसकी शत्रुता-मित्रता को ओटने के लिए लाचार है। स्थिति विषम है, पर क्यों वह हिन्दु-

स्तान के बावजूद हिन्दुस्तान के लिए भी विषम है? ठीक है कि हिन्दुस्तान के व्यवस्थापक आज उसकी चिन्ता से चौकन्ने हैं। पर क्या यह भी उन व्यवस्थापकों की ही करनी नहीं है कि वह आज आत्म-निर्णय में असमर्थ है और कि वह अन्तर्राष्ट्रीय गीधों की निगाह में सिर्फ सस्ता शिकार बन गया है। आज यदि यह स्थिति है तो उसका कारण ढूँढना होगा। उस कारण के लिए हम अपने व्यवस्थापकों से बाहर कहाँ जायँ? ब्लैक-आउट और इस प्रकार के दूसरे हितोपायों के लिए जिस सरकार के हम कृतज्ञ हैं, उसी सरकार के पास हम आज की स्थिति का यह अभियोग भी ला सकते हैं।

कौन जानता है कि हिन्दुस्तान की मिल्कियत ने इङ्गलैण्ड को पश्चिम के दूसरे सशक्त राष्ट्र-नेताओं के लिए और लोभनीय ही नहीं बनाया? इङ्गलैण्ड को मौका था कि हिन्दुस्तान को वह अपनी सम्पत्ति न मानकर अपना साथी बनाता। मित्र हिन्दुस्तान इङ्गलैंड के बल को मज़बूत करता। पर हिन्दुस्तान इंग्लैंड के लिए परिग्रह रहा। इङ्गलिस्तान का यह भोग्य रहा। इससे इंग्लिस्तान के चरित्र पर धब्बा लगा और हीनता आई। उसमें साम्राज्य-लिप्सा पैदा हुई। इसी से दूसरे मुल्कों की आँखों में वह काँटा बना। हिन्दुस्तान उसकी इस वृत्ति से शक्ति और पौरुष से हीन बना। क्या अचरज कि वह और सत्ताओं के मुँह में पानी आने का कारण बना।

ऐसे आज यह हालत बनने में आई है कि सरकार को कहने का मौका मिलता है कि हिन्दुस्तान ख़तरे में है और हिन्दुस्तान भी महसूस करता है कि वह ख़तरे में है, कि जब ब्लैक-आउट होते हैं और लोग सोचते हैं कि उनका होना कल्याणकारी है। लोग अपने को असहाय पाते हैं और इस तरह सरकार की थोड़ी-बहुत जितनी है उतनी ही-सी शस्त्र-शक्ति की दुहाई देते हैं। सरकार को इस तरह अपना समर्थन प्राप्त होता है। पर हम चाहते हैं कि उस समर्थन के भीतर ही जो एक निश्चित अभियोग है वह भी सरकार को प्राप्त हो और सरकार जान ले

कि जिस संकट से रक्षा देने का काम वह अपना बतलाती है, उस संकट को सिर पर लादने का ज़िम्मा भी उसी का है।

हिन्दुस्तान का इस्तेमाल करने की इङ्गलैंड की बुद्धि आज संकट के समय कुछ शुद्ध हो सकती थी। वह हिन्दुस्तान के हृदय को पाने की ज़रूरत इस समय महसूस कर सकती थी। पर उसने मन नहीं चाहा, धन चाहा। मैत्री नहीं चाही, सिर्फ़ लाभ चाहा। आत्मा नहीं माँगी, उसके शरीर पर ही आँख रखी। इससे इङ्गलैंड का नैतिक पतन हुआ और हिन्दुस्तान का भी। इससे साम्राज्य नाम का एक दम्भ खड़ा हुआ। कामनवेल्थ शब्द के नीचे उस दम्भ के ढकोसले को छिपाया नहीं जा सकता। सफ़ेद जाति का वह दम्भ उसके लिए भारी पड़ रहा है और पड़ेगा। यह विधान शासित और शासक दोनों जातियों को अमनुष्य बनाता है। दोनों उससे गुलाम बनते हैं। शासक इन्द्रियों का गुलाम और शासित उस गुलाम का गुलाम बनता है।

भारतवर्ष के शासक भारत को भारतीय बनाए होते, तो आज शायद उन पर और भारत पर संकट का दिन भी न आता। भारत स्वाधीन होता और सशक्त होता। और मनुष्यता की राह पर तब वे दोनों एक-दूसरे को और शेष दुनिया को चलाने में सहयोगी होते। ऐसा होता तो इङ्गलिस्तान की नैतिक साख असंदिग्ध होती। भारत का संस्कृति-बल और धन-जन-बल मिलकर विलायत की बड़ी-से-बड़ी पशु-शक्ति के निकट अविजेय होता। तब क्या आज की लड़ाई होती? या होती भी तो क्या टिक सकती?

पर यह होना न था। दुनिया को बुरे दिन देखने थे और आदमी में अभी तृष्णा का राज था। शायद साम्राज्य बनाने और बढ़ाने वाले अंग्रेज़ ने बहुत आगे नहीं देखा। उसने शायद समझा कि वह अपनी जाति का यश-विस्तार कर रहा है। ऐतिहासिकों ने उसे इस भ्रम में मदद पहुँचाई। साहित्य ने बढ़ावा दिया। 'साम्राज्य' पर विलायत को और विलायती को गर्व हुआ। उसने न जाना कि ईश्वर के इस जगत्

में आदमी का गर्व खर्व होता है। वह मोह में धर्म को भूल गया। और विधाता की लीला को कौन जानता है? कौन जानता है कि सफ़ेद और काले आदमियों के संचित पापों का ही यह प्रतिफल नहीं है?

किन्तु फल सामने फूटा है, तो वहीं से हम अपने तर्क का प्रारम्भ न करें। बम ऊपर से गिरेगा तो हम किस तहखाने में डुबकी मारकर बचेंगे, हमारे सोच-विचार के लिए कोई यही विषय नहीं। आदमी की बुद्धि को आसन्न खतरे से घेरकर मूल प्रश्न पर विचार करने के लिए असमर्थ ही बना दिया जाता है। ब्लैक-आउट इत्यादि लोक-मानस पर ऐसा ही आतंकमय असर डालते हैं। जैसे अपनी जान बचाने से बड़ा कोई तत्काल धर्म हमारे लिए है ही नहीं। आज लोक-मानस कुछ उसी वृत्ति से ग्रस्त है। घर-घाट और हाट-बाट की चर्चा सुनिए, सब कहीं वही एक प्रश्न है कि कौन कैसे बचे? हवा ऐसी संक्रामक है कि बिरला उससे अछूता बचता है। मन खोखले हुए जा रहे हैं और चारों तरफ अविश्वास बढ़ता जा रहा है। वैश्य संकट में अपने बचाव की सोच रहा है, तो गुण्डा अपने मौके की सोच रहा है। साम्प्रदायिक और राष्ट्रीय और श्रेणीगत अविश्वास तीखा पड़ रहा है और जान पड़ता है कि ऊपर से सरकारी शक्ति का ढकना ढीला हो कि भीतर से वह अपना गुल खिला आये।

ऐसे समय सही बुद्धि और अहिंसक कर्म की बहुत आवश्यकता है। अहिंसक कर्म धन का और सत्ता का विकीरण करता है। उनके केन्द्रीकरण पर बसे हुए बड़े-बड़े शहर जो दुश्मन के लिए प्रलोभन होते हैं—अहिंसक कर्म से वे बिखरेंगे। वैसे कर्म से गाँव बसेंगे और उनकी खुशहाली बढ़ेगी। लाखों खुशहाल और स्वाधीन गाँवों वाले हिन्दुस्तान को किसी दुश्मन से किसी डर की ज़रूरत न रहेगी। गाँवों पर बम डालना पैसे के लिए अशर्फ़ी बर्बाद करना होगा। और कोई मूर्ख नहीं जो यह करेगा। तब सोशल इकानामी (Social Economy) का ढाँचा ही दूसरा होगा। तब सत्ता का इस मुट्ठी से उस मुट्ठी में आ रहने का सवाल

ही न रहेगा। क्योंकि तब वहाँ किसी की बँधी मुट्ठी हो ही न सकेगी। दुश्मन तब कोई होगा भी, तो वह उस सोशल इकानामी में जज़्ब हो जायगा, क्योंकि उसके पास कोई साधन न होगा कि वह उसको तितर-बितर कर सके। वह पहले ही ऐसी छितरी हुई होगी कि उसका केन्द्र हर जगह होने के कारण कहीं नहीं होगा।

कहना कठिन है कि ऊपर जो बादल आए हैं, बरसकर वह क्या कहर बरपा करेंगे। पर यह निश्चय है कि कभी मानव-जाति को अगर संगठित शक्ति के त्रास से छुटकारा मिलेगा, तो तभी जब प्रत्येक व्यक्ति पर्याप्त शारीरिक परिश्रम करने वाला होगा। जब कि उपज और खपत, और श्रम और पूँजी के बीच इतना फ़ासला न होगा कि बीच में बटाव के लिए किसी तीसरी बुद्धि या शक्ति की ज़रूरत हो। जब आर्थिक समस्या न्यूनतम हो जायगी और मनुष्य की समस्या नैतिक और आध्यात्मिक ही हुआ करेगी। जब आर्थिक अभाव नहीं, बल्कि हार्दिक सद्भाव मनुष्य को चलाया करेगा।

हरे राम

'हिन्दुस्तान' में आये हफ्ते बँधकर मैं लिखा करूँगा, यह पता चला तभी-से मन में उठ रहा है : हरे राम, हरे राम!

अब वह दिन ही आ पहुँचा है। कोई उपाय अब नहीं चलेगा। पीछे की राह बन्द है। आगे जो बला दीखती थी, सिर आकर वही जिम्मेदारी हो गई है? अब किए ही निपटारा है।

पर, फिर भी तो जी ठिठकता ही है। कुछ समझ नहीं आता। कुछ सूझ नहीं पड़ता।

ऐसे समय मैं अपने से कहता हूँ कि अरे, तू तो चल पड़, तुझे राह से क्या? जो सब जानता है वह जाने और उसका काम जाने। राम की राम पर छोड़। और तू चल, कि वह है।

ऐसे मन को समझाकर मैं चलने को होता हूँ कि तभी बराबर से आवाज आती है कि 'भई, ठहरना; जरा सुनना।'

देखता हूँ कि एक अभिभावक हैं। मेरे परम हितैषी; बुजुर्ग, अनुभवी, जानकार। बोले कि 'तू चलने को हुआ, चलो खुशी की बात है। कबसे कहता था कि सुस्ती ठीक नहीं, गति चाहिए। अब शाबाश! पर जानता है, भाई, कि सदी यह बीसवीं है? उसी सदी की छियालीसवीं देहली पर अब काल है। दो, शायद तीनों, भारी-भारी ताकतों के सिर अणु-शक्ति पर मिलकर तुन-तुन कर रहे हैं। अणु-शक्ति अब ज्ञान की

नहीं, काम की है। इसलिए विज्ञानियों के ऊपर होकर शासक उसपर जुटे हैं। समझे ? उन्नति अब अणुबम जितनी उन्नत है। ऐसे में भई, तू किसका नाम लेकर चलने को हुआ था रे !'

मैं कुछ नहीं समझा। मैंने कहा, "नाम किसका ?"

बोले, "राम-श्याम—तू ऐसा ही कुछ बड़बड़ा रहा था न ? वह क्या है और कौन है ?"

मैंने कहा, "अजी, किसी का नाम वह थोड़े है।"

"नाम नहीं है !" हितैषी बोले, "तो फिर ?"

मैंने कहा, "अजी, वह तो मेरी अपनी हार का नाम है।"

"हार !" और वह मेरी तरफ देखते रह गये। बोले, "तो तू पहले मन में हार मानकर चलना चाहता है ?"

मैंने कहा, "नहीं जी, मानने की ही बात हो तब तो मैं अपनी पूरी-पूरी जीत ही मान कर चलूँ। पर जीत का तो लेश भी नहीं है, निपट हार ही है। इसमें मेरा मानना-न-मानना कहीं काम नहीं देता है।"

अविभावक चिन्तित हो आये। वह हितैषी थे। कुछ देर वह कुछ बोल न सके। अन्त में रोष से बोले, और तुम अपने को युवक मानते हो ?

जवाब में मैं क्या कहूँ ? अपने को कोई कुछ भी क्या माने ? दूसरे जन मुझे युवा मानें तो मुझे युवक हुए ही गुजारा है। ऐसे अपने यौवन का श्रेय मेरा नहीं, तो दोष भी मेरा नहीं। यानी मैं अभिभावक के आगे चुप निरुत्तर ही रह गया।

शायद उन्हें दया हो आई। बोले, "ईश्वर को दुनिया कब की छोड़ चुकी, मालूम है ? भूत को तुम जिला नहीं सकते। आशा तो यह है कि तुम भविष्य लाओगे। आखिर आशा तुम जवानों से न होकर किससे हो ? यह मैं क्या देखता हूँ कि जवान में अपना विश्वास नहीं है ! जब समय है कि वह खड़ा हो और संसार को चुनौती दे तब वह राम का आँचल टटोलता है ? सुनो, राम के नामपर तुम्हारा मुँह भूत की तरफ है। उसकी तरफ है जो मर गया, इससे जो नहीं है। मैं नहीं

चाहता कि जब तुम चलने को हुए हो तो तुम्हारी पीठ उधर हो कि जिधर से भविष्य को उदय होना है। नहीं, उधर तुम्हारा मुँह होगा और कदम होंगे। तुम उदय की किरणों को लेने वाले और लाने वाले होगे। और उस सब की तरफ तुम्हारी पीठ होगी जो होकर चुक गया है, जो इसलिए अब सिर्फ झूठ है और जड़ है। तुम्हारा सब राम, श्याम और—"

कहते-कहते रुककर उन्होंने मेरी ओर देखा। आशा से और विश्वास से वह दृष्टि अचल थी। मैं अभागा सुन खड़ा था। उन्हें नहीं मालूम हुआ कि कोई लौ मुझमें सुलगी है। परास्त; पराजित, मूढ़ की तरह खड़े हुए मुझे देखकर "बोले क्यों, क्या सोचते हो ?"

मैंने सकुचाते हुए कहा, "ठीक है।"

"क्या ठीक है ?"

"जी—कुछ—नहीं···",

"कुछ नहीं ! अरे, तो जो ठीक है वह क्या है ?"

"कुछ नहीं, सब......"

स्पष्ट था कि अभिभावक मुझ से निराश हुए। वही उन्हें होना चाहिए था। मैं स्वयं अपने से ही निराश हूँ। उस निराशा को मैं छोड़ना भी नहीं चाहता। उसमें आशा से गहरी गहराई है। वह आशा-सी उथली नहीं है, रंगी नहीं है। उसमें व्यक्ति डूब सकता है। ऐसा डूब सकता है कि उबरने का डर ही न रहे। इससे बड़ी प्राप्ति और क्या है ? क्या नदियाँ समुद्र में अपने को खोने और ऐसे अपने को पाने के लिए ही विवश बही नहीं जाती हैं ? आशा भी निराशा के अथाह में उसी तरह सार्थक होगी।

किन्तु अभिभावक ने सहसा मुझसे अपनी निगाह नहीं उठा ली। मानो वह विश्वास रखना ही चाहते हों कि मुझमें अब भी चिनगारी है। मैं उस बलती निगाह के नीचे सचमुच राख ही होता चला गया।

सहसा देखते-देखते तीव्र आवेश में उन्होंने कहा, "जाओ, तुमसे

कुछ होने वाला नहीं है।" कहने के साथ उनका हाथ भी उठा जो, यदि आवश्यकता से अधिक मैं उनके पास होता तो, उनकी उपस्थिति से हठात् मुझे दूर धकेलने में अवश्य समर्थ था।

मुझे चले आते ही बना।

मन में सुनसान। बाहर भी सुनसान। भीतर कहीं थाह नहीं। न बाहर कहीं अन्त।

मैं अतीत नहीं जानता, अनागत नहीं जानता। दिक् नहीं जानता, काल नहीं जानता। जो-जो जाना जाता है, कुछ नहीं जानता। बस, अपने मन के भारीपन को जानता हूँ।

किसी ने गाया है—

सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम!

राम का बल जो भी हो, मैं अपनी निर्बलता को जानता हूँ! ताक़त का ज़माना है, ताक़त की ज़रूरत है। उस ज़माने और ज़रूरत को जानता हूँ। पर अपनी निर्बलता को अकल से नहीं, वैसे जानता हूँ जैसे पीर जानी जाती है, धड़कन जानी जाती है।

सन्त ने और गाया है—

"जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै...
बहिरो सुने, मूक पुनि बोलै,
अंधरे को सब कुछ दरसाई।"

सन्त की यह बात श्रद्धा की है, जानने की नहीं। मगर उससे ढारस बँधता है। हम दुनिया के प्राणी अभी लड़कर चुके हैं। खासी-अच्छी लड़ाई भी हमने लड़ी है। अपने जान कोई कोर-कसर हमने उसमें नहीं रखी। फिर भी हम काफी संख्या में अभी जिन्दा हैं, तो इसमें हमारा कसूर नहीं है। शायद हो कि इस त्रुटि के लिए फिर जल्दी ही एक उससे भी बड़ी लड़ाई हमें और लड़नी पड़ जाय। बीज तो उसके लिए हमने ठीक-ठीक मेहनत से हाल में बो दिये हैं।

ऐसे हम दुनिया के प्राणी किसकी कृपा से वैर और अविराम का

गिरि लाँघेंगे और उसके पार जो नया युग है उसे पाएँगे ? क्या कृपा उसी परम कृपालु की, जिसके गुण सन्तों ने गाये हैं ? इस देश और इस काल के नहीं, सब देश और सब काल के सन्तों ने गाये हैं ? वह नहीं तो फिर किसकी ?

शासकों की कृपा पर हम जीते हैं। लेकिन उनकी कृपा को तो हम भोग रहे हैं। हाय, उससे तो ढारस नहीं बँधता है।

तब फिर क्या सचमुच उन शासकों के भी ऊपर कुछ है, कोई है, कि जिसकी कृपा खोजी जाय और पाई जाय ?

अनुभवी अभिभावक का अनुभव तो खोज के व्यर्थ प्रयास से मुझे बचाना चाहता है। वह बुजुर्ग हैं, विश्राम के अधिकारी हैं। लेकिन मुझ जवान को प्रयास से छुट्टी कहाँ है ? उन रामनाम अनाम की कृपा को खोजने और पाने का वह प्रयास ही मेरे लिए तो सच्चा पुरुषार्थ है।

कौन जाने इस तरह के एक के और सब के प्रयास में से उस शक्ति का स्रोत खुले कि जिसकी कल्पना ज्ञानियों को रही, पर जिसकी यथार्थता पूरी तरह आविष्कृत होने को अभी शेष है, जो शक्ति अणुशक्ति से भी सूक्ष्म और उससे भी अमोघ है।

क्या वही शक्ति न है अहिंसा ?

मेंढक

कुएँ के मेंढक की शान्ति निर्विघ्न होती है। तब तो कहना ही क्या कि जब पानी भी वहाँ से न खिंचे। मेंढक भी यह जानता है। क्योंकि वह उस कुँए को चुनता है, जिस पर काई पड़ी हो और डोल कम पड़ता हो।

आदमी मेंढक नहीं होते। लेकिन बनाए, और बनने दिए जा सकते हैं। सिर के ऊपर से गरुड़ की तरह से जो लोग झपटते हुए इधर-से-उधर उड़ा करते हैं, ऐसे पुरुषों के भोज्य के लिए जरूरी है कि कुछ अन्धे कुएँ हों जहाँ काई जमा करे और आदमी मेंढक हुआ करें।

पेट को खाली रखकर आसानी के साथ आदमी को अन्धे कुएँ का मेंढक बनाया जा सकता है। उसके साथ जोड़ दीजिए भविष्य की चिन्ता और शंका। बस फिर आदमी अपने ही अन्दर के कुएँ का मेंढक बनकर, धूप से और हवा से बचा हुआ, अपने में और गिरस्ती में, रस और गर्व, सन्तोष और धर्म और पुण्य और कृतार्थता मानता हुआ जिये चल सकता है। वह समाज के अन्याय को धर्म की कीमिया से अपना भोग और फिर उसी को अपना सुख-भाग्य बना लिया करता है।

ऐसे प्राणी सुखी हैं। लेकिन सुख भगवान् को कम मन्जूर है। इससे मुझ कूपनिष्ठ के साथ यह हुआ कि मुझे दिल्ली से बाहर जाना पड़ा। आत्मा की बात में सुख है। लेकिन हिलने-डुलने, जाने-आने में

दुख ही दुख है।

देखा कि दिल्ली के पास छावनी बसी है। ठीक कितने मीलों में वह बसी है, कह नहीं सकता। हिन्दुस्तान में ऐसी कितनी छावनियाँ हैं, यह भी नहीं मालूम। पर चाहने वाले को मालूम हो सकता है। उन पर होने वाला खर्च, और खत्म होने वाली चीज़ें—पैसा, जानवर, आदमी, इज़्ज़त, नीति और आदर्श—कोशिश करने पर सब मालूम हो सकता है। दिमाग में हिसाब की हिस हो तो पढ़ता भी निकाला जा सकता है कि एक अदद सिपाही हिन्दुस्तान के कर पर, यानी कर-दाता पर ठीक कितने रुपए भारी पड़ता है। इस अदद में फिर फर्क है, गोरा-अदद ज्यादा वजनी होता है, काला हलका होता है। हलका इस वजह से भी कि फर देने वाला उसी के रंग या, उसकी जाति का, काला आदमी है। काले का बोझ उसके मन पर शायद भारी न भी पड़े। लेकिन बोझ सफेद होगा, तो उसका भारीपन कुछ मालूम भी होगा, और ऐसे काले करदाता का सिर झुका रहेगा।

हिन्दुस्तान की कुल आय का कितना हिस्सा फौज पर जाता है, यह कोई दुरूह तथ्य नहीं है। सरकारी आँकड़ों में उसका हिसाब है। फौज का विषय अगरचे खास सरकारी ज्ञान और अधिकार का विषय है, तो भी, अन्दर तक की नहीं तो किनारे तक की, कुछ जानकारी तो मिलने दी जाती है। उस जानकारी से इतना तो पता लगता ही है कि यह धन्धा देश के लिए सबसे कीमती है। इसलिए जरूरी तौर पर सबसे महान्, सबसे उपयोगी, सबसे पारमार्थिक, सबसे अनिवार्य इत्यादि-इत्यादि भी वही है।

मैं समझता हूँ कि यह ठीक ही है। किनारों पर दुश्मन हैं, जो कई हैं, और भारी-भारी हैं। फिर अन्दर दुश्मन हैं, जिन्हें सफेद टोपी से यह नहीं समझना चाहिए कि किसी से कम भयंकर हैं। और जाने क्या-क्या गैबी मुसीबतें हो सकती हैं। ये सब आफतें तुम्हारी शान्ति, तुम्हारा घर और तुम्हारा कौर छीनने को तैयार हैं। इससे जान देकर

सबके सुख और शान्ति की रक्षा करने के लिए बहादुरों की एक जमात चाहिए। ये जान हथेली पर लेकर रहते हैं, इसलिए इनकी जान की कीमत बहुत है। जाने कब उनकी माँग हो आए। इससे उसकी तैयारी में उन्हें कवायद, खेल-कूद, मौज-शौक, और सब चीजों की इफरात और छूट होनी ही चाहिए।

इतिहास में सैनिक का ऊँचा दर्जा है। जो भी नाम उसमें चमकीले हैं योद्धाओं के, वीरों के हैं। वीर-धर्म ही अलग है। वह ऊँचा है, अनोखा है; सामान्य धर्मों के नीति-नियम उस पर लागू नहीं होते।

नागरिक-धर्म जुदा है। वह मामूली है और मामूली आदमियों के लिए है। उसमें जो गुण हैं, ऊँचाई पर वे ही अवगुण हो सकते हैं। नागरिक धर्म-शास्त्र इस तरह जबकि केवल इसलिए है कि वह कर्तव्य की तरफ लोगों का ध्यान दिलाए रखकर उनसे तरह-तरह का उत्पादन कराता रहे, तब सैनिकों का धर्म यह है कि वे उस उत्पन्न सामग्री के भोग पर अपनी सत्ताओं के अधिकारों के लिए लड़ें और उस अधिकार को सम्भव हो तो ऊँचा उठावें, और लम्बाई-चौड़ाई में भी उसे फैलावें।

विश्व की सभ्यता, कहते हैं, बढ़ रही है। वह बाहु से मस्तक की तरफ उठ रही है। सैनिकता धीरे-धीरे उपादान और नागरिकता प्रधान बन रही है। सेना सिविल-शासन के प्रति दायित्व रखती जा रही है। सेना के हाथ में निर्णय नहीं, निर्णय उस शक्ति के हाथ में है, जो नागरिक-धर्म की प्रतिनिधि है।

ऐसा कहा जाता है। इसी को विकास भी कहते हैं। कहा जाता है कि नात्सी और फासिस्ती शासन सैनिक शासन था। मुकाबले में लोक-शासन की सेनाएं थीं। धुरी देशों की हार में सैनिकवाद की ही हार मानना चाहिए।

समाचार ये बड़ी सांत्वना के हैं। लेकिन क्या यह पूछने और जानने की धृष्टता हो सकती है कि किस देश में कितना उत्पादन सैनिक आवश्यकता के लिए हो रहा है? कितना महत्त्व वहाँ सैनिक आवश्य-

कतात्रों को दिया जा रहा है? सैनिक जन और सामान्य जन में से किस पर सरकारी आय का कितना-कितना प्रतिशत खर्च होता है?

देशों की सरकारों के बजट हमारे सामने नहीं हैं। शायद पूरी तरह वे सामने होने के लिए भी नहीं होते। यह भी हो सकता है कि उनसे यह पता चले कि युद्ध लोगों के लिए नहीं, बल्कि लोग ही युद्ध के लिए हैं। सेनायें इसलिए नहीं कि वे देश की रक्षा करें, बल्कि देश इसलिए हैं कि वे सेनाओं का पालन करें।

लड़ाई होकर चुकी है कि जिसका घाव हर एक तन पर और मन पर ताजा है। अगर वह खुद लड़ाई को असम्भव बनाने के लिए थी, तो उसका यह फल आना चाहिए था कि सांस्कृतिक आवश्यकताओं की प्रधानता होती और धन उसी के लिए होता। सैनिक आवश्यकता जैसी चीज लगभग रह ही न जाती और सुव्यवस्था का काम पुलिस के सहारे ही मजे में हो सकता।

लेकिन लड़ाई का क्या यह फल आया है? आदमी बेशक फौजों में से कुछ खाली हुए हैं। लेकिन सैनिकता ने जरा भी जगह क्या नागरिकता को दी है? यह भी हो सकता है कि शस्त्रास्त्र ही अब ऐसे बन गए हैं कि संख्या कुछ गैर जरूरी हो गई है। इससे ऊपर से आदमी कम होकर भी अन्दर से तैयारी बढ़ ही रही है।

सुनते हैं, दुनिया के सिर पर अकाल खड़ा है। घर पर राशन में फी-कस गेहूँ छः छटाँक (वह भी नहीं, क्योंकि डिपो की दुकान पर था ही नहीं) आया है। बंगाल में सैंतीस लाख अकाल में मरे बताये जाते हैं। बंगाल बिचारा एक सूबा है। दुनिया पर अकाल आयगा तो कितनों को मरना होगा, भगवान् जाने।

लेकिन एक निश्चय है। वह यह कि फौजें नहीं मरेंगी। धर्म जाने से जैसे दुनिया को रसातल में जाना होता है, वैसे ही फौजों के मरने से मनुष्य जाति को ही मरना होगा। फौजें उन्हीं को लेकर बनती हैं जो मरने के लिए आते हैं। लेकिन फौज को अजय वरदान है। एक

मरता है तो कई उसकी जगह आते हैं। शास्त्र सिखाते हैं और प्रचार बताता है कि फौज में मौज है, और वहाँ मारने और मरने दोनों में पुण्य है। फौज एक अजब उपज है। उसका बीज मनुष्य की उत्पत्ति के साथ है, बल्कि उससे भी पहिले है, तब से जब वह जानवर था, कीट-पतंग था। तभी तो प्रकृति-विज्ञान का अध्ययन-मनन बताता है कि संघर्ष ही नियम है, द्वन्द्ववाद (भौतिक) विकास की पद्धति है, और कि लाठी की ही भैंस है। सिद्ध और प्रसिद्ध मंत्र है कि प्रबल जिएगा और दुर्बल मरेगा। जीने वाले के लिए आवश्यक होगा कि मरने वाले को मारे। इस अमर सिद्धान्त की चरितार्थता और कृतार्थता के लिए ही इतिहास में सेनानी सम्राट् होते आए और दुनिया उनके तले बिछती और पिचती आई है। ऐसा होता है तभी उनकी पूजा होती है और पुस्तकें उनका प्रशस्ति-पाठ करती हैं।

अतएव इस मुक्त कूपमंडूक को अपार विस्तार में छाई वह छावनी प्रकृति के अमोघ विधान-सी लगी। मानो वह मौलिक हो, शेष उस पर निर्भर हो। वह बुनियाद हो और सभ्यता का महान् निर्विघ्न सुरक्षा में उसी के बल-बूते खड़ा हो।

ओ भगवान् ! तेरी दुहाई है कि आदमियों की दुनिया में तूने अंधे गहरे कुएँ भी बनाए हैं, और मुझ-से जन्तु भी जो श्रद्धा का नाम लेते वहाँ पड़े रहें और सियासत को कुछ न समझें।

आज़ादी

रामसरन के परिवर्तन की कथा इस प्रकार है। उसके घर की स्थिति साधारण थी। स्कॉलरशिप जीतता हुआ वह पढ़ता चला गया। एम० ए० करके आई० सी० एस० में बैठा। रिज़ल्ट नहीं आया था और इतने वह रिसर्च में लगा हुआ था।

उसके मन में बहुत-कुछ करने की थी। पर अपनी जिम्मेदारियों से पहले आजाद होना था। उस आजादी का रास्ता था योग्यता पाना और उस योग्यता के बल पर ऊँची जगह पाना। पैसे से दुनिया की बहुत-सी समस्याएँ पैदा होती और मिटती हैं। उनसे निपट कर वह आज़ाद होगा कि बाकी कुछ कर सके। उस अपनी निजी आज़ादी के दिन पर आँख लगाए, खूब मेहनत से वह अपना अध्ययनकाल बिताए चला जा रहा था।

पर वह दूर का दिन आए-न-आए कि छब्बीस जनवरी का दिन आ ही पहुँचा। वह देश की आजादी का दिन।

अपनी कल्पना की निज की आजादी की लगन में रामसरन को देश की आजादी सहसा याद नहीं आती थी। इससे वह रोज की तरह आज भी समय से पहले यूनिवर्सिटी में आकर अपनी थीसिस की तैयारी में लग गया था। पर थोड़ी ही देर में आ पहुँचा वहाँ अर्चना के नेतृत्व में एक दल, जिसने जयकार के साथ हिन्द

हिन्द की महिमा से हाल को गुँजा दिया। रामसरन ने देखा—अर्चना अस्थिर हो आया।

अर्चना ने कहा—"उठिए आई० सी० एस० साहब !"

रामसरन ने अब देखा अर्चना के पीछे का सन्नद्ध दल।

उसने पूछा कि क्या हम शोषक लोगों को भी काम बन्द करना होगा, और कहकर मुस्कराते हुए दल की नेत्री को उसने फौजी सैल्यूट दिया।

अर्चना लाल हो आई। फिर बोली, "सोच देखिए। आज छब्बीस तारीख़ है। देश के नाम पर एक दिन काम बन्द कर देना गुनाह तो न होगा।"

"लेकिन काम अगर बन्द करने लायक मुझे न जान पड़े तो—"

"तो आपकी मर्ज़ी है," संकोच से उबरते हुए अर्चना ने कहा, "लेकिन ये मेरे पीछे इतने विद्यार्थियों को आप देखते तो हैं। चालीस करोड़ में ये बूँद जितने भी नहीं हैं। लेकिन हम इने-गिने उन चालीस करोड़ के नाम पर आए हैं। उन देशवासियों की बात क्या आप टाल दीजिएगा ?"

रामसरन अर्चना के लिए अभ्यर्थनीय था। इससे कारण था कि वह ऊँचा रहना चाहे। उसने कहा, "अर्चनादेवी, क्षमा कीजिएगा। मेरी इस सब धूम-धड़ाक और खुराफ़ात में श्रद्धा नहीं है।"

अर्चना को यह सुनकर तैश हो आया। हठात् संयम रखकर बोली—"आपकी श्रद्धा आई० सी० एस० होकर हाकिम बनने में तो है! वह जो हो। लेकिन खुराफ़ात शब्द क्या आप वापस न लेंगे ?"

रामसरन की सिर्फ़ इच्छा थी कि अर्चना के चेहरे पर आवेश की सुर्ख़ी कुछ देर और देखता रह सके। इससे सुन्दरता और सुन्दर हो उठती है। उसने कहा—"मैं जानता हूँ कि आप लोग मर्यादा रखना नहीं जानते हैं। इसलिए कहिए कि मुझे क्या करना होगा।"

अर्चना ने कहा—"आपको कुछ करना नहीं होगा। आप

यहाँ पढ़िए और लिखिए। मर्यादा की रक्षा यहाँ आपके हाथ छोड़कर हम चले जा रहे हैं। लेकिन मुझे कहने दीजिए कि मुझे अफसोस है!"

हँसी-हँसी में ही यह हो गया। अब रामसरन ने बात को साधना चाहा। पर इतने में ही दल के कुछ लड़कों ने कुछ आवाज-कशी शुरू कर दी। उसके नाम से कुछ मुर्दाबाद पुकारने लगे। देखते-देखते लड़कों को जोश चढ़क आया। मानो वे हाथ ही छोड़ बैठेंगे।

ऐसे समय अर्चना ने घबरा कर भी बुद्धि नहीं खोई। पीछे मुड़कर अपने साथियों से उसने कहा—"भाइयो, हम लोग चलें। ऐसे आदमी पर अपना समय बरबाद करने की जरूरत नहीं है।"

विद्यार्थी लेकिन सामने औद्धत्य पाकर सीधे लौट जाना नहीं चाहते थे। वे इस आदमी को सबक देना चाहते थे।

रामसरन यह देखकर अपनी जगह से आगे बढ़ आया। अर्चना को हाथ से पकड़कर अपने पीछे करके और स्वयं उसके सामने होकर दल के लड़कों से बोला—"सुनिए आप लोग, मैं यह खड़ा हूँ। आप इतने हैं, मैं एक। मैं नहीं जाना चाहता, नहीं जाऊँगा। आपमें कोई है जो इसके आगे कुछ कहना या करना चाहता है?"

विद्यार्थी इस अपने अपमान पर सहसा स्तब्ध हो गए। फिर रोष में वे अपने में ही बल खाने लगे। कुछ लड़कों की मुट्ठियाँ बँध आईं और वे मानो धीर संकल्प में आगे बढ़ने को उद्यत दिखाई दिये।

यह देख अर्चना आगे हो आई। बोली, "भाइयो, शपथ है हमें कि हम शान्त रहें और लौट चलें।"

लेकिन दल उसकी बात से शान्त होने की जगह और क्षुब्ध ही हुआ। दल की लड़कियों ने कहना शुरू किया कि अर्चना, तुम बीच से हट जाओ, हमारा अपमान न कराओ।

उस समय क्षण-भर अर्चना को कुछ नहीं सूझा, फिर बोली, "आप लोग इन्हें जबर्दस्ती ले जाएँगे तो मैं यहाँ से नहीं जाऊँगी। जबर्दस्ती के खिलाफ ही क्या हमें आजादी नहीं चाहिए?"

लड़कियाँ किसी तरह भी नहीं मानना चाहती थीं। उन्होंने चाहा कि अर्चना को यहाँ से वे बलात् अलग कर लें और लड़कों को फिर रामसरन से निपट लेने दें। यह सोचकर कुछ लड़कियों ने बढ़कर अर्चना को अपने घेरे में ले लिया।

इस समय रामसरन ने तीव्र अवहेलना के भाव से कहा, "भाइयो, आप लोग अधीर न हों। लीजिए मैं खुद ही अपने को आपकी कायरता के हाथों सौंपता हूँ। लेकिन सुन रखिए कि आपकी यह चीज़ अहिंसा नहीं है और आज़ादी नहीं है।"

सचमुच यह असह्य था। इस दम्भ को दल क्षमा नहीं कर सकता था। लोगों के हाथ छूटने शुरू हो गये।

इसी समय सहसा देखा गया अर्चना घेरे को तोड़कर तेज़ी से आई और रामसरन के चरणों में गिर गई। बोली, "रामसरन तुम दुष्ट हो। लेकिन, किसी की जबर्दस्ती मानकर तुम यहाँ से गए तो मैं अपने को क्षमा नहीं कर सकूँगी। जबर्दस्ती मैं किसी की किसी पर न होने दूँगी। जबर्दस्ती से आज़ादी कलंकित होगी।"

अर्चना को अपने पैरों पड़ी पाकर रामसरन बेहद घबरा आया। वह सब सुध खो बैठा। दोनों हाथों से तत्क्षण वहाँ से उसे उठाते हुए बोला, "अर्चनादेवी और भाइयो, सब लोग मुझे माफ करो। मैं सचमुच अधम हूँ कि अपनी बड़ाई चाहता हूँ। अर्चना, सुनो। मैं आज से अपनी तरक्की नहीं, सबकी आज़ादी के लिए ही हूँ।"

× × ×

उसके बाद की कहानी परिचित ही है कि किस तरह जलूस निकला और रामसरन ने लाठियों को अपने पर लिया और किस तरह मरकर भी फिर जी सका। यह भी परिचित कथा है कि किस तरह फिर उसने वापस मुड़कर पद और गौरव की ओर नहीं देखा। उसे याद ही न आया कि वह आई० सी० एस० हुआ था।

लेकिन कथा का अर्चना का भाग उतना परिचित नहीं है। कारण,

वह सार्वजनिक नहीं है। पाठकों की निश्चिन्तता के लिए इतना बता देना आवश्यक है कि वह रामसरन के एक परममित्र और उच्च पदस्थ अफसर की भरी-पूरी गिरिस्ती में सुख और धैर्य-पूर्वक अपना जीवन सफल पा रही है।

दफ्तर और—

शहर में लोग कारिन्दा रहते हैं। वक्त की उन्हें कीमत है। वे झपट कर चलते हैं। मरे वह कि जो तेज नहीं है। लेकिन तेज़ी की दौड़ में कुछ ज्यादा, तो अधिक कम तेज निकलेंगे ही। उन गिने-चुने तेज़ों के लिए शहर बसे हैं और उन्हीं के लिए शहर में दूसरे और लाखों की तादाद बसी है।

गाँव से लोग धड़ाधड़ शहरों में चले आ रहे हैं। क्योंकि यहाँ काम है। काम है, इसलिए पैसा है। इस तरह उस वक्त भी जबकि नाज की कमी है, वह नाज जो धरती पर पैदा होता है, लोग शहरों में भर रहे हैं, जहाँ धरती को गीली और हरी छोड़ना गुनाह और उसे सीमेंट से पक्की बनाये रखना धर्म है कि जिसमें खूबसूरती के सिवा कुछ भी वहाँ पैदा न हो सके।

सवेरे का समय। मैंने पूछा, "कहाँ जा रहे हो?"

सज्जन ने कहा, "दफ्तर"

दोपहर का समय। मैंने लपक कर जाते हुए इन्सान से पूछा, "क्यों? कहाँ चले भाई?'

उसने कहा, "दफ्तर।"

शाम को साइकिलों की भागती हुई भीड़ को देखा और हैरत में पूछा, "आप सब कहाँ से भागे आ रहे हैं?"

साइकिल की और तेज करते हुए एक ने कहा, "दफ्तर।"

दिन काम के लिये होता है। काम, अर्थात् 'दफ्तर'। इस तरह वक्त दफ्तर का, और आदमी भी दफ्तर का ही होता है।

दफ्तर यहाँ लाक्षणिक भाव में लें। अर्थात् वह सब दफ्तर है, जहाँ आदमी होता नहीं, रहता नहीं, जीता नहीं, बल्कि सिर्फ करता है। इस तरह दफ्तर वह है जो घर नहीं है।

जीने में ही पहले करना हुआ करता था। अब दोनों जुदा-जुदा काम हैं, करने को दफ्तर और जीने इत्यादि के लिए घर। समय इतना कम है, और करना इतना अधिक है कि घर के लिए दिन का वक्त नहीं बचता। इस तरह कर्मण्य नगरों में ऐसे लोगों का होना बिल्कुल जरूरी है जिनके घर न हों, बार न हों, और जीने का उन्हें कोई मौका न हो। जिससे शुरू से आखीर तक वे करते ही रहें, बाकी जीने वगैरह के झंझट से बचे रहें। सोयें कहाँ, खायें-पियें कहाँ यह सोचना जरूरी नहीं है। जीवन के नित्य-नैमित्तिक कर्म कब कहाँ कैसे पूरे हों, यह विचार अनावश्यक है। उनका काम करना है, और उतनी सफाई, तेजी और फुर्ती से करना है, जैसे मशीन करती है। मशीन साफ, तैयार और तैनात रहती है। आदमी को भी उसी की तरह साफ, चुस्त और दुरुस्त रहना चाहिए धिक्कार की बात है कि आदमी मशीन से गया-बीता हो! क्या आदमी में अकल नहीं है, कि वह साफ और दुरुस्त हो? इसमें सोचने की क्या बात है!

सौ करने वाले हजारों-लाखों लोग घर-बार से मुक्त शहरों में वह जिन्दगी बिताते हैं कि जिसमें जीने को थोड़ी ही जगह रह जाती है। मलत्याग से देवोपासना तक सब के लिए उन्हें उतनी ही जगह है।

यह वर्ग है अत्यन्त अपरिग्रही। इस से अहिंसा इसे चाहिए और धर्म भी इसे चाहिये ताकि काम भरपूर हो और मजूरी अनिवार्य से अधिक न हो।

इससे जरा ऊँचे वह तबका है, जिसका काम पैरों पर नहीं, कुर्सी

में होता है। मिल में नहीं, वह 'दफ्तर' में काम करता है। यह वेयर नहीं, ऐसा घर वाला है कि जहाँ जीना हिसाब से होता है। नोन-तेल-लकड़ी और पाना-पाई में उसकी जान है। मध्यम-श्रेणी इसको कहते हैं। घर उसका तालेबन्द है और स्त्री पति की कमाई में से नोंच-खोंच कर अपनी आजादी, दिखावट और जेवर बनाने को मौका करती है। इस श्रेणी का इन्सान रात-भर में कटता, और दिन दफ्तर में बिताता है। घर के लिए बिचारा दफ्तर जाता है, लेकिन दफ्तर उसके लिए मुश्किल से इतनी जगह छोड़ता है कि घर उसे आनन्द का नहीं, बल्कि सिर्फ भोग और कलह की जगह बन रहता है।

यह श्रेणी है कि जिसके पास दुःख की बारूद नहीं, और सुख का आनन्द नहीं। यह सन्तोष और सदाचार में रहती है, जिसके ध्रुव सम्पदा और सम्पत्ति हैं। मेरा धन और उसमें सन्तोष। मेरी पत्नी, और उसमें सदाचार। धन को काम से अधिक बैंक में, और व्यय से अधिक आय में यहाँ रखना होता है। स्त्री को उसी तरह जगत् से अधिक अन्तःपुर और प्रकाश में से अधिक अँधेरे में रखा जाता है।

जिन्दगी बदल रही है। कर्मठता का युग है। जीने से अधिक करना होगा। इसलिए घर से अधिक दफ्तर को बनाना होगा।

घर और दफ्तर में दूरी है। उतनी जितनी स्नेह और स्वार्थ में। इसलिए अगर दफ्तर केन्द्र है तो घर बेकार है। जीने के लिए तब क्लब और होटल हो सकते हैं। किये बिना चल भी सकती है, जिये बिना नहीं चल सकता। घर तो मुसीबत है, जहाँ मन को मारना, पत्नी को धर्मपत्नी समझना इत्यादि-इत्यादि अनावश्यक बातें आवश्यक होती हैं। इसमें क्लब और होटल-जैसी संस्थाओं को उनकी जगह लेनी होगी। इनके लिए और कुछ नहीं; केवल भरी जेब चाहिए। तब प्रतिकूलता सब आपमें बसी रहेगी, और अनुकूल सब-कुछ हाजिर रहेगा। क्लब और होटल आपको रोकते नहीं। वे तो आपकी शुद्ध सेवा और आज्ञा-पालन को ही उद्यत रहेंगे। विधि-निषेध का वहाँ पचड़ा न होगा।

जीवन समृद्ध हो रहा है। धन बढ़ रहा है। अतः स्वतन्त्रता और राजनीति बढ़ेगी और धर्म और संयम को सिमटना होगा।

यह है भविष्य की संस्कृति। हर आदमी यानी हर स्त्री और पुरुष इसमें स्वतन्त्र होगा। झंझट किसी के लिए न रहेगा, न कर्तव्य। पैसे की इफरात रहेगी, जिसके आगे भोग हाथ बाँधे खड़े होंगे।

यह एकदम स्पष्ट और तर्क-संगत सभ्यता आँख के अन्धे के लिए ही दूर और ओझल हो सकती है। हिन्दुस्तान के सिर के ऊपर नहीं, चेहरे के ऊपर तक यह आ गई है।

कुछ का खयाल है कि दिल में यह नहीं पहुँची है। समझदारों का खयाल है कि यही हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य है।

जो हो, लड़ाई होकर चुकी है, जिसमें सफेदों ने सफेदों का गला काटा है। उसके बाद सफेद सभ्यता की हालत लन्दन में, पेरिस में, बर्लिन में और शायद मास्को में भी जो है, बहुत ईर्ष्या के लायक तो वह न हो।

पर अरे, कौन जानता है कि हिन्दुस्तान और चीन जैसी आबादियाँ काले और काले रहने को रहे जायँ, तो फिर सफेद जीवन पर कालिमा क्यों न रहेगी और कालिमा अगर हुई भी तो दीखने को ऊपर क्यों आयगी।

सचमुच विधि-लीला कोई कुछ नहीं जानता।

दिल्ली की तरफ

'जय हिन्द' के साथ हिन्दुस्तान का स्वराज्य लेने के लिए प्रणबद्ध नेताजी की फ़ौज की पुकार थी : 'दिल्ली चलो'। हिन्द की जय दिल्ली में पहुँच कर पूरी होगी। और इस हफ्ते हिन्दुस्तान में जो भी हैं, यानी होने की गिनती में हैं, दिल्ली पहुँचे हैं। नई असेम्बली शुरू हुई है। सारे हिन्दुस्तान में सूबों की सभाओं में चुने जाने वाले लोगों का फैसला हुआ है। राजाओं की चेम्बर बैठी है। पार्लमेंटरी बोर्ड बैठा है। आस-पास विलायती पार्लमेंटरी डेलीगेशन घूमा और मिला किया है। लीग के मशवरे हुए हैं। और नेता सुभाषचन्द्र बोस का पचासवाँ जन्म-दिन इस खुले विश्वास के साथ मना है कि कौन जाने अगला ही यह वर्ष-दिन खुद उनकी मौजूदगी में मनाने को मिल जाय।

दिल्ली में सब आ गए हैं। यानी हिन्दुस्तान ही आ गया है। क्योंकि हिन्द की जय इस दिल्ली में होगी जो हिन्दुस्तान की राजधानी है। यों दिल्ली में बारह बरस से ज्यादा रहने वाले ऐसे लोग भी हैं जिन्हें उस भाड़ से आगे का पता नहीं है, जिसे वे झोंका करते हैं। लेकिन अगर गिनती लायक सारा हिन्दुस्तान चला है; और दिल्ली में आकर पहुँचा है; और दिमाग लगाकर उसने अपने-अपने अरमानों और मुसीबतों के बारे में सोचा है, तो ज़रूर ही उस दिल्ली में कुछ-न-कुछ पक कर तैयार हुआ रहा चाहिए, जिसमें से चित्र-विचित्र रंगों

के साथ 'हिन्द की जय' फूटकर उठती हुई दिखाई दे जाय।

आशाएँ हैं और विश्वास है और लोग व्यस्त हैं। जरूर नक्शे तैयार हो रहे हैं। आजादी गढ़ी जा रही है। विधान और सन्धि-पत्र बन रहे हैं, और किसका कहाँ—ऊँचा या नीचा, फैला या छोटा, इकला या शामिल—भाग होगा, यह लगन और मनन के साथ सोचा जा रहा है। यह दिल्ली है, राजधानी है, और राजनीतियों का केन्द्र है। और ब्रिटिश कूटनीति की अध्यक्षता में, फोन पर, बेतार के तार पर, कागजों पर और सभा-हालों में, सब-कुछ यहीं हुआ करता है। दिल्ली चलना अब नहीं है। उसमें अब जम रहना है।

लेकिन सेवाग्राम से दिल्ली अगर उत्तर है तो गांधी दक्खिन गया है। गांधी गिनती से बाहर है। शोर की जरूरत है, तब वह खामोशी सिखाता है। जोश की जरूरत है तब शान्ति बताता है। समझ की जरूरत है तब राम-धुन गवाता है। उद्योग की माँग है, तब चर्खे की सुझाता है। और दिल्ली में चहल-पहल है तब देहात-देहात फिरता है।

क्या गांधी यह वही है जिसने सन् १९१९ में हिन्दुस्तान की राजनीति में जान डाल दी थी, जिसने क्रान्ति की थी? जिसने सोते हुओं में फड़क भर दी थी? जिसने राष्ट्र के लहू में आग और जाग डाल दी थी? शायद वही है। लेकिन क्या किया जाय, दिन आगे बढ़ आए हैं। मसला अब जेल का और त्याग का नहीं है, वह अब विधान का है। आजादी आया चाहती है। पार्लमेंट की अगली बैठक चैन से नहीं बीत पाएगी उसे कुछ करना ही होगा। हर तरफ के हर नेता का बयान देखो? इसके जवाब में ब्रिटेन क्या चुप बैठ पायगा? इससे आती आजादी के मिल-बाँट का यह वक्त है। त्याग-तपस्या से यह नाजुक काम नहीं हो सकेगा। यह मसलहत का काम है और असली और गहरी राजनीति का है। धर्म और आदर्श के साथी गांधी को ऐसे समय न छेड़ना ही अच्छा है।

राजनीति? वह अपने को जानती है। गांधी को अपने धर्म को

जाने रखना चाहिए। पर राजनीति में यह हिंसा-अहिंसा क्यों? शक्ति का यह खेल है। उसमें बचना या बचाना एक समान जुर्म है। मुक-मुक के लीग के कायदे आज़म को चढ़ाकर कांग्रेस के लिए मुसीबत ही पैदा कर दी गई ना? और जवानों का जोश ठंडा किया गया। और दूसरी पार्टियों को पनपने और बढ़ने का मौक़ा दिया गया। कांग्रेस अब विधायक राजनीति पर चलेगी। भुगत लेगी जिससे भुगतना होगा, पर झुकेगी नहीं। और बाहर निकलना होगा उसे जो ज़रा अलग बात करेगा।

इस तरह गांधी श्रद्धेय है। और सब उसके कृतज्ञ हैं लेकिन राजनीति की मुश्किल कुछ दूसरी है। और इस उम्र में गांधी को उनके लिए कष्ट देना अदया है। हम उनसे सुलझेंगे और राजनीति में किसी गैर ख़याल पर नहीं रुकेंगे। घड़ी कठिन है। नई दुनिया बन रही है। हम बेताब हैं। भूत हमारी शान का है। भविष्य उसकी शान से कम न होगा। और उस भविष्य में अपना हिस्सा अदा करने से हमें कोई न रोक सकेगा। ऐसे दम-खम के साथ दिल्ली में राजनीति मिल रही, बोल रही, लिख रही, सोच रही और जिम्मेदाराना तौर पर मौज कर रही है।

उधर गांधी कहता है करो। सोचो नहीं, बोलो नहीं, किये जाओ। यह चरखा है। और पार्लमेंट में नहीं, स्वराज्य उसमें है। उसमें वह दीखता नहीं और शायद पार्लमेंट में दीखता भी हो। पर मैं कहता हूँ कि चरखे में तो वह है। और जो विलायत की सभा में दीखता है, फ़रेब है। दर्शन चरखे में मैं उसके कैसे कराऊँ। पर कातने लग जाओगे तो शायद दर्शन भी होने लगेगा। और उस श्रद्धा के साथ सब कातने लगेंगे तब तो दर्शन की बात न रह जायगी। तब तो वह प्रत्यक्ष अवतार में आ जायगा। स्वराज्य को आना नहीं है, भाई। उसे यहीं से होना है। और अभी और यहीं से हमें बीज डालकर उसे बोने और उगाने में लग जाना है। दिल्ली जिन्हें जाना पड़े, जाएँगे ही। पर

स्वराज्य के लिए कहीं किसी की तरफ देखना और जाना हो वह फिर असली स्वराज्य नहीं।

लेकिन जरूर ये रहस्यवाद की बातें हैं और इन पर ठहरना बुद्धिमानी नहीं है।

राजनीति प्रत्यक्ष और स्पष्ट वस्तु है। स्पष्ट और प्रत्यक्ष है कि जैसा वाइसराय हाउस। और वह ठोस है कि जैसा असेम्बली का भवन। भावुकता से वहाँ नहीं चला जायगा। पार्लमेंटरी रीति-नीति से वहाँ चलना होगा।'

सरकार और संस्कृति

राजनीतिक स्वाधीनता जहाँ पहुँची है वहाँ मालूम होने लगा है कि उसके अन्दर संस्कृति का सत्त्व न हो तो वह बेकार-सी चीज है। तब उस स्वाधीनता के स्थायी होने में भी शंका रहती है। राजनीतिक स्वाधीनता का यन्त्र होता है उस देश की सरकार। सरकार आज लगभग सभी देशों में व्यापक चीज बनती जा रही है। वह कुछ की नहीं है, सब की है। सब की रायों से वह बनती है। जहाँ उसका रूप डिक्टेटरी का है वहाँ भी बल उसके पीछे जनमत का है। ऐसे सरकार लोक-जीवन के अंश को नहीं छूती; बल्कि मानो उसके सर्वांश में समाई रहती है।

इसमें प्रश्न है कि संस्कृति का और सरकार का आपस में क्या सम्बन्ध और दायित्व है, और हो?

सरकारें कई हैं। मानव-जाति की व्यवस्था देशों और देशीय सरकारों को इकाई मानकर चलती है। इस तरह अलग-अलग देश हैं। उनके अपने सिक्के हैं, अपनी भाषा और राज-व्यवस्था है। राजनीति की ओर से एक देशवासी दूसरे के लिए विदेशी है। स्वदेश और विदेश की संज्ञाओं के सहारे राजकाज और काम-काज चलता है। विदेश-नीति राजनीति का प्रमुख भाग है। विदेश से स्वदेश की रक्षा करने के लिए सीमाओं पर चौकियाँ बिठानी और फौजें तैनात रखनी पड़ती हैं। सर-

कार का काम पहले सुरक्षा है। बाहर का हमला हो तो सरकार का जिम्मा होगा कि उसको रोके और देश को बचाए। सरकार इस तरह पराये से अपने देश को अलग और स्वतन्त्र और स्वाधीन रखने के लिए निर्माण किया हुआ एक अस्त्र है। उसकी क्षमता मुकाबिले में है। अमुक से उसकी ताक़त ज्यादे है, उत्पादन ज्यादे है; सेना ज्यादे है—जल, थल और वायु सभी तरह की; टैंक, गोला-बारूद और तोप-बन्दूक ज्यादा है, या कम है,—इस मान से सरकारों की ताक़त को कूता जाता है।

अब संस्कृति क्या है? क्या वह भी इसी तरह की ताक़त का नाम है? क्या उसमें भी अपनी सीमाओं पर नाकेबन्दी है? क्या वहाँ भी अपने और पराये के बीच में कँटीदार बाड़ है? क्या बाहर के भय को लेकर भीतर किसी अहंवाद के खोल में अन्दर को ओर संकुचित और सुरक्षित बनने या बनाने का नाम संस्कृति है? या कि संस्कृति उससे कुछ भिन्न चीज है?

अपने को अलग, और उस अर्थ में स्वतन्त्र और स्वाधीन, जो रखना चाहे वह शायद संस्कृति नहीं है। संस्कृति परस्परता में से उगती है। परस्परता, यानी फैलता हुआ आपसी सहयोग। उस आपसीपन पर संस्कृति में कहीं भी हद नहीं आती। पड़ोसी से शुरू होकर समूची मानव-जाति तक उसे बढ़ते ही जाना है। किसी जगह रुककर यह कहना कि हमारा प्रेम और हमारी आत्मीयता यहीं तक रहेगी, आगे हमारे लिए अप्रेम और द्वेष का अधिकार शुरू हो जाता है—संस्कृति के लिए सम्भव नहीं है। यह कहने और मानने के साथ ही विकृति शुरू हो जाती है।

सन्देह नहीं कि संस्कृति को ही जातीय और देशीय बना लिया गया है। देशों की अलग-अलग संस्कृतियाँ भी कही जाती हैं। यह कहना एकदम मिथ्या भी नहीं है, लेकिन यह तो उसमें गर्भित ही है कि वे परस्पर पूरक ही हैं, मारक नहीं हैं। संस्कृति शब्द की ध्वनि से ही यह तो साफ़ हो जाता है कि विग्रह की जगह सामन्जस्य उसका इष्ट है।

संस्कृति का दर्प और दम्भ राजनीति के स्पर्श से ही सम्भव होता है, अन्यथा उसके मूल तत्त्वों में स्वागत-भाव से दूसरे को लेने और हर्ष-भाव से दूसरे के प्रति बढ़ने की बात समाई रहती है।

हम इतिहास में से बढ़ते ही आए हैं। बढ़ने का मतलब कि हमारी आत्मीयता का विस्तार ही होता गया है। आत्मीयता के साथ शायद अहन्ता का भी विस्तार हुआ हो, पर इन दोनों में अन्तर चीन्ह रखना जरूरी है। अहन्ता में स्वत्वभाव बढ़ता और उसकी सीमा पर संघर्ष-भाव बैठा रहता है। उसमें हर कुछ और हर कोई गैर बनता है और सबके साथ सम्बन्ध तब स्वार्थ और भोग का बनता है। उसके विरोध में आत्मीयता अन्तस्थ महानुभूति को खोजती है। उसमें व्यक्ति खींचना और छीनना नहीं है, देना और बरसाना है। आत्मीयता मिलाती है, अहन्ता काटती है।

इतिहास में यदि हम बढ़ते आए हैं तो हमारा उत्कृष्ट ही नहीं निकृष्ट भी बढ़ता आया है। दुनिया एक हो रही है। दूरी उड़ गई है। अज्ञान और अपरिचय समाप्त हुआ जा रहा है। तब यह भी है कि इन सब सुभीतों से युद्ध के और भीषण और प्रचण्ड होने का अवसर आ गया है। पहले कुछ लड़ते थे और बाकी अलिप्त रहते थे। अब लड़ना ऐसा होता जा रहा है कि उससे बचा कोई रह न सके। दूरी के दूर होने का काम जैसे बुराई ही पहले पा रही है।

पर यह निराशा का विषय नहीं होना चाहिए। चुनौती ही सामने आकर जीवन में सामर्थ्य जगाती है और बढ़ती हुई आत्मीयता के लिए सिमट कर कसती हुई अहन्ता उलटे चेतावनी, स्फूर्ति का काम दे सकती है।

किन्तु जिस जगह सावधानी की आवश्यकता है वह है संस्कृति के काम में उस शक्ति का उपयोग जिसके बल पर सरकार अपना काम चलाती है। उससे दीखने वाला काम आसान हो जाता है, लेकिन असली काम शायद उसी आसानी से बिगड़ भी जाता है। सरकार के

पास यांत्रिक शक्ति है, इसी कारण हार्दिक शक्ति के उत्पादन में वह असमर्थ हो जाती है। आतंक में से प्रेम उत्पन्न नहीं होता। सरकार के पास परिमाणात्मक प्रचुरता है और उसके जोर से सरकारी काम होता है। पैसे का काम सरकारी होने से रुपए में होता है। सरकार का बल पैसा है और वेतन-भोगी उसके हाथ-पाँव। सामने से पैसा हट जाय तो वह काम ठप हो जाता है। संस्कृति के काम की जड़ें दूसरी हैं। पैसे का लोभ आगे रखकर तो वह हो ही नहीं सकता। कष्ट का भोग सामने हो तब भी जो आगे बढ़े—ऐसा ही संकल्प और संयम से युक्त पुरुष या वर्ग स्थायी संस्कार छोड़ जा सकता है। वह काम श्रद्धा की शक्ति से और तप-त्याग द्वारा होता है।

यह प्रश्न आज के दिन महत्वपूर्ण है, क्योंकि सरकारें जनतन्त्रात्मक बन रही हैं और माना जाता है जो सार्वजनिक है वही सरकारी है। लोक-सेवा लोक-शासन ही है। जन-राज और लोक-राज के इन राजनीतिक आदर्शों से सान्त्वना तो होती है, लेकिन राज और जनता, राजा और प्रजा इन दोनों के बीच का अन्तर आदर्शों और नारों से मिट नहीं जाता। इससे सहज सन्तोष की जरूरत नहीं है और सरकारी हाथों से रोटी-रुपये की अपनी स्थूल आवश्यकताओं को देने से आगे अपनी आत्मिक आवश्यकताओं जैसे शिक्षा-संस्कृति को देने के समय सोच-विचार की आवश्यकता है।

पड़ौस में जो हमारे देश हैं, हम देखते हैं कि वहाँ बसने वाले भी आदमी ही हैं। हमारी तरह सुख-दुख उन्हें भी अनुभव होता है। उसी तरह मेहनत करके उपजाने और रहने को वे भी लाचार हैं। लेकिन नक्शे में अमुक लकीर होने और राजधानी में सरकार नाम की चीज के होने से वे हमारे लिए गैर हैं और दुश्मन भी हो सकते हैं। इसलिए संस्कृति के यानी बढ़ते हुए मेलजोल के काम के लिए आवश्यक दृष्टि मानवीय दृष्टि है जो स्पष्ट ही राजनीतिक से दूसरी है और दूर है। वह अपने-पराये और स्वदेश-विदेश की नहीं है, आत्मोपमा, समवेदना और

सहानुभूति की है। निश्चय ही वह सरकारी दृष्टि नहीं हो सकती। वह अधिकाधिक उस को प्राप्त होगी जो देश के और देश के स्वार्थ के साथ जड़ित होकर नहीं बल्कि मानव-हित में समर्पित होकर रहता है।

सब देशों के लोक-मत में ऐसे लोग भी पड़े हुए हैं जो प्रभाव रखते हैं किन्तु आन्तरिक। वे किसी सत्ता, पद या परिमाण के बल से बलिष्ठ नहीं हैं। प्रेम, प्रसन्नता और वेदना जो उनकी भाषा और व्यवहार में व्यंजित होती है, उनका प्रभाव उसी पर टिका है। ऐसे लोगों का बल संस्कृति के सच्चे काम का है। कारण वह यांत्रिक नहीं, हार्दिक है। इससे चहुँ ओर वह चैतन्य को उभारता है और कुछ के गर्व की ठकसाकर शेष के मान को दबाता नहीं है।

जिसको हम संत कहते हैं वह उसी प्रकार का व्यक्ति है। सम्पत्ति से वह शून्य है और अपना अलग स्वार्थ उसके पास नहीं है। सबको प्रीति बाँटता हुआ है, सबकी कृपा माँगता हुआ वह जीता है। सच पूछिए तो यही व्यक्ति संस्कृति का स्रोत है, कारण उसका लगाव उस भगवान् से है जिसमें सब ब्रह्माण्ड एक है। इसलिए उसके मन में किसी को खण्डित करने का ध्यान नहीं आता। खण्ड-खण्ड में वह उसी अखण्ड की सत्ता को भास्वर देखता है। मन में अखण्ड भाव लेकर जगत् के प्रत्येक खण्ड को वह आदर और प्रतिष्ठा का दान करता है। इस तरह सब ओर उसके लिए स्वस्ति है और हर किसी को वहाँ से स्फूर्ति प्राप्त होती है।

इस व्यक्ति के पास सत्ता जैसा कुछ है ही नहीं। वह मानो शून्य है। किसी को वह दबा नहीं सकता, आज्ञा नहीं दे सकता, किसी से कुछ करा नहीं सकता। इस तरह वह अपने लिए एकमात्र मार्ग खुला रख छोड़ता है और वह है जन-मन के हृदय में जगह पाने के द्वारा जीवन जगाने और उभारने का मार्ग।

यह व्यक्ति सरकार की खाता-बही में दर्ज होने लायक नहीं रहता। सरकारी अंक-गणना में उसकी गिनती नहीं आती। मताधिकार उसे

क्वचित ही होता है। प्रतिनिधि का रूप उसके पास नहीं है। चुनाव में खड़े होने के लिए उसके नीचे धरती नहीं। सबके होने की कोशिश में किस पार्टी का हो और किसका नहीं ? वह समता और न्याय का है; लेकिन दल-नीति शक्ति और सम्पत्ति की होती है।

परिणाम यह है कि जलसों और कानफ्रेन्सों में से संस्कृति के नाम पर राजनीति ही अधिक प्राप्त होती है। 'मैं आगे' और 'मैं अधिक' यह भावना वहाँ वातावरण में जगी रहती है। इसमें हृदयों की निकटता और एकता की बात फलित भला कैसे हो।

आज की पद्धति काम करने की कुछ ऐसी ही बन गई है। उसे जनतान्त्रिक कहा जाता है। जोड़ और जुगाड़ में से वह काम निकालती है। बीज में से वृक्ष जैसे आता है वैसे नहीं, सामान इकट्ठा करके जैसे कारखाना खड़ा किया जाता है उस पद्धति से काम होता है। बृहद् उत्पादन उसका परिणाम है। थोक चीज तैयार होती है और प्रचुर मात्रा में। लेकिन यह काम अंक और परिणाम में जितना ही प्रभूत होता है, चेतना-संस्कार की दिशा में उतना ही शून्य होता है।

प्रश्न होगा कि तो क्या सरकार का संस्कृति की दिशा में कोई दायित्व या कर्तव्य नहीं है ? उस दृष्टि से क्या कुछ अधिकार भी नहीं है ?

कर्तव्य तो सचमुच बहुत कुछ है, लेकिन अधिकार शायद कुछ नहीं है। और पहला कर्तव्य यह है कि हृदय की भाषा में अपनी असमर्थता को वह जान और पहिचान ले। अर्थात् अपनी ओर से अकिंचन को कृपा न दे, उसकी कृपा अपने लिए चाहे। पहले राजा लोग सन्त की शरण आते थे। वे शायद राज्य के महत्त्व और तुच्छता को जानते थे। उसके महत्त्व की सार्थकता तभी है जब मन के गहरे में उसकी तुच्छता का आभास भी हो।

।। सरकार को अन्त में विरारना ही तो है। उसको सारे समाज में रम जाना है। समाज आदर्श वह है जहाँ हर नागरिक आत्म-शासित है

और कहीं बाहर छत्र-दण्ड से अभिषिक्त होकर किसी शासन को सिंहासन पर विराजमान होने की आवश्यकता नहीं है। वह स्टेटलेस सोसाइटी "हमारे सब राज-तन्त्र और राज-विधान के आगे आदर्श के रूप में अधिष्ठित है। संस्कृति इसी रूप से अपना समूचा दायित्व उसे लक्ष्य के प्रति मानती है। राजनीति चाहे उसको दूर रख कर आज स्टेट को सर्व सत्तात्मक बनाने के प्रपंच में पड़ जाय, संस्कृति से वह भूल नहीं हो सकती। उसके लिए सदा सर्वदा प्रधान सत्ता नहीं, सत्य है। सत्य की ही सत्ता को वह सिर झुकाती है और सत्य है उसके लिए सनातन भाव से वह मानव जिसके मन में प्रीति और हाथों में श्रम है। वह आदमी धरती में श्रद्धा और स्वेद डालकर उगाने-रचने में लगा दीखता है। ऐसे श्रम-भागी या श्रम-योगी असंख्यों मानव-घटकों में लोक-सत्ता को छितरा न दे तब तक संस्कृति को चैन लेने का अवकाश नहीं है।

यदि यह श्रद्धा संस्कृति के लिए तात्कालिक है तो राजनीति के रास्ते से चलने वाली सरकार मानव-मन के प्रतिनिधि संस्कृति-वाहकों से अपनी गति के लिए निर्देश और नीति के लिए सन्देश प्राप्त कर सकती है।

प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या सरकार में होने से ही व्यक्ति की सम्भावनाओं में संस्कृति को दिशा देने की सामर्थ्य का लोप हो जाता है?

हाँ, अधिकांश लोप ही हो जाता है। अधिकांश इसलिए कि यह सर्वथा असम्भव नहीं है कि राज्य नीति का हो, राजनीति का नहीं। ऐसे धर्म-राज्य इतिहास में हो सके हैं आगे भी हो सकते हैं। लेकिन वे अपवाद हैं और इस नियम को सिद्ध करते हैं कि राज्य का बल हृदय का नहीं, कानून का है; गुण का नहीं संख्या का है; सहानुभूति का नहीं दमन का है। उस नियम को देखते हुए राज-पुरुष की संस्कृति को नेतृत्व देने की असमर्थता निश्चित ही मान लेनी चाहिए।

ऐसा यदि होता है, और हो तो रहा ही है, तो इसका परिणाम

इष्टकारी नहीं हो सकता। जीवन में उसके कारण वैषम्य और तनाव आ जाता है जैसे सब-कुछ यथास्थान न रह कर स्थान-भ्रष्ट हो रहा हो, ऐसा प्रतीत होने लगेगा।

गांधीजी ने सुझाया कि राजनीतिक स्वाधीनता मिलने के बाद काँग्रेस लोक-सेवक-संघ बन जाए। पर काँग्रेस सेवक-संघ नहीं बनी, शासकों का दल बन रही। परिणाम हुआ कि काँग्रेस स्वयं स्थान-भ्रष्ट हो गई। पहले लोक-जीवन का नेतृत्व उसके पास था। अब शायद उसके द्वारा लोक-जीवन पर दबाव पड़ने लगा है, दमन होने लगा है। नेतृत्व की जगह पर रह कर काँग्रेस के वहाँ से स्थान-भ्रष्ट हो जाने से भारतीय लोक-मानस गहरा संकट अनुभव कर रहा है। या तो काँग्रेस शासन से उठकर सेवा में आए या नहीं तो काँग्रेस से खाली हुई जगह पर कोई दूसरा प्रकृत नेतृत्व आए। प्रकृत नेतृत्व का मतलब सांस्कृतिक नेतृत्व। राजनीतिक यानी सरकारी होकर नेतृत्व कृत्रिम होता है।

राजेन्द्र बाबू और जवाहरलाल नेहरू आदर्श भावना के पुरुष हैं, लेकिन खेद है कि सरकार के होकर वे अब उतने आदर्श के काम नहीं आ सकते। अचरज तो होता है कि गांधी जी के स्पर्श में रहने वाली काँग्रेस में क्यों ऐसा नहीं हुआ कि हाई कमाण्ड का कोई एक भी व्यक्ति राज्य के काम में न रहकर प्रजा के मन रहता। विस्मय हो फिर भी हमारे बीच वह घटित हुआ है, भारत की आँख किले के सिंहासन पर नहीं रही, कुटिया के कुशासन पर रही है। गांधी को पाकर इसी से भारत की आत्मा को तेज प्राप्त हो गया। उसके बाद अब लगता है जैसे भारत सब कुछ गँवा बैठा है। उसके राज-दर्शन में आज आत्म-दर्शन की ज्योति बुझ गई है और यदि कहीं आत्म-दर्शन है तो राजदर्शन उस से अछूता है। गांधी की चीण-सी भी परम्परा काँग्रेस कायम नहीं रख सकी।

दिल्ली का संस्कृति-सम्मेलन भारतीय आत्मा की उस परम्परा को जगा सका तो सफल माना जायगा।

राजनीतिक शब्द

विप्लव के दो अंक मैंने देखे हैं और उसके जनवरी के नम्बर में लिखने के न्यौते को मैं धन्यवाद के साथ स्वीकार करना चाहता हूँ।

'विप्लव' कुछ डरावना शब्द है। मैं विप्लवी नहीं, मुझे उससे डर लगता है, और मुझे नहीं मालूम होता कि उससे डर के सिवाय और क्या लगना चाहिए?

विप्लव को मैं बचाना चाहता हूँ। जो विप्लव है वह अनिष्ट है, और जो इष्ट है, उसके लिए 'विप्लव' शब्द मेरे मन से नहीं निकलता।

लेकिन यह आपके पत्र 'विप्लव' के विषय में नहीं है। वह तो उपयोगी है, उसमें राजनीतिक विचारों की विवेचना होती है, जो बहुत ज़रूरी है। और जो उपयोगी है, वह 'विप्लवी' तो है ही नहीं।

हिन्दुस्तान में इधर राजनीतिक क्षेत्र में विचारों की बहुत रगड़-झगड़ मालूम होती है। सन् १९२०-२१ के असहयोग-आन्दोलन का ज़ोर जब ज़रा मद्धिम हुआ, तभी से राष्ट्र में बुद्धि-भेद भी दीखा। स्वराज्य-पार्टी बनी और कुछ अपरिवर्तनवादी हुए। यों तो कहने को राष्ट्रीय युद्ध के दो मोर्चे हो गये, एक कौंसिलवाला मोर्चा, दूसरा रचनात्मक कार्य-क्रम का। लेकिन स्पष्ट ही दो मत और दो फाँकें काँग्रेस में दिखाई देने लगीं। एक की कमज़ोरी दूसरे को अपनी ताक़त मालूम होती थी। सन् ३०-३२ की लड़ाई में फिर मानो भेद टूट गया और

राष्ट्र के प्राणों की एकता चमक आई। पर युद्ध थमा या धीमा हुआ कि फिर विचार-भेद लगने लगा।

उसके बाद से तो उस भेद को गहरा-ही-गहरा होता जाता पाते हैं।

कांग्रेस के हाथ में अब तो थोड़ी-बहुत शासन की ताक़त भी है और अब वह अन्तर्भेद अनिवार्य ही है।

विचार-धाराएँ जो आपस में रगड़ में आती हैं और जिनके संघर्ष से गति और गरमी होती है, उनको चीन्हने के लिए कुछ विशिष्ट शब्द काम में आते रहे हैं। समाजवाद, अहिंसावाद, फ़ासिज़्म, गांधीवाद, पूँजीवाद, पार्लियामेंटरीइज़्म आदि-आदि ऐसे ही शब्द हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि ये शब्द अब स्थिति की यथार्थता को पकड़ने में मदद नहीं पहुँचाते, बल्कि उसे कुछ ढँकते हैं। स्थिति को स्पष्ट करने के लिए इन शब्दों से आर-पार होकर देखने की ज़रूरत है।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के साथ-साथ और उसके अंग के रूप में भारतीय राजनीति को देखने को आदत डालने की कोशिश करने से एकाएक मालूम होता था कि दुनिया में दो ताक़तें हैं। एक समाजवाद दूसरी पूँजीवाद। फासिज़्म पूँजीवाद का एक रूप है। साम्राज्यवाद पूँजीवाद का फल है। जवाहरलालजी का समूचा विश्लेषण इसी आधार पर था। लखनऊ का उनका सभापति-पद से दिया गया भाषण भी यही था।

यह विश्लेषण अभी पुराना नहीं हो गया, काफ़ी चालू-सा है। कालिज और स्कूल के विद्यार्थी तक निःशंक होकर इसको पेश कर देते हैं।

मैं नहीं जानता कि यूरोप से लौटने पर जवाहरलालजी का आज का अन्दाज़ा क्या है। पर यह तो मालूम होता है कि पहले की तरह उन दो शब्दों के आधार पर बेखटके अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का समाधान या समापन अब वह नहीं कर देते हैं। हमारे नारे केवल शब्द हैं, एक

संकेत हैं, वह स्वयं सचाई नहीं हैं। इसलिए उन्हें प्रस्तुत से ज़्यादा गहरे अपने भीतर हमें नहीं जाने देना चाहिए। उससे बुद्धि कुण्ठित होती है। उसकी शक्ति बढ़ने के बजाय शब्दावधानी होकर सुस्त हो जाती है। यथार्थ को नहीं पकड़ती, शब्द से वह उलझती है, और उससे कर्म की जगह विवाद पैदा होता है।

आज अन्तर्राष्ट्रीयता के विद्यार्थी को घटनाओं के प्रकाश में मालूम होता है कि नाम असलियत नहीं है। युद्ध या उसके संकट ने असलियत को ऊपर ला दिया है। राष्ट्र अपने अन्तरंग विधान में प्रजातन्त्रात्मक हों या राजतन्त्रात्मक हों या चाहे फिर वह समाजतन्त्रात्मक (सोशलिस्ट या कम्यूनिस्ट) हों, और मुल्कों के साथ बर्ताव करने में सभी एक-से निकलते हैं, यानी उग्र राष्ट्रीयता प्रकट करते हैं। विधान किसी का कुछ हो, लेकिन जर्मनी अपना, इंग्लैण्ड अपना, रूस अपना और इटली और फ्रांस भी अपने-अपने हितों को आगे रखते हैं। वे अपनी राजनीति को चाहे अन्त में किसी भी आदर्श के साथ जोड़ते हों, वे चलाते उसको अपने राष्ट्र-हित की अपेक्षा में ही हैं। राष्ट्र ही सब की व्यावहारिक राजनीति की टेक है और राष्ट्र की कल्पना भौगोलिक है। राष्ट्र को ही परिभाषायें आज की समूची व्यावहारिक राजनीति चलाती हैं।

कोई शब्द जो इस नंगी यथार्थता को हमारी आँखों से ढँक देता है, वह आज की राजनीतिक असलियत को समझने में सहायक नहीं होगा। ऐसे शब्दों का हमें भरसक कम प्रयोग करना चाहिए। वे विवाद बढ़ाते हैं, कर्म की सम्भावना नहीं बढ़ाते।

हिन्दुस्तान की स्थिति को भी आज जो पूँजीवाद और समाजवाद आदि बजनदार शब्दों के सहारे मानो समझ लिया समझते हैं, मुझे सन्देह है कि इस प्रकार वे अपना या यथार्थता का कितना लाभ करते हैं?

हिन्दुस्तान में राजनीतिक दल कितने हैं और क्या-क्या उनके नाम

है, यह जुदा बात है; लेकिन 'लिबरल' जैसा लिबरल है, उसी अर्थ में समाजवादी या अहिंसावाला अहिंसावादी है। यानी समाजवादी का समाजवादिता से या अहिंसावाले का अहिंसा से उतना नाता नहीं है, जितना उन-उन नाम वाले दलों से उनका रिश्ता है।

खुशी की बात है कि अहिंसा की कोई राजनीतिक पार्टी नहीं है। कहने का मतलब यह है कि किसी वाद का दल और उस वाद की सचाई में वैसा ही सम्बन्ध हुआ करता है, जैसा अमुक धर्मशास्त्र के *सिद्धान्तों और तद्गत सम्प्रदाय के औसत सदस्य के व्यवहार में होता* है। सचाई धार्मिक है और शब्दों की गर्मागर्मी साम्प्रदायिक तल पर होती और वहीं छूट जाती है।

इसलिये बहुत आवश्यक है कि राजनीतिक शब्दावली को यथा-वश्यक प्रयोग में लाकर भी हम उसके फेर में पड़ने से बचें। गर्मागर्मी की आवश्यकता नहीं है। और सच्चा युद्ध कभी शब्दों का युद्ध नहीं होता।

पूँजीवाद या फ़ासिज़्म या गांधीवाद या समाजवाद आदि पदों पर चकराने की आवश्यकता नहीं। सचाई इनके परोक्ष में है। इनके नारे राजनीतिक क्षेत्र में उपयोगी होते भी हैं ज़रूर; पर जीवन-सम्बन्धी दृष्टि को स्पष्ट करने में वे सहायक नहीं होते, बल्कि बाधक होते हैं। विचार के क्षेत्र में उनकी पहुँच नहीं। काम के क्षेत्र में ही वे शब्द विचारणीय और प्रयोजनीय बन गये हैं।

इसी से कोई प्रश्न समूचा राजनीतिक नहीं होता। जैसे कि कोई प्रोग्राम दार्शनिक नहीं होता। विचार के दार्शनिक और नैतिक होने की आवश्यकता है, जैसे कि प्रोग्राम के सामाजिक और राजनीतिक होने की अनिवार्यता है। विचार के क्षेत्र में राजनीतिक शब्दों को प्रयोग में लाकर कुछ वैसे ही विभ्रम होने की सम्भावना है, जो राजनीतिक क्षेत्र में आध्यात्मिक शब्दों के व्यवहार से उत्पन्न होती देखी जाती है।

राजनीतिक नारे वैसी आवश्यकता को लेकर बनते हैं, उनमें सांधिक

और दलीय आवेशों (Prejudices) की ध्वनि होती है। वैज्ञानिक सचाई उनमें नहीं होती। वे सारे सामयिक उपयोगिता के होते हैं और तात्कालिक कर्म के लिये अनिवार्य भी हो जाते हैं। लेकिन तात्कालिक कर्म से जहाँ गहरे जाने की आवश्यकता है, वहाँ उन शब्दों की शक्ति क्षीण हो जाती है। वहाँ वे अनर्थ के और अनिष्ट के उपयोग में आ सकते हैं।

सच यह है कि रगड़ शब्दों की नहीं है, मनोवृत्तियों की है। विचारधारा नहीं, इस समय तो लगभग दो जीवन-दृष्टियों का संघर्ष है। दो संस्कृतियाँ ही मानो आपस में जूझ रही हैं। इसी से राजनीति के प्रचलित शब्द और दलों में आये-रोज़ टूट-फूट दिखाई देती है। दीखता है कि अजब मौक़ों पर दलों में अजब फाँकें पड़ गई हैं और आज दलों के मेल और बाँट का नक्शा कुछ और है, कल कुछ और ही था। कल के दुश्मन आज तीसरे को दुश्मन मानकर ख़ुद मिल गये हैं। यह जो तात्कालिक राजनीति में दाँव-घात चला करते हैं, वे वृथा नहीं होते, उनके भीतर भी कुछ तात्त्विक सचाई काम करती रहती है। इसी से कहना पड़ता है कि राजनीतिक विग्रहों के नीचे एक सांस्कृतिक संघर्ष काम कर रहा होता है।

हिन्दुस्तान में यही है और सच पूछो तो अन्तर्राष्ट्रीयता के क्षेत्र में भी वही है। सोशलिज़्म और फ़ासिज़्म का युद्ध नहीं है। ये दो नाम हैं और यद्यपि उन दो में दोपन है; लेकिन भीतर से दोनों की ही प्रकृति एक है। दोनों स्टेट का प्राधान्य चाहते हैं, अपने-अपने देश का प्राधान्य चाहते हैं और राह में पड़ने वाले मानव-समूहों को कुचल देने में डरते नहीं हैं। दोनों शक्ति के पूजक हैं और उसकी आराधना में मनुष्य के ख़ून बहाने से भी चूकना नहीं चाहते।

यह ज़रूरी नहीं है कि एक को छोड़कर दूसरे को हमें लेना ही होगा। उस परिभाषा में सोचने की ज़रूरत ही नहीं है। हिन्दुस्तान उस फेर में पड़ा, तो उसका निस्तार नहीं है। जो वस्तु हमारी सुर्भावित

के मूल में है, उसे पकड़ना होगा। वह है इन्सान का इंसान द्वारा दबाया जाना। उसी को कहो शोषण या हिंसा या अन्याय। वह रोग हमारे समूचे जीवन में फूट रहा है। राजनीतिक उसका स्वरूप हो, पर मूल राजनीतिक नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। उसका निदान निरा राजनैतिक नहीं होगा, निदान नैतिक होगा, अर्थात् वह जीवन की मौलिक बातों से सम्बन्ध रखेगा। नहीं तो शासन के यन्त्र को बदल देने से निबटारा नहीं हो जाने वाला है। इस दल को हटाकर दूसरे दल का राज होने से क्या लाभ है, अगर राज्य दल का ही हो। मूल लक्ष्य पर जिसे आँख रखनी है, वह राजनीतिक वाग्जाल के पार होकर उस ओर प्रयत्नशील होगा, जो राजनीति का भी लक्ष्य होना चाहिए। अर्थात् मानव और मानव के बीच आतंक का, बलात्कार का, शोषण का अर्थात् हिंसा का खात्मा। जो इस लक्ष्य को साधता है, वह किसी नारे या शब्द से पुकारा जाय, इष्ट है। और जो विरुद्ध जाता है, उसको भी चाहे फिर कैसा ही लोकप्रिय नाम दिया जाय, वह अनिष्ट है।

इस तरह मुझे मालूम होता है कि राजनीतिक बातों में सच्ची समझदारी के लिये नैतिक दृष्टि की आवश्यकता है। अन्यथा राजनीतिक शब्दावली या नारों का धुरंधर प्रयोग अनर्थ कर देने वाला हो सकता है।

स्वतन्त्रता और समता

स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता, लिबर्टी, ईक्वलिटी और फ्रेटर-निटी—फ्रांस की राजनीति के बाद से यह पद समस्त रूप से ही हमारे सामने आता है। एक साँस में हमने उसे कहा है, एक सूत में देखा है। भाव की दृष्टि से इन तीनों को एक साथ लेने में कोई कठिनाई नहीं है। लेकिन जान पड़ता है वस्तुता में अब कठिनाई पैदा हो गई है। बन्धुता तो एक भावना ही है। इससे उसकी बात जाने दो। शेष समता और स्वतन्त्रता, जान पड़ता है, अब एक नहीं हैं या एक जगह नहीं हैं। वे वास्तविकताएँ बनकर आपस में विरोधी हो गई हैं। यानी या तो हम समता रख सकते हैं या स्वतन्त्रता को ही रख सकते हैं। दोनों एक साथ नहीं रख सकते। समता के लिए स्वतन्त्रता को खोना होगा। स्वतन्त्र रहना चाहते हो तो विषमता के लिए तैयार रहना होगा।

आज का संकट मानसिक से आगे बढ़ गया है। वह राजनीतिक बना, दैहिक हो गया है। ठंडी लड़ाई तक तो बात को राजनीतिक भी कह दिया जाय, लेकिन नौबत जब हाथापाई तक आ जाय, जैसे कि कोरिया में, तब उसके लिए राजनीतिक शब्द छोटा पड़ जाना चाहिए। राजनीति में शिष्टता की ध्वनि है। खुलकर खून के प्यासे होकर एक-दूसरे के गले पर चढ़ दौड़ने में शिष्टता नाम की कोई चीज़

तो दिखाई नहीं देती। इससे राजनीति वहाँ है यह कहना कठिन है। हाथापाई पर उतरे हुए इन्सानों में इन्सानियत दीखनी बन्द हो जाती है। यही हाल उस लड़ाई का है जो सभ्य केवल इस मान में हैं कि उसमें संहार बड़ा होता है। सभ्यता सिर्फ उसे और भीषण बनाती है। विज्ञान इन्सान की इसमें मदद करता है कि वह हैवान भरपूर ज़ोर से हो सके।

विज्ञान में उन्नति नहीं है सो नहीं। सभ्यता भी उन्नत अवस्था कहलाती है। इसलिए वैज्ञानिक सभ्यता से उन्नति पाई हुई लड़ाई के लिए हाथापाई शब्द का प्रयोग कुछ हल्का ही समझा जाना चाहिए। हाथापाई के वक्त साफ है कि गुथने वालों का माथा क्रोध से पागल हो उठता होगा। आधुनिकता की लड़ाई वैसी नहीं है। हिंस्र अधिक हो, दानवी अधिक हो, यह दूसरी बात है; लेकिन उसमें ठंढे संयम से काम लेना होता है। उसमें आदर्श को ज्यादा जगह है। वह लड़ाई छोटी बातों के लिए नहीं, बड़ी बातों के लिए होती है। उसके पीछे सिद्धान्त होता है, दर्शन होता है, ज्ञान-विज्ञान होते हैं। बहुत सारा इतिहास होता है और उसके चलाने वाले गम्भीर, वाग्मी, बुद्धिमान, विचक्षण राजनेता भी होते हैं। उनकी वाणी और व्यवहार में भी सुघराई ऐसी पाइयेगा कि साक्षात् सौजन्य फीका पड़ जाय। वे जानते हैं कि भवितव्यता की होकर जियेगा। अपने कर्म का कर्ता और अपने कर्म से भोक्ता होगा। क्या पशु से मनुष्य और मनुष्य से अब तू नागरिक नहीं बना है। नागरिकता मनुष्यता की भूमिका है। किसी तन्त्र के हाथ में कठपुतली बनकर क्या नागरिक की दायित्व-भावना का तुम लोप हो जाने दोगे। सद्भाव और सहयोग स्वतन्त्रता में से फलित होता है। उस व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के आधार पर भावी मानव-समाज की कल्पना की जा सकती है। दूसरी तरफ चलना मनुष्यता से पशुता की तरफ जाना होगा। ए पुरुष, कि जिसका भाल उन्नत है और आँखें ागे देखती हैं, इतिहास को तू किसी तरह उधर लौटने नहीं देना कि

जिधर अँधेरा है और जड़ता है। सिर्फ संख्या, सिर्फ परिमाण, सिर्फ मुट्ठी का बल और दानव के दर्प की हुंकार तेरी ऊर्ध्व-चेतना को झुका नहीं सकेगी। उठ कि तुझे मुक्त होना है। अपनी मनुजता के लिए दनुज की चुनौती ले और उसे परास्त कर।

और समता! कहाँ है समता? एक भूख से सिसक रहा है, दूसरा ऐश में बहा रहा है। यह पूँजीवाद का तमाशा है। देखते हो यह आलीशान कोठियाँ और उधर वह देखो गन्दी मोरियाँ। क्या यही है तुम्हारी आज़ादी? इसी का नाम है इन्सानी जिन्दगी? हाँ, मन्दिर है। वहाँ देवता है। उसका भोग है, प्रसाद है, पूजा है, पुजारी है। क्या यह सब ढकोसला नहीं है कि जिसमें धनी अपने धन में सुरक्षित हैं दीनों और दरिद्रों का असन्तोष मन्दिर के आँगन में उनसे हर लिया जाए और झूठा सन्तोष उन्हें उढ़ा दिया जाए। सारा साहित्य, संस्कृति, नीति, धर्म पूँजीपतियों के विलास को अक्षुण्ण रखने के लिए है कि वे मौज में पलें और तुम मिहनत में पिसो। यह घोर नर्क, जो-कुछ उन सारे स्वर्गों को अपने बीच में बाँट-भोगकर तुम्हारे लिए रख छोड़ते हैं, क्या उसी नर्क में तू रहे चला जायगा इन्सान! तेरे पास दो हाथ हैं। तू करता है, तू बनाता है। सुख कहीं है तो वह तेरा तैयार किया हुआ है। तू बनाय और वे भोगें। तू रोवे और वे हँसें—यह कब तक होता रहेगा। तुझे पहचानना भर है कि सब तेरा है। धन तेरा है, राज तेरा है, जो है सब तेरा है। अब जिनके पास दीखता है वे सिर्फ चोर और ठग हैं। जिन्होंने तुझ से ही लूटकर तुझे पामाल कर रखा है। इससे ए इन्सान! उठ हम तुझे जगाने आए हैं। हम मिहनत का हक़ कायम करेंगे। मिहनत करने का राज होगा, उनकी तरफ से होगा। उठ कि हम कम्यूनिस्ट तुझे बरावरी देंगे। पूँजीवादी ठग की स्वतन्त्रता खुद ऊँच और तुझे नीच बनाये रखने का जाल है। ए इन्सान, पहचान कि जिस बड़प्पन के नीचे तू पिस रहा है वह सिर्फ अत्याचार है। उठ एक कि देखेगा कि तू उनके सिर पर है, और भविष्य तेरे हाथ में है!

लड़ाई यह है। ऊपर से यू० एम० ए० और यू० एस० एस० आर० के दिमागों, फौजों और शस्त्रों की दीखती है और भीतर से वह इन दो दावों की है। समता और स्वतन्त्रता में से कोई एक दूसरे को खा सकता है यह समझ में नहीं आता। फन पूँछ को डस नहीं सकता, लेकिन ऐसा होता दीखे तो समझिए कि साँप की शामत ही आ गई। मुझे नहीं दीखता कि मानव-जाति को मरना है। लेकिन सेवा में नियुक्त ये इतिहास के अनुचर मात्र हैं। केवल कर्तव्य के नाते युद्ध उनको ठानना पड़ रहा है। कारण युद्ध ही है जिसमें स्नान करके जगत् का भविष्य आशामय होगा और मानवता के स्वप्न सम्पूर्ण होंगे।

इससे आज युद्ध है। यों वह एक कोने में है, लेकिन वैसे हर मन के कोने-कोने में वह बिंधा हुआ है। कारण, दो कीमती चीज़ों का सवाल है; एक स्वतन्त्रता, दूसरी समता। न स्वतन्त्रता को खोया जा सकता है, न समता को ही खोया जा सकता है। इससे किसी एक पर भी संकट हो तो जूझ मरना होगा, पर उसको खोना नहीं होगा। तिस पर संकट दोनों पर है। और विस्मय यह कि संकट स्वतन्त्रता पर समता की ओर से है और समता पर स्वतन्त्रता की ओर से है। और क्योंकि दोनों मानव-जाति की अमर थाती हैं, इससे दोनों पर आए संकट को जी-जान से लड़ना होगा। रत्तीभर इसमें समझौता न हो सकेगा। क्या स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव नहीं है? क्या तीनों लोक मिला कर उसकी कीमत में कुछ ठहर सकते हैं? इसी तरह समता क्या ईश्वरीय इन्सान का जन्म-जात हक़ नहीं है? लाखों-करोड़ों की जानें उस एक और अकेले हक़ के आगे तुच्छ नहीं बन जानी चाहिएँ?

यह लड़ाई है। निस्सन्देह सर्वथा आदर्श की यह लड़ाई है। डिमोक्रेसीज़ स्वातन्त्र्य के ध्वज को किन्हीं बलिदानों के नीचे नहीं होने देंगी। उसी तरह कम्यूनिस्ट जाति इन्सानी समता की टेक को किसी तरह झुकने नहीं दे सकती।

बात दोनों की पक्की और सच्ची है। सचाई ही न हो तो और क्या

हो सकता है जो उनमें जानें लेने और जानें देने की तैयारी भर दे ? लाखों नहीं, करोड़ों जो हौंस से भर रहे हैं, कि एक नहीं सौ बार दुश्मनों को मार गिरायेंगे—कुछ है जो इस आन को उनके भीतर जगाए और दहकाए रहता है !

स्वतन्त्रता ! क्या एक तानाशाह के हाथों उसे बेचा जा सकता है ? वह तन्त्र नहीं है, बाड़ा है, जहाँ आदमी एक गिनती है। वहाँ उसका समय अपना नहीं है—उसका कुछ अपना नहीं है। बस वह अंक है और सत्ता की कृपा पर जीना और उसके इशारे पर करना उसका काम है। कम्यूनिस्ट तन्त्र इसके सिवाय और क्या है ? वहाँ भावना तुम्हारी नहीं है, वाणी तुम्हारी नहीं है, तुम तुम्हारे नहीं हो। सब-कुछ तुम्हारा बन्धक है, इसलिए कि तुम काम करो और रोटी-कपड़ा पाओ। अपने लिये नहीं, अपने श्रम के हक़ से नहीं, ऊपर बैठे शासनाधीश के लिये और उसके कृपाकांक्षी बनकर। ए आज़ाद इन्सान ! क्या तू गुलामी चाहता है। क्या तू उसे बर्दाश्त कर सकता है। पालतू जानवर तक उसे नहीं सह सकते। इससे उठ कि कहीं कम्यूनिज़्म तेरे गले में पट्टा डाल कर अपने खूँटे से बाँध न डाले।

आदिकाल से जो तेरे पास श्रेष्ठ है, क्या वह मानवात्मा की मुक्ति का सन्देश नहीं है ? जड़ के अधीन चेतन कब हुआ है ? टुकड़े पर इन्सान नहीं जीता, हक पर जीता है। वह सत्य के लिए, सत्य की शोध में जीता है। आदमी है कि वह राज्य बनावेगा और अपनी जगह पर अधिनायक से बड़ा होगा। जनतन्त्र जन-मन का तन्त्र है। व्यक्ति स्वाधीन चेता स्टालिन, ट्रूमन तो सचमुच सदा जीने वाले नहीं हैं। जन-तन्त्र और साम्य-तन्त्र मानव-जाति की यात्रा में प्रयोग भर हैं। एक तन्त्र दूसरे को तोड़ सकता है लेकिन अपनी बारी पर फिर स्वयं उसे टूटना ही है। तन्त्र केवल मात्र प्रयोग के फल हैं। उनमें सत्यता नहीं है। सब को घेरने का दावा करके अपने मूठ की ही वे घोषणा करते हैं। निश्चय ही सामने वाले को मार गिराने की स्पर्द्धा जतलाती है कि

आदमी ने नशा किया है। नशा टिकनेवाली चीज नहीं है। उसे एक दिन गिरना है और तब पता चलेगा कि बड़ी-बड़ी करामातें और बड़े-बड़े चमत्कार आतिशबाजी की तरह आकाश में रंगीनियाँ खिलाकर अपनी मौत बुझ गए हैं और नर-नारी आपस में मिलकर धरती में से अब भी धान उगा रहे हैं और मन से गीत गा रहे हैं।

मैं नहीं जानता कि राजनीति, जिसके पास व्यवहार-बुद्धि का ठेका है, कहीं से कैसे कुछ सीख लेने को मजबूर की जा सकती है। लेकिन अगर भगवान् भी है—और यदि हम सब अपने समय से मरते जाते हैं तो कुछ तो है जिसमें होकर काल समाप्त नहीं हो जाता, जीता ही जाता है—तो शायद कहीं से कुछ लेने के लिए मनुष्य के पास सदा ही सुविधा है। और वहाँ से इस श्रद्धा की माँग की जा सकती है कि मृत्यु जब अनायास और अकुंठित भाव से सबको अपने-अपने समय से मिलती ही जाती है तब अपनी ओर से हम उस मृत्यु का किसी को दान करना अनधिकार चेष्टा मानें। मरना-जीना तो लगा ही है, पर मारने के लिए आगे बढ़ते हैं तो हम कुछ भी और नहीं करते हैं, सिर्फ मानवता की रक्षा की हद में दानवता पर ही आ उतरते हैं। ऐसे स्वतन्त्रता और समता की उलझन सुलझती है, सुखी का सुख बढ़ता, या दुखी का दुःख घटता है, यह मानना रेत में से प्यास बुझाने के समान है।

यहाँ अहिंसा को शायद हवाई शब्द समझा जाय और आदमी को ठोस शरीर। फिर उस ठोस आदमी का व्यवहार अहिंसा पर भला क्यों हल किया जाने लगा? लेकिन शायद है कि तर्क की तराजू को पता चले कि यद्यपि आदमी का शव ठीक-ठीक उतना ही तुलता है जितना आदमी। फिर भी आदमीयता वहाँ से नदारत हो चुकी होती है। ठोस-पन सब वहीं-का-वहीं छूट गया है, फिर वह क्या चीज़ थी, जो रत्ती वजन की नहीं थी, लेकिन इन्सान की इन्सानियत सब उसी में थी? शायद है कि पता चले कि आदमी नहीं है वह सब कि जो ठोस है, बल्कि वह सिर्फ वह है जो किसी तोल-काँटे पर नहीं आता है। वह

आत्मा है जब कि शरीर वह नहीं है। यह पता चलने के साथ शायद अहिंसा उतनी दूर की और बेकार की चीज नहीं रह जायगी। तब वह तत्काल की और व्यवहार की चीज जान पड़ेगी।

लेकिन तब तक?

भारत की एकता

भारत से यद्यपि पाकिस्तान के नाम पर पूरब और पच्छिम से कुछ हिस्सा कट कर अलग हो गया है, लेकिन बाकी सब एक विधान के नीचे जुट कर इकट्ठा भी हो गया है। छोटी-मोटी रियासतें विलीन हो गई हैं और अब भारत बिखरा हुआ नहीं है। एक विधान, एक अध्यक्ष, एक कैबिनेट, एक कानून। राजभाषा भी एक। वही धीरे-धीरे, आशा है, राष्ट्र की भाषा भी हो जायगी। भारत अब मुट्ठीबन्द है और बाहर के हर प्रहार को व्यर्थ कर सकता है।

पढ़ने में आया है कि यह अभूतपूर्व घटना है। इतिहास में पहले कभी ऐसा नहीं हुआ। भारत अब तक एक नाम रहा है। वह आज की तरह मूर्त और प्रत्यक्ष कभी नहीं हुआ।

इस सबके लिए हम राष्ट्र-पिता कहकर महात्मा गांधी को याद करते हैं। उन्होंने हम को राष्ट्र दिया उसकी आज़ादी और एकता दी, स्वयं राष्ट्रीयता ही दी। सरकार, जो भारतीय एकता की प्रहरी और प्रतीक है, गांधी के नाम की ताक़त से हुकूमत करती है।

लेकिन अपनी सरकार बनी तब गांधी तो थे। क्या वह इस राजकामी एकता से सन्तुष्ट थे? फिर राजधानी दिल्ली के जश्न में वह क्यों शामिल न हुए? क्यों भागकर उस पिछड़े और पिछड़े भाग में पहुँचे जहाँ आदमी आदमी का दुश्मन बन गया था? [वहाँ नंगे पाँव घूमकर

घर-घर उन्होंने अलख जगाई कि आदमी चेते, दुई से छूटे और एके में रहे। उन्होंने धुन दी, 'ईश्वर-अल्ला एकहि नाम, सबको सन्मति दे भगवान्'। वही है और वह एक है। ईश्वर कहो या अल्लाह कहो, या कुछ भी कहो, हम-सब एक उसमें हैं। अरे, कौन तुझे ग़ैर है; वहाँ सब तेरे हैं और तू सबका है।)

लेकिन जो एकता हमने खड़ी की है वह और नमूने की है। वह निरी भावुक नहीं है, ठोस है। उसका दस्तावेज है, उसका तन्त्र है। फ़ौज है, जो उसे सुरक्षित रखेगी; क़ानून है और उसका न्यायालय है जो भीतर से उसे बाँधे रखेगा। वह एकता सरकारी है।

निश्चय, बड़ी प्रसन्नता की बात है।

लेकिन कहीं सन्तोष की बात यह न मान ली जाय। कारण एकता सरकार में पहुँच कर असल नहीं होती, मन में उतर कर ही वह सही होती है।

ब्रिटिश साम्राज्य भी यों एक था और कितना अडिग लगता था। पर वह खण्ड-खण्ड हुआ और लुप्त हो गया। राज्य बने हैं, उठे हैं, और मिट गए हैं। साम्राज्यों के साथ यही लीला हुई है। क़ानून में से एकता नहीं बनती। अधिक-से-अधिक वह वहाँ प्रतिबिम्बित हो सकती है।

भारत समूचे इतिहास में शायद ही कभी एक राज्य रहा हो। रहा भी होगा तो अत्यन्त अल्पकाल के लिए। नहीं तो यहाँ सदैव अनेकानेक राजा और अनेकानेक राज्य रहते आये हैं। उनमें अनबन रही है और वे लड़ते-झगड़ते रहे हैं। राज्य हो और फूट न हो, यह बनता ही कम है। बाहर से भी आक्रमण होते रहे हैं। लेकिन इस सब के बीच भारतीयता टूटी नहीं है। वह अखण्ड, अजस्र, अविच्छिन्न रही है। जाने भूमण्डल पर कितनी संस्कृतियाँ उठीं और गिरीं। पर भारत के साथ ऐसा हुआ नहीं दीखता है।

क्यों?

इस 'क्यों' का उत्तर पाना आवश्यक है। आज के दिन और भी आवश्यक है। कारण, गांधी आज नहीं हैं। गांधी जो भारत की सनातन चेतना का प्रतीक थे, जो भारत की आत्मा थे।

इस 'क्यों' के उत्तर में क्या हम यह नहीं पाते कि भारत की दृष्टि राज्य में अन्यत्र रही है; और उसके लिए महत्त्व भी कहीं दूसरी जगह रहा है। भारत का नेता आज के दिन भी गांधी हुआ, जो किसी तरह बड़ा न था और हर तरह साधारण था। राजा न था, फ़कीर था। यदि था तो आत्मा की ओर से महान् था, अन्यथा हीनातिहीन के समान था इसी में क्या भारत की ओर का उत्तर समाया नहीं है?

अर्थात् राज्य में और राजाओं (शासकों) के पास वह नहीं है जो जीवन में सारभूत है। वहाँ सत्य नहीं है, वहाँ ऐक्य नहीं है। वहाँ लालसा है, स्पर्द्धा है। दल एक हो कि अनेक हों, विधान संघीय (Federal) हो या एकात्मक (Unitary) हो; तन्त्र इस प्रकार का हो या उस प्रकार का हो—इससे कुछ आता-जाता नहीं है। जनता महासागर है, उसकी छाती पर उठने वाली लहरों के साथ खेल खेलना राजनीति है। जन-मन की जितनी झलक वहाँ है—बस उतनी ही राजनीति में वास्तविकता है, शेष व्यर्थता है। जन-मन सरकारी कानून से नहीं चलते ईश्वरीय कानून से चलते हैं। इसलिए भाग्य और भविष्य जन-मन के हाथ है। और वह उनके हाथ है जो ईश्वरीय कानून के साथ अधिक-से अधिक तत्सम हो कर चलते हैं।

राजा अपनी प्रभुता में अनेक रहे हैं, और जीवन-भर राज्य-विस्तार या राज्यापहरण के लिये पराक्रम करते रहे हैं। फिर भी भारत ने राम को और कृष्ण को याद रक्खा है, जिनपर राजत्व टिकता हुआ दीखता तक नहीं है। बुद्ध, महावीर को याद रक्खा, जिन्होंने राज्य का परिहार किया। शंकर-चैतन्य को और नानक-गांधी को मान दिया कि जो निरीह बन गए। भारत की आत्मा ने इनको पहिचाना और राजाओं के ऊपर होकर यहाँ से वहाँ तक का भारत इनके प्रभाव के नीचे पनपा।

भारत की कल्पना राजाओं और राजनेताओं पर नहीं अटकी। उनके पार आत्मचेताओं पर वह ध्रुव बाँध कर जमी रही। परिणाम यह हुआ कि समूचा भारत एक आदर्श, एक अभिलाषा, एक संस्कृति में अनुस्यूत रहा। ऐसे अधिकाय महाप्राण पुरुषों की स्मृति में जहाँ-तहाँ तीर्थ बने और साधुओं एवं यात्रियों की टोलियों ने तीर्थंकरों के जीवन-मनन और तीर्थों के पर्यटन से समूचे देश में एक ऐक्य को जीवन्त रखा। लड़ाइयाँ होती रहीं; लेकिन जनता अपने कर्म-श्रम में अविचल रही। भारत के ये अधिष्ठाता पुण्य-पुरुष जन-मन की भावना-कल्पना से एक क्षण के लिए भी ओझल नहीं हुए।

भारत की एकता यदि आत्मवान पुरुषों में प्रत्यक्ष नहीं होती है, बल्कि राज्यविधान और राजदण्ड में ही वह प्रत्यक्ष होती है, तो कहना होगा कि वह अपेक्षाकृत जुटाई गई है, प्राणों में उपस्थित नहीं है।

भारत एक था, है, और रह सकेगा तो आत्मा द्वारा। अन्यथा उसकी एकता अनेकता को जन्म देने लग जायगी और वह पराधीनता को निमन्त्रण देना होगा।

आवश्यक है कि उस तरफ हमारा ध्यान जाय। भारत में कई भाषाएँ हैं और लगभग सब के पास समृद्ध साहित्य है। उसमें देश की आत्मा ध्वनित होती है। भाषा-भेद की वजह से साहित्य भी प्रान्तों में बँटकर और बन्द होकर रह जाय तो यह आत्मघात के समान होगा अँग्रेजी के बीच में आने से यही हुआ है। मौलिक साहित्य, जो यहाँ की धरती से सिंच कर बना है, प्रान्तों में सिमट कर रह गया है और अँग्रेज़ी के जरिये चलने वाली राजनीति सब के निकट आत्मीय बन आई है। आज भारतीय कुछ है तो सिर्फ राजनीति है। मानो इधर सब कुछ केवल प्रान्तीय और एकदेशीय है। इस स्थिति में भारत की निजता उभरनेवाली नहीं है, दबी ही रहने वाली है। अंग्रेजों के जाने का मतलब अंग्रेजियत का जाना ही यदि नहीं है तो गाँधी का हमारे बीच आना व्यर्थ मानना चाहिए।

आज हिन्दी राजभाषा है, लेकिन वह पर्याप्त नहीं है। अर्थात् कानून की और आपसी व्यापार की नहीं, बल्कि जीवन की अर्थात् आपसी स्नेह की भाषा उसे बनना होगा। आदान-प्रदान की वह धरती उसे बनना होगा जो हमारी एकता को धारण करे। भीतर से एक होता हुआ भारत ही दुनिया में अपनी जगह रख सकेगा और विश्व की भवितव्यता में अपना पूरा दान दे सकेगा।

वैसा प्रयत्न आज तो लगभग नहीं है। पर अधिक काल उसको टालना खतरे की बात होगी। राजनीतिक एकता हमको डस जायगी, अगर भीतर उसके सांस्कृतिक सत्व न होगा। वह छावनी की, 'टोटे-लिटेरियन डिक्टेटरी' की एकता होगी।

नाश, और नाश

जो घटनाओं के प्रति अनजान और तत्त्व की जानकारी में ही सावधान हुए रहते हैं, ऐसे ज्ञानी-विज्ञानियों ने युग-युग की खोज से निकाला 'अणु', और उसके अन्तरंग की खोज से अब निकाली 'अणु-शक्ति।'

ये विज्ञानी लोग 'अणु' की कल्पना को आँखों के आगे लेकर बाकी दुनिया की तरफ आँखें बन्द किये रहे। इसी तरह वे जीते गये, काम किये गए और मर गए। मरे हुओं का काम फिर जिन्दों ने उठाया। वे मरते वक्त उसे जहाँ छोड़ गए, पीछे आने वालों ने उस सिरे को फिर हाथ में थाम लिया। ऐसे उन्होंने एक-दूसरे और एक-दूसरे के काम को जाना। आसपास होती हुई घटनाओं को जानने का अवसर उन्होंने नहीं लिया।

काल को चीरकर उन्होंने युग को युग से मिलाया। वे वर्तमान के क्षण में ऐसे रहे जैसे शाश्वत में हों। काल के साथ तत्सम होकर देश के लिए वे अगम हो गए।

देश के विस्तार पर प्रमुता है राजनीति की। राज-नेता और राज-निर्माता खबर की खबर रखते हैं, तत्त्व की खोज वे नहीं लेते। वे घटनाएँ बनाते हैं और उन पर रहते हैं। उन पर उतराते और उन्हीं में डूबते भी हैं। आँखों के आगे होकर यह जो फैलाव फैला है, जो लहराता और बदलता रहता है, उसमें उनको चेतना है, इससे उसी पर उनका

दबाव है।

लेकिन एक से काम कब चला है? देश को काल का सहारा चाहिए ही। काल की उपयोगिता देश पर है। देश की उन्नति काल में है। इस तरह उन अन्धे विज्ञानियों के विज्ञान की तरफ नहीं, पर उनके परिणाम की तरफ खुली आँख के राजनीतिज्ञों का ध्यान गया। अणु-शक्ति? यदि वह शक्ति हो तो वह अवश्य उन्हें चाहिए। शक्ति के रूप में 'अणु' प्रकट होगा तो विज्ञानियों का नहीं, राजनीतिज्ञों का उस पर कब्जा होगा। शक्ति पर उन्हीं के धन्धे का अधिकार है।

इस तरह 'अणुशक्ति', जिसको पाने और बनाने में वैज्ञानिकों की पाँत-की-पाँत ने अपने को उठाया और मिटाया, बनकर उदय में आ गई कि उसी दम राजनीतिक अधिकार और कूटनीति की वस्तु हो रही।

कान्फ्रेन्स बैठी है, जो दुनिया पर दुनिया का भविष्य उतारने के काम के लिए है। उसमें तहें हैं, जिनके भीतर और तहें हैं। 'अणु की शक्ति' उन तहों के अन्दर की तहों के भी अन्दर है। वह उस महाशक्ति के पास है, जो 'अणु-शक्ति' की महत्ता को इतना जानती है कि महत्ता में किसी दूसरे नम्बर की शक्ति के साथ उसे बाँटने की चूक वह नहीं कर सकती। देखिए न, कैसा गजब उससे हो जा सकता है! खुलो तो ध्वंस के काम में ही न वह आने लगेगी! लेकिन लेना उसे निर्माण के ही काम में होगा। इसलिए उसे बन्द ही रखना मुनासिब है। जापान की बात दूसरी थी। वह 'सभ्य-युग' की सभ्य दुनिया पर एक पीला दाग था। उसे तो साफ करना ही था। लेकिन अब उस शक्ति को खोला नहीं जा सकता। खोज तो उसकी जारी रहनी चाहिए और जारी रहेगी। प्रयोग हो रहे हैं और सारी दुनिया यह कान खोलकर सुन ले, कि प्रयोग रुकने वाले नहीं हैं। बम भी बन रहे हैं। लेकिन लड़ाई के लिए नहीं, शुद्ध विज्ञान के लिए।

इस तरह अनन्त-काल में खुलकर रहने वाला विज्ञानी देश पर अंकुश रखकर खुद निरंकुश विचरण करने वाली राजकीय सत्ता के

सुरक्षित नियन्त्रण में अपना काम किये जाने में खीज और लाचार है। खीज मन से है, लाचार कानून से है।

अभी सुनने को मिला है, 'अणु-बम' का प्रयोग होगा। कुछ जहाज इकट्ठे होंगे और वहाँ बम छूटेगा। देखा जायगा कि उसकी शक्ति कितनी है। बढ़ी है, तो कितनी अधिक बढ़ सकती है। पर जाने क्या-क्या और देखा जायगा।

जहाजों में आदमियों की मेहनत लगती है, और पैसा लगता है। लेकिन तोड़ने की यह शक्ति देखनी हो, तो बनी हुई चीज को ही तोड़ना होगा। कहते हैं, तोड़ना आसान है, बनाना मुश्किल है। लेकिन बनाना अब मुश्किल नहीं रह गया है। इसी से तोड़ने की ताकत देखी जा रही है कि कितनी काफी बढ़ सकी है। सिद्धान्त यह है कि ताकत चाहिए। होने पर, मौके से वह बनाने में भी लग सकेगी। लेकिन पहले तो ताकत खुद ताकत के मुकाबले को चाहिए। उसके बाद दूसरी बातें देखी जावेंगी।

यह 'इकनामी' पुरानी है कि वस्तु बचाने के लिए है। मशीन के मैदान में आने से इकनामी नई हो गई है। वस्तु इतनी पैदा होती है कि अगर वह खपती यानी मिटती न रहे तो सारा चक्कर ही रुक जाय। एक मशीन सौ का काम करती है, तो उन सौओं को काम में रखने के लिए यह भी जरूरी है कि खपत सौ-गुनी बढ़ाई जाय। इसी नई इकनामी में से बनी वस्तु की खपत, यानी नाश, की रफ्तार को तेज रखने का कर्तव्य प्राप्त होता है।

आज लड़ाई के बाद बेकारी है। बेकारी यह अजब तरह की है। अभी पढ़ने में आया कि लन्दन में दसियों हजार लड़कियाँ ऐसी बेकार हैं कि उन्हें पता नहीं सोयें कहाँ! वैध व्यभिचार के काम में भी समाई नहीं है। अवैध व्यभिचार की गणना तो काम में नहीं है। माता बनने का काम आज की हालत में मिल नहीं सकता है। लड़ाई में मर्द कम हुए हैं। लेकिन गारण्टी क्या कि उत्पादन की वृद्धि से मर्दों के साथ

औरतें भी नहीं बढ़ेंगी? खैर जो हो, उत्पादन में वृद्धि जरूरी होने पर भी अर्थ-तन्त्र उसके अनुकूल नहीं है। बल्कि आर्थिक व्यर्थता है। इससे प्रेम का बाजार कितना गर्म है, विवाह का उतना ही ठण्डा है।

इस सब बेकारी आदि से जरूरी है कि माल का नाश धीमा न पड़े। यह भी कुछ जरूरी मालूम होता है कि जान का नाश भी जारी रहे। और उसकी गति भी काफी ठीक और रेगुलेटेड रहे। मशीन तेज चलना जरूरी है तो दूसरी तरफ का धीमापन बरदाश्त नहीं किया जा सकता। परिस्थिति से ही वह असम्भव है।

चुनाँचे खबर है, और मुनासिब खबर है, कि सिर्फ जहाज ही न उड़ाये जायँगे बल्कि उनमें जानें भी होंगी जिनका उड़ना साथ-ही-साथ आसानी से हो सकता है।

सुनते हैं कि वे जानें आम किस्म की नहीं, खास किस्म की होंगी। यानी वे जर्मनों और जापानियों की होंगी। मैं समझता हूँ कि राजनीति और भूगोल के ये शब्द—जर्मन और जापानी, जान के अन्दर भी कुछ सिफत पैदा कर देते हैं। जरूर उस सिफत को प्राण-तत्त्व के खोजियों को पाने की कोशिश करनी चाहिए। यह कि भगवान् ने सब को एक-सा पैदा किया है, विज्ञान का सच कभी नहीं हो सकता। विज्ञान है तो उससे यह साबित करना ही होगा कि जान जर्मन या जापानी होने से दूसरी तरह की जानों से काली या किसी दूसरी रंगत या सिफत की होती है।

इस बीच यह तसल्ली की बात है कि हमारा ध्यान जरूरी बातों की तरफ है और उत्पादन को तरक्की देने वाले असूल खपत यानी नाश के काम की तरफ हम उदासीन नहीं हैं। वह कर्त्तव्य व्यवस्थापकों की ओर से भली-भाँति पूरा किया जा रहा है।

जड़-चेतन

आज के ज़माने में और दैनिक व्यवहार ने जड़-चेतन की बात ! लेकिन पूँजी और श्रम का सवाल [illegible] जड़-चेतन का ही सवाल बनता है। यह सवाल बहुत मौलिक है और बहुत व्यापक है। सब कहीं और सारा सवाल ही यह है।

जड़-चेतन की विभाजक रेखा का पता नहीं। दर्शन उसे नहीं जानता। विज्ञान उसे बहाये दे रहा है। फिर भी कुछ है, जो हमारे हिसाब के वश में आ रहता है; दूसरा कुछ है जो वश में आता ही नहीं। वह नई-नई समस्याएँ उपजाता जाता है। पहला जो [illegible], [illegible] चेतन।

कहते हैं जो सिर्फ सत् है वह जड़, जिसमें साथ चित् भी है वह चेतन। सत् में चित् गर्भित रूप में है ही। जिसमें चित् जगा हुआ है उसे किसी तरह सुलाया जा सके तो चेतन भी जड़ हो जाय। चित् जगाया जा सके तो जड़ भी चेतन हो जाय।

श्रम और पूँजी की समस्या व्यवस्थापकों के लिए ही नहीं, विचारकों के लिए भी है। व्यवस्था, दुनिया की या देश की, इस समस्या के कारण कहीं सुरक्षित नहीं। अमेरिका महाशक्ति है। कौन उसके आगे ठहर सकता है? लेकिन वह अपने अन्दर श्रमिकों की हड़ताल के डर से थरथराता है। व्यवस्था दुनिया की अगर पक्की और

मजबूत नहीं है तो इस कारण कि मशीन ही काम नहीं करती आदमी भी काम करता है। आदमी मशीन नहीं है।

कुछ लोग सोच-सोचकर इस जगह पर आये हैं कि व्यवस्था तब सुन्दर और सम्पूर्ण होगी, जब काम सब मशीन करे और आदमी को कुछ न करना पड़े। वे दुनिया को पूरी तरह इन्डस्ट्रियलाइज़ कर सकें तो कोई वजह नहीं कि स्वर्ग न आ जाय। खूब मशीनें चलें और खूब माल बने और दुनिया की एक सरकार हो, तो बताइये दुनिया के स्वर्ग बनने में क्यों कुछ बाकी रह जाना चाहिये।

स्वर्ग का हमारा सपना कुछ ऐसा ही है। वहाँ सब को सब-कुछ चाहने का हक है और चाहने के साथ ही उसे वह मिल जाता है। इस तरह वहाँ बसनेवाले देवता के लिए भोग ही भोग है, श्रम की आवश्यकता नहीं है।

स्वर्ग में भोग्य-सामग्री इतनी अतिशयता से कहाँ से कैसे आती है, इस बारे में लोगों को कुछ सन्देह है। इससे बुद्धिमान स्वर्ग का भरोसा नहीं बाँधते पर करिश्मा वह हमारे विज्ञान के हाथों आकर असंदिग्ध यथार्थ बन गया है और हम जानते हैं कि ज़रूरत से ज़्यादा पदार्थ की उपज करना मुश्किल नहीं है।

लेकिन मशीनें चल रही हैं और अतिशयता भी है। फिर भी देखते हैं कि कुछ पेट खाली हैं, कुछ तन उघड़े हैं। और लड़ाइयाँ होती हैं जो आदमी की और पदार्थ की संगृहीत अतिशयता को इस तरह खा जाती हैं कि बाकी बचे लोग पर्याप्त पदार्थ के लिए उसी तरह भटकते रह जाते हैं।

इस पर विचारवानों ने सोचा और कहा कि पदार्थ का वितरण अगर सम हो तो दिक्कत न रहे। उपज तो मशीन के ज़ोर से ज़रूरत से ऊपर हम कर ही सकते हैं। प्रबन्ध बस खपत का करना है। ऐसा करें कि बड़ी-बड़ी सरकारें मिलकर दुनिया की एक सरकार बना लें। वह सरकार दुनिया का हिसाब रखे और उस हिसाब से सरकारी कारखाने

माल मुहैया करें। इस तरह चारों तरफ इफरात हो और कहीं कमी न रहे, और आनन्द-ही-आनन्द हो जाय। आदमी भोगने वाला रहे, मशीन करने वाली रहे। तब फिर संस्कृति और कला का उदय हो, और विज्ञान सत्य में गति करते जाने को मुक्त हो जाय।

पिछले खेवे के दार्शनिकों और समाज और पदार्थ के विज्ञानियों के सपनों की तरफ अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के चाबुक के जादू से राजनेता लोग दुनिया को दहाये लिये चले आ रहे हैं। पानी कहाँ है? वह सामने है। श्रम और पुरुषार्थ से दुनिया का कण्ठ सूख रहा है। लेकिन लहलहाता पानी भी वह सामने दीखता है। कोई परवाह नहीं अगर पानी पाने के लिए आधी दुनिया आपस में लड़े और मर-खप जाय। जो मरते हैं मरने दो। मंज़िल ही बीहड़ है। पर बचे-खुचे जो भी मंज़िल पर पहुँचेंगे वे तृप्त हो जाएँगे। और अब वह दूर नहीं है। काफी हम चल आये हैं।

इस पदार्थ की अतिशयता को और फुरसत को और भोग को सामने रखकर बढ़ी चली आने वाली सभ्यता अथक चेष्टा से मोरचों पर मोरचे पार करती हुई लगता है कि अपने इष्ट के पास पहुँच रही है। लन्दन में दुनिया-भर की सरकारें जमा हो रही हैं कि नई दुनिया बनायेंगे कि जहाँ सुख होगा और सबके लिये सब-कुछ होगा।

हम नहीं कह सकते कि यह मृगतृष्णा है। यह कहना निर्दयता होगी। क्या कुछ नहीं झेला गया है उसके लिए। उसी को वहम किस मुँह से कहें? पर तृष्णा जो मृग को सताती है, वही मृग तृष्णिका को जनमाती है। तृष्णा रहेगी तब तक आगे मरीचिका भी रहेगी ही।

राजनीति नीति का राज नहीं चाहती। वह तो राज ही चाहती है। राज करने की और राज रखने की ही नीति को वह चाहती है। पर क्या वह नीति है, जो आँख राज पर रखे और जिन पर वह राज हो उन पर पाँव रखने की सोचे?

परिणाम यह कि दो पक्ष हैं। एक, वे जो कराते हैं, दूसरे वे जो

करते हैं। कराते हैं वे मालिक, करते हैं वे मज़दूर। एक हाकिम दूसरे महकूम। एक नेता, दूसरे जनता।

पर बात कुछ बदल भी रही है। रूस की सरकार बहुत ताक़तवर है और वह 'प्रोलितारियत' की डिक्टेटरशिप है। विलायत में लेबर-सरकार है। पर सरकार चीज़ ही ऐसी है, उसका अंग बनकर आदमी करने वाला नहीं रहता, कराने वाला हो जाता है। सरकार का काम है शासन और व्यवस्था। शासन व व्यवस्था अपने-आपमें काम बनता ही तब है जब समाज के अवयवों में संघर्ष और विषमता हो। राज की नीति है भेद। 'डिवाइड एण्ड रूल।' इस तरह जो राज करता है वह फिर श्रम नहीं करता, श्रम की व्यवस्था करता है। अर्थात् चाहे वह पार्टी लेबर की हो चाहे प्रोलितारियत का शासन हो—शासक श्रमिक नहीं रहता। श्रम करने और श्रम का ही धन रखने वाला औसत आदमी और उस श्रम की व्यवस्था और उसके फल का व्यापार करने वाला व्यवसायी या व्यवस्थापक—इन दोनों के हितों में अन्तर होता है।

इस तरह सरकार वह सर्वोत्तम होनी चाहिये। जहाँ उसे करने को कुछ रहे ही नहीं। जहाँ वह अपने-आपमें अनावश्यक हो जाय। आज तो सरकार का आदर्श कुछ टोटेलिटेरियन होता जा रहा है। मुसोलिनी और हिटलर तो गये, पर क्या उनकी आत्मा भी गई? क्या सचमुच आज के राजकारण में उनकी आत्मा अनुपस्थित और मरी हुई दिखाई देती है?

इन टोटेलिटेरियन डिक्टेटरों की नीति थी आदमी को यंत्र बना देना। सब वही सोचें जो एक सोचे, वही करें जो एक चाहे। आदमी के साथ इस जादू का खेल करके उन्होंने सेनाएँ खड़ी कीं, ऐसी कि सबके छक्के छूट गये। आज का राजनीतिक भी क्या आदमी की निजता का कुशलता से अपहरण करके अपनी योजनाओं को निष्कंटक बनाने की नहीं सोच रहा है?

आदमी मशीन बन जाय तो बहुत सुभीता है। मशीन जो करती

है उसके मुनाफे के बारे में नहीं सोचती। मशीन और मालिक में कोई बिगाड़ नहीं होता। पर आदमी अपना सुख-दुख रखता है। यही उसकी हीनता है।

लेकिन हम जान रखें कि मशीन की दिशा में जो आदमी हीन है, अपनी दिशा में वही इतना अमोघ है कि कोई सरकार और कोई व्यवस्था उसको बाद देकर, उसको कुचलकर चैन से नहीं चल पाएगी। व्यवस्था वही सफल होगी, जो मनुष्य के पास की मनुष्यता की निधि को पूरी तरह आविष्कृत करके उसका पूरा-पूरा उपयोग ले सकेगी।

अणु ने हमें बताया कि उसकी अणुता के गर्भ में असीम सम्भावनाएँ हैं। ऐसी ही हर व्यक्ति में अनन्त सम्भावनाएँ हैं। वह दो हाथों से श्रम करके एक हार्स-पावर का दसवाँ हिस्सा काम दे सकने वाला ही प्राणी नहीं है। इससे वह बहुत भिन्न है और बहुत अधिक है।

इन सम्भावनाओं को जगाने और सम्पन्न करने के लिए सोचने वालों को गहरा जाना होगा। उन्हें तय करना होगा कि जड़ से चेतन को दबाए रखना है या कि उस चेतन को प्रबुद्ध और मुक्त करने में असली हित है।

अमरीका ने बम दिया और ब्रिटेन दब गया। यह पूँजी की शक्ति उभारती है और दबाती भी है। वह 'कराने' वालों के हाथ में है जिससे वे करने वालों को रोक सकते हैं या खींच सकते हैं। लेकिन यह पूँजी क्या श्रम में ही से बनी है? इस तरह श्रम ही मूल पूँजी है। इस चैतन्य को आत्म-श्रद्धा को जो नीति जितना जगाएगी वह उतनी ही अन्त में आदमी को और मुल्कों को आज़ादी की तरफ उठाएगी। आज तो अन्तर्राष्ट्रीय राजकारण की शक्ति व्यक्ति की सम्भावनाओं पर नहीं है और संगठित सत्ता के पीछे है। लेकिन अणु ने अपने अन्तरंग को फोड़कर बतला दिया है कि किस तरह स्थूल परिमाण तो नगण्य ही है। ऐसे ही किसी रोज राजनैतिक विचार को

पहिचानना होगा कि किस तरह तमाम संगठित सत्ता से एक या अनेक व्यक्ति के मर्म में जलती हुई आकांक्षा या वेदना प्रबलतर शक्ति हो सकती है। सूक्ष्म है, इसी से वह प्रबल है, लेकिन इसी से विचारा हिसाब उसे आसानी से छोड़ जाया करता है।

अणु-शक्ति

जो घटनाओं के प्रति अनजान और तत्त्व की जानकारी में ही साव-धान हुए रहते हैं ऐसे ज्ञानी-विज्ञानियों ने युग-युग की खोज से निकाला 'अणु', और उसके अन्तरंग की खोज से अब निकाली 'अणुशक्ति'।

ये विज्ञानी लोग 'अणु' की कल्पना को आँखों के आगे लेकर बाकी दुनिया की तरफ आँखें बन्द किये रहे। इसी तरह वे जीते गये, काम किये गए, और मर गए। मरे हुओं का काम फिर ज़िन्दों ने उठाया। वे मरते वक्त उसे जहाँ छोड़ गये, पीछे आने वालों ने उस सिरे को फिर हाथ में थाम लिया। ऐसे उन्होंने एक-दूसरे को और एक-दूसरे के काम को जाना। आसपास होती हुई घटनाओं को जानने का अवसर उन्होंने नहीं लिया।

काल को चीरकर उन्होंने युग को युग से मिलाया। वे वर्तमान के क्षण में ऐसे रहे जैसे शाश्वत में हों। काल के साथ तत्सम होकर देश के लिए वे अगम हो गए।

देश के विस्तार पर प्रभुता है राजनीति की। राज-नेता और राजनिर्माता खबर-की-खबर रखते हैं, तत्त्व की खोज वे नहीं लेते। वे घटनाएँ बनाते हैं और उन पर रहते हैं। उन पर उतराते और उन्हीं में डूबते भी हैं। आँखों के आगे होकर यह जो फैलाव फैला है, जो लह-राता और बदलता रहता है, उसमें उनकी चेतना है, इससे उसी पर

उनका दबाव है।

लेकिन एक से काम कब चला है? देश को काल का सहारा चाहिए ही। काल की उपयोगिता देश पर है। देश की उन्नति काल में है। इस तरह उन अन्धे वैज्ञानिकों के विज्ञान की तरफ़ नहीं, पर उनके परिणाम की तरफ़ खुली आँख के राजनीतिज्ञों का ध्यान गया। अणुशक्ति? यदि वह शक्ति हो तो वह अवश्य उन्हें चाहिए। शक्ति के रूप में 'अणु' प्रकट होगा तो विज्ञानियों का नहीं, राजनीतिज्ञों का उस पर कब्ज़ा होगा। शक्ति पर उन्हीं के धन्धे का अधिकार है।

इस तरह 'अणुशक्ति', जिसको पाने और बनाने में विज्ञानियों की पाँत-की-पाँत ने अपने को उठाया और मिटाया, बनकर उदय में आ गई कि उसी दम राजनीतिक अधिकार और कूटनीति की वस्तु हो रही।

कान्फ्रेन्स बैठी है, जो दुनिया पर दुनिया का भविष्य उतारने के काम के लिए है। उसमें तहें हैं, जिनके भीतर और तहें हैं। 'अणु की शक्ति' उन तहों के अन्दर की तहों के भी अन्दर है। वह उस महा-शक्ति के पास है, जो 'अणु-शक्ति' की महत्ता को इतना जानती है कि महत्ता में किसी दूसरे नम्बर की शक्ति के साथ उसे बाँटने की चूक वह नहीं कर सकती। देखिए न, कैसा ग़ज़ब उससे हो जा सकता है! खुली तो ध्वंस के काम में ही न वह आने लगेगी। लेकिन लेना उसे निर्माण के ही काम में होगा। इसलिए उसे बन्द ही रखना मुनासिब है। जापान की बात दूसरी थी। वह 'सभ्य-युग' की सभ्य दुनिया पर एक पीला दाग था। उसे तो साफ़ करना ही था। लेकिन अब उस शक्ति को खोला नहीं जा सकता। खोज तो उसकी जारी रहनी चाहिए और जारी रहेगी। प्रयोग हो रहे हैं और सारी दुनिया यह कान खोलकर सुन ले कि प्रयोग रुकने वाले नहीं हैं। बम भी बन रहे हैं। लेकिन लड़ाई के लिए नहीं, शुद्ध विज्ञान के लिए।

इस तरह अनन्त काल में खुलकर रहने वाला विज्ञानी देश पर अंकुश रखकर खुद निरंकुश विचरण करने वाली राजकीय सत्ता के सुर-

चित नियन्त्रण में अपना काम किये जाने में लीन और लाचार हैं। लीन मन से है, लाचार क़ानून से है।

अभी सुनने को मिला है, 'अणु-बम' का प्रयोग होगा। कुछ जहाज़ इकट्ठे होंगे और वहाँ बम छूटेगा। देखा जायगा कि उसकी शक्ति कितनी है। यही है तो कितनी अधिक बढ़ सकती है। पर आगे क्या-क्या और देखा जायगा।

जहाजों में आदमियों की मेहनत लगती है, और पैसा लगता है। लेकिन तोड़ने की यह शक्ति देखनी हो, तो बनी हुई चीज़ को ही तोड़ना होगा। कहते हैं, तोड़ना आसान है, बनाना मुश्किल है। लेकिन बनाना अब मुश्किल नहीं रह गया है। इसीसे तोड़ने की ताकत देखी जा रही है कि कितनी काफ़ी बढ़ सकी है। सिद्धान्त यह है कि ताकत चाहिए। होने पर, मौके से वह बनाने में भी लग सकेगी। लेकिन पहले तो ताकत खुद ताकत के मुकाबले को चाहिए। उसके बाद दूसरी बातें देखी जायँगी।

यह 'इकानमी' पुरानी है कि वस्तु बचाने के लिए है। मशीन के मैदान में आज से इकानमी नई हो गई है। वस्तु इतनी पैदा होती है कि अगर उसे वह खपती यानी मिटती न रहे तो सारा चक्कर ही रुक जाय। एक मशीन सौ का काम करती है, तो उन सौओं को काम में रखने के लिए यह भी ज़रूरी है कि खपत सौ गुनी बढ़ाई जाय। इसी नई इकानमी में से बनी वस्तु की खपत, यानी नाश, की रफ़्तार को तेज़ रखने का कर्त्तव्य प्राप्त होता है।

आज लड़ाई के बाद बेकारी है। बेकारी वह अजब तरह की है। अभी पढ़ने में आया कि लन्दन में दसियों हजार लड़कियाँ ऐसी बेकार हैं कि उन्हें पता नहीं सोयें कहाँ! वैध व्यभिचार के काम में भी समाई नहीं है। अवैध व्यभिचार की गणना तो काम में नहीं है। माता बनने का काम आज की हालत में निभ नहीं सकता है। लड़ाई में मर्द कम हुए हैं, और उत्पत्ति-संख्या बढ़नी ज़रूरी है। लेकिन गारन्टी क्या कि

उत्पादन की वृद्धि से मर्दों के साथ औरतें भी नहीं बढ़ेंगी ? ख़ैर जो हो, उत्पादन में वृद्धि ज़रूरी होने पर भी अर्थ-तन्त्र उसके अनुकूल नहीं है। बरचा आर्थिक व्यर्थता है। इससे प्रेम का बाज़ार कितना गर्म है, विवाह का उतना ही ठंडा है।

इस सब बेकारी आदि से ज़रूरी है कि माल का नाश धीमा न पड़े। यह भी कुछ ज़रूरी मालूम होता है कि जान का नाश भी जारी रहे और उसकी गति भी खासी ठीक और रेगुलेटेड रहे। मशीन तेज़ चलना ज़रूरी है तो दूसरी तरफ का धीमापन बरदाश्त नहीं किया जा सकता। परिस्थिति से ही यह असम्भव है।

चुनांचे खबर है, और मुनासिब खबर है, कि सिर्फ जहाज़ ही न उड़ाए जायँगे बल्कि उनमें जानें भी होंगी जिनका उड़ना साथ-ही-साथ आसानी से हो सकता है।

सुनते हैं कि वे जानें आम किस्म की नहीं, खास किस्म की होंगी। यानी वे जर्मनों और जापानियों की होंगी। मैं समझता हूँ कि राजनीति के और भूगोल के ये शब्द, जर्मन और जापानी, जान के अन्दर भी कुछ सिफ़त पैदा कर देते हैं। जरूर उस सिफ़त को प्राण-तत्त्व के खोजियों को पाने की कोशिश करनी चाहिए। यह कि भगवान् ने सबको एक-सा पैदा किया है, विज्ञान का सच कभी नहीं हो सकता। विज्ञान है तो उससे यह साबित करना ही होगा कि जान जर्मन या जापानी होने से दूसरी रंगत या सिफ़त की होती है।

इस बीच यह तसल्ली की बात है कि हमारा ध्यान ज़रूरी बातों की तरफ़ है और उत्पादन को तरक्की देने वाली वसूल खपत यानी नाश के काम की तरफ हम उदासीन नहीं हैं। यह कर्तव्य व्यवस्थापकों की ओर से भली-भांति पूरा किया जा रहा है।

अपरिग्रही वैश्य गांधी जी

जैन अहिंसा को परम-धर्म मानते हैं। गांधी जी का भी एक धर्म अहिंसा है। अहिंसा ही उन्हें सत्य है। पर गांधी जब कि शक्ति के केन्द्र हैं, जैन-समाज अपने को क्षीण अनुभव करता है।

यहाँ सिद्धान्त की चर्चा नहीं, अपने को परखने का ही सवाल है।

जैनागम की अहिंसा गांधी जी की अहिंसा से पूर्णतर है। इस बारे में जैन-विद्वानों ने इधर काफी लिखा है। वह सब सही हो, तो भी सवाल रहता है कि अहिंसा को धर्म मानकर चलने वाला जैन-वर्ग क्यों निर्बल है? या तो अहिंसा में ही बल नहीं, या वह निर्बलता की ढाल है। या फिर अहिंसा सचमुच शक्ति है तो जैनाचार की अहिंसा अहिंसा नहीं?

गांधी जी की अहिंसा ने एक राष्ट्र को प्राणवान किया है। जगत् के इतिहास में उससे एक नये युग की शुरूआत हुई है। उस अहिंसा के साथ देखते-देखते मदोन्मत्त राज (सत्ता) नीति की बागडोर नीति-तत्त्वज्ञों के हाथ आई है। एक ऐसी समाज-रचना का आरम्भ हुआ है, जिसमें प्रधान वह नहीं है जो ऊपर हैं और हुकूमत करता है; बल्कि जिसका केन्द्र वह है जो नीचे हैं और श्रम करता है। ऊपरी और बाहरी सत्ता का आतंक, जो मानवचेतना को दबाता था, वह गांधी की अहिंसा के उपचार से शून्यवत् बनता जा रहा है।

अहिंसा मुक्ति का धर्म है। यानी हमारे ही भीतर तरह-तरह के संकल्प-विकल्प और कर्म-कलाप की उलझन के नीचे आत्मचैतन्य दबा पड़ा है, जमाकर उसको मुक्त कर देने वाला धर्म। लेकिन हममें कितने उस अन्तःकरण की सुनते हैं या सुन पाते हैं? कितने अपनी मुक्ति में अहिंसा को काम लाते हैं?

गांधी जी के जीवन में एक बात देखियेगा। आत्मा की आवाज़ पर कुछ नहीं है जो उन्होंने छोड़ने से बचाया। जो अन्तःकरण ने कहा उससे जौ-भर वह नहीं डिगे। शेष सब को उन्होंने असत माना, उसके पीछे मान छोड़ा, सगे-सम्बन्धी छोड़े। जो भी हुआ, सहा और झेला, पर अन्दर से सुनी पुकार को उन्होंने अनसुना नहीं किया। सारा जीवन उनका अनन्यनिष्ठा का उदाहरण है।

उस जीवन से यह भी जान पड़ता है कि अहिंसा कोई ऐकान्तिक सिद्धान्त नहीं है, वह जीवनव्यापी तत्त्व है। जीवनके एक अंश को छोड़-कर शेष में अहिंसा की साधना नहीं की जा सकती। मसलन, अहिंसक को ब्रह्मचारी और अपरिग्रही भी होना होगा। संयम अहिंसा की जान है। परिग्रह-संग्रह के साथ वाली अहिंसा मुक्ति में काम देने वाली नहीं है; समाज की, देश की मुक्ति तक में नहीं; आत्मा की मुक्ति की बात तो और भी आगे और सूक्ष्म है। इस प्रकार अहिंसा तत्त्व-चर्चा की और तर्क की बात न रहकर हर—कहीं और हर वक्त हमको चलाने वाली अमोघ नीति बन जाती है। उसके हाथ जीवन की बागडोर दे देनी होगी। हम उस पर सवार न हों, बल्कि स्वयं उसके हाथ हो रहें। यानी अहिंसा की व्याख्या हम न दें, अहिंसा की जिज्ञासा ही हमें रहे।

ऐसा होने पर प्रश्न शास्त्रीय और सूक्ष्म बिलकुल भी नहीं रह जाता, वह एकदम निजी और प्रस्तुत बन जाता है। उसका रूप होता है कि मैं कैसे अमुक से वर्तन करूँ कि मुझ से उसका हित हो। आम-तौर पर हम जिस बाजार-सिद्धान्त पर चलते हैं उसमें अपने नफे पर ही ध्यान रहता है। परहित की जगह अपने लाभ पर जहाँ निगाह रही

वहीं हिंसा आई) इस तराजू पर तोलें तो जीवन का कितना आचरण अहिंसामूलक निकलेगा ?

जैन-समाज वैश्य-समाज है। वैश्य के प्रति इस वक्त लोगों का सद्भाव कम-से-कम है। बाज़ार में जो अनीति फैली है सब जानते हैं। मगर गांधी भी वैश्य हैं और सच यह है कि जो जीवन-नीति और जीवन-दर्शन उन्होंने दिया है उसमें वैश्य-कुशलता को बहुत बड़ा स्थान है। अब तक क्षात्र या ब्राह्मण-आदर्श का प्रचलन था। वह आदर्श अपर्याप्त साबित हुआ। इससे ऋषि और सन्त मिले या सम्राट् और सेनानी, पर उन से काम नहीं चला। आधुनिक जगत् अधिक पेचीदा है। विज्ञान ने और उद्योग, उद्यम की महा विशालता ने समस्या को सरल नहीं रहने दिया है। चले आते हुए आदर्शों में अब वैश्यत्व का पुट दिये बिना नहीं चलेगा। अब तक वैश्य उपेक्षित था, पश्चिम के यन्त्रवाद ने उसे महत्ता दी, उसे सत्ता दी। यहाँ तक कि इससे व्यवसायी उपेक्षा की जगह ईर्ष्या और क्रोध का पात्र बन गया। बुराई का नाम इस वक्त मानो पूँजीवाद और बुरे का नाम पूँजीवादी हुआ जा रहा है। राजनीतिक जीवन-दर्शन ही खड़े हो चले हैं जिनकी स्थापना में एक ही आधार है और वह है पूँजी-सत्ता का विरोध और विश्लेषण।

व्यवसाय में सत्य का अंश तो है, मगर परिग्रहवाद अर्थात् पूँजीवाद के साथ जुड़ने पर वह असत्य और अधर्म का साधन हो जाता है। उसी को यदि अपरिग्रह और अकिंचनवाद के साथ जोड़ दें सकें तो व्यवसायी ही आज सच्चा योगी हो जाय और व्यवसाय की महिमा अध्यात्म-योग से किसी तरह कम न रहे।

इतिहास के अब तक के मार्ग-प्रणेताओं से गांधी की यदि विशेषता है तो यही कि वह वैश्य हैं। हिसाब में खूब चौकस हैं और हर सौदे में अपना नफ़ा किये बिना नहीं रहते। जीवन के और राजनीति के व्यापार में तमाम दुनिया में किसी का धन्धा ऐसा नहीं चमका है और न ही इतना फला-फूला है जितना गांधी का। और इतनी कम पूँजी से भी

किसी ने अपना काम नहीं चलाया।

इस तरह अपरिग्रह शरीर से दिगम्बर हुए बिना नहीं सधेगा, ऐसी बात नहीं है। वह लोकोत्तर धर्म नहीं है।

व्यवसाय का अपरिग्रह के साथ जोड़ हो सकता है। अगर अहिंसा को धर्म के नहीं बल्कि कर्म के भी, व्यक्ति के नहीं बल्कि समाज के भी संचालन का नीति-नियम बनना है तो वैश्य को अपरिग्रही बनना होगा। उससे वैश्यत्व बिगड़ेगा ही नहीं, बल्कि चमके और संभलेगा ही।

वह अहिंसा जो हमें इस पहलू से बेखबर रखती है, तात्त्विक हो सकती है, वास्तविक नहीं।

अहिंसा यदि परम-धर्म है तो यह भी सच है कि उस धर्म के अपलाप का अनिष्ट परिणाम आने ही वाला है। क्योंकि असल हिसाब में अहिंसा की दलील नहीं दर्ज होती, अहिंसा के काम की ही गिनती होती है। जैन-समाज जिस गहन और सूक्ष्म और परिपूर्ण अहिंसा को मंदिरों में और शास्त्रों में मान देता है, इसके बजाय संगत विचार यही होगा कि परस्पर वर्तमान में वह किस प्रत्यक्ष अहिंसा को स्थान देता है।

क्रांति शुरू हो गई है। उसका बीज इस बार गहरा पड़ा है, फ्रांस, अमरीका और रूस देशों-जैसी क्रांति यह नहीं है। यह सार्वदेशिक है। यह मानवता की है। हिन्दुस्तान का राष्ट्रकारण तो सिर्फ उसका माध्यम है। यह रुकने वाली नहीं है। सत्ता के हस्तान्तरित होने से इसका सम्बन्ध नहीं। पं० जवाहरलाल नेहरू के मन्त्री होने से उसे लगाव नहीं। सत्ता पर उसे नहीं रुकना; उसे तो जीवन की जड़ों को बदलना है। गांधी उस क्रांति के मन्त्रदाता भी हैं और शिल्पकार भी। लगता है कि इस क्रांति को बीच में छोड़कर उन्हें जगत् से उठना नहीं है।

राजनीति परिग्रही-व्यवसाय को जीता नहीं छोड़ेगी। हो सकता है वह उसे जान-बूझकर जिन्दा रखे; या अपने साधन के तौर पर। पर शोषक व्यवसाय के दिन गये। जो यह नहीं देखता वह भ्रम में है। मैं

और आप काल-गति को रोक नहीं सकते। उसमें न मिलकर अपने को भले तोड़ लें, उस दुर्निवार गति को यति नहीं दे सकते। व्यवसाय अब श्रमिक के हित से अलग बहुत काल नहीं रहने वाला है। लोकहित से उसका सम्बन्ध है, उसे जोड़ना ही होगा। जो ऐसा नहीं कर सकेगा उसे राह में दबना या मिटना होगा।

जैन-समाज का आदर्श गांधी में अपनी अनुकूलता देख सकता है। यह समय जैन-आदर्श के लिए अनुपम है। मैं नहीं जानता समाज के रूप में हम ऐतिहासिक अवसर का जैन लाभ ले सकेंगे कि नहीं? यदि ले सकें तो मुझे इसमें सन्देह नहीं कि एक जबर्दस्त शक्ति के वह सूत्रधार हो सकते हैं, जिसका जगत् के भविष्य के निर्माण पर गहरा प्रभाव होगा।

मुनाफ़े की वृत्ति

इंग्लैण्ड की लेबर-सरकार के खिलाफ बोलते हुए श्री चर्चिल ने कहा कि 'मुनाफ़े को क्या अपराध समझा जायगा? मुनाफ़े को ग़लत ठहराकर देश के उद्योग-धन्धों में जान नहीं डाली जा सकती।'

चर्चिल तो अनुदार हैं। पिछले दिनों के हैं और कुम्हलाये हुए हैं। उनकी बात हम टाल दें। लेकिन इंग्लैण्ड ने अभी अमरीका से जो भारी रकम उधार में पाई है उसके बारे में वहाँ के अधिकारी मन्त्री डा० डाल्टन का कहना है कि 'सबकी खातिर इंग्लैण्ड ने लड़ाई में जो सहा और झोंका उसके इनाम में यह कर्ज़ का भारी बोझ ही उसे मिला है। अजब यह इनाम है और इतिहास वाले इसका फ़ैसला देंगे। तीन महीने की गहरी बहस और सौदे की कसाकसी के बाद कहीं मामला तय पाया है। हमने पहले चाहा कि बिना सूद कर्ज़ की यह सहायता मिल जाय। पर बताया गया कि व्यवहार कहीं ऐसे होता है। बात कई-कई बार तो टूटने को हो आई। अब भी कई शर्तें हैं जो हमने आसानी से और मन से नहीं मान लीं। पर फिर भी आप इसे पास कर दें। नहीं तो बताएँ, दूसरी राह क्या है?'

डा० डाल्टन की बोली से साफ है कि महाजन को महाजन से पाला पड़ा है और मुनाफ़े की वृत्ति दुनिया में मौजूद है। राष्ट्र के भीतर सामाजिक श्रेणियों का जहाँ तक सवाल है, शायद

यह मान लिया गया है कि धीमे-धीमे करके बड़े-बड़े उद्योग उद्योगपतियों के पास से सरकार के हाथ आ जाने चाहिएँ। लगभग सब, जो आज़ाद हैं, उन देशों में इसी दिशा में योजनाएँ बढ़ रही हैं। अपनी कांग्रेस की वर्किंग कमेटी से निकली चुनाव-घोषणा में भी यह साफ़ किया गया है। सब देशों की अर्थ-नीति राज्य के और प्रजा के बीच में से उद्योगपति और पूँजीपति को घटा देने के पक्ष में है। इस तरह श्रम और पूँजी का विरोध और विग्रह उत्पादन में बाधक न हुआ करेगा। मानो सब कहीं यह स्वीकृत है कि शासन शासित के अनुसार होगा और राज्य प्रजा के प्रति उत्तरदायी होगा।

इस स्वीकृति के नीचे हर सरकार की अर्थ-नीति अपने भीतर परस्पर सहयोग और समभाव बढ़ाते हुए शोषण को, यानी निजी मुनाफ़े की सम्भावना को घटाते-घटाते ख़त्म करने की ओर है।

लेकिन अर्थ-नीति से आगे राजनीति में स्वार्थ की बढ़ाबढ़ी को और एक-दूसरे से मुनाफ़ा उठाने की भावना को मानो ग़लत नहीं समझा जाता है। एक राज्य के अन्तर्गत समाज के विविध अंग एक-दूसरे को सतायें और दबायें नहीं, यहाँ तक तो ठीक है। लेकिन एक जाति दूसरी को और एक देश दूसरे देश को ज़रूर पराधीन रख सकता है और उससे हर तरह का फ़ायदा उठाने की सोच सकता है। तिस पर इसके लिए वह सभ्य और उन्नत भी समझा जा सकता है।

पूँजीवाद का आरम्भ स्वतन्त्र व्यवसाय से हुआ। वह व्यवसाय अब व्यक्ति के लिए स्वतन्त्र नहीं छोड़ा जा रहा है। न वह अब व्यक्तिगत गिरोहों के लिए स्वतन्त्र रहता जा रहा है। राज्य और व्यवसाय, ये दो काम अब इतने पास-पास आते जा रहे हैं कि मानो वे दो एक ही हो जायेंगे। 'एकॉनोमिक्स' और 'पॉलिटिक्स'—अर्थ-प्रकरण और राजप्रकरण ये दो रहेंगे ही नहीं। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी में से जैसे यहाँ की ब्रिटिश सरकार बन खड़ी हुई उसी तरह आज की सरकारें, प्रतिस्पर्दा के चक्र में, व्यावसायिक स्वार्थ-संघ का रूप लिए

बिना नहीं रह सकतीं ।

'नेशनलाईज़ेशन' अन्दरूनी समस्या के लिए अच्छा इलाज जान पड़ता हो, लेकिन पूँजीवाद के विष की समाप्ति वहाँ नहीं हो जाती । हो सकता है कि इस तरह एक नये रोग 'स्टेट केपीटलिज़्म' (राज्यकीय पूँजीवाद) को जन्म मिल रहा हो ।

मुझे कुछ ऐसा ही डर है । पिछली लड़ाई में फौजें ही नहीं लड़ीं, दूसरी श्रेणियाँ भी अपने रूप में लड़ीं । नागरिक एकाएक उसमें लगे और काम आये । यह 'टोटल वार' थी । युद्ध अब 'टोटल' अर्थात् सर्वव्यापी तत्त्व हो गया है । एक युद्ध को पैदा करने और लड़ने में राष्ट्र को अब बरसों-बरस अपनी समूची शक्तियों का 'अखंड योग' देना आवश्यक है ।

इस तरह जब तक युद्ध है यह किसी के वश का काम नहीं है कि वह उससे अलग रहे । उसके योग्य रहने के लिए यह ज़रूरी है कि राष्ट्र को एक छावनी की तरह तैयार और तैनात रक्खा जाय । एक देश उस रास्ते पर हो तो दूसरे किसी के उससे बचने का मौक़ा नहीं है । इसलिए जाने-अनजाने हर देश की सरकार को 'टोटल' होने की तरफ बढ़ना पड़ रहा है ।

ये अच्छे आसार नहीं हैं । जिसे लड़ने के लिए ट्रेन किया जाता हो उस सिपाही को आगे-पीछे लड़ाई देनी ही होगी । उसी तरह जिस मुल्क को धड़ाधड़ माल पैदा करके उसे बाहर भेजकर मुनाफ़ा उठाने को तैयार किया जायगा, उसे भी उपनिवेश और मण्डी देनी ही पड़ेगी । जब तक एक से अधिक क़ौमें और उतनी सरकारें हैं, और उनमें आपस में व्यवसाय की और प्रभुता की दौड़ है, तब तक यह हो ही नहीं सकता कि दुनिया के एक भोले भाग को उनके लिए खपत की मण्डी बनाये रखने की कोशिश न हो ।

आज दुर्भाग्य तो यही है कि पिछली लड़ाई की वजह से भोला कोई नहीं रह गया है, न रंग का आतंक ही किसी पर बाकी है । चुप

रहने की आदत भी मिटती जा रही है। इस तरह मुनाफा उठाने की नीयत को जैसे सामाजिक श्रेणियों के बीच से खतम करने की बात सोची जाती है, तो उसी तरह एक देश और दूसरे देश के बीच में भी उस नीयत को किसी तरह जायज नहीं ठहराना होगा।

पर यह कैसे हो? कैसे हो कि शक्ति के हाथ में ही न्याय न रहे?

उपाय यही है कि मानवता का अन्तःकरण अधिकाधिक जागे और वह किसी सामाजिक या राजकीय हिंसा को स्वीकार करने से इनकार कर दे। इसी तरह तमाम दुनिया की एक (अहिंसक) व्यवस्था होने का स्वप्न सच होने के निकट आयगा।

पदार्थ और परमात्मा

इस विषय पर लिखने की गलती मैं न करता। पर जवाहरलाल जी अजब शय हैं। दोष उनका है।

दुनिया को सामने रखकर वे लिखते हैं। सामने हिन्दुस्तान है तो भी उसके पार दुनिया उनकी निगाह में होती है। दुनिया का पिछला इतिहास और अगला इतिहास। वे मानो इस इतिहास की तरफ मुखातिब होकर सोचते हैं।

हिन्दुस्तान के लिए वे जरूरी हैं। हिन्दुस्तान उनके नज़दीक है तो दुनिया के लिए। और दुनिया है—तो किसके लिए? इतिहास के लिए? तो फिर इतिहास किसके लिए? भविष्य—लेकिन भविष्य क्या?

खैर, वे दुनिया की तरफ कहने में अपनी तरफ ही बात कहते हैं। और दुनिया के दिल की भाषा अँग्रेजी है। इसमें अपने साथ बात करने में उन्हें अँग्रेजी में आसानी होती हो तो बेजा बात नहीं।

ऐसे दुनिया को तो उनका सामना मिलता हो और हिन्दुस्तान उनके पीछे रह जाता हो तो असम्भव नहीं है। लेकिन हिन्दुस्तान के लिए मञ्च की बात से आगे उनके मन की बात सुनते रहना भी ज़रूरी है।

इस जेल में अपने प्रति उन्होंने भारत का आविष्कार किया है।

पुस्तक लिखी है The Discovery of India असल में तो वह आत्माविष्कार की कोशिश ही है।

हिन्दुस्तान तो हिन्दुस्तानी के ज़रिये से कुछ ले सकता है। असल जवाहरलाल को पूरी असलियत में पाना इससे उसके लिए मुश्किल है। अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोग अभी गिनती-भर हैं। यह दुर्भाग्य की बात है। जब तक अँग्रेजी के अज्ञान का हिन्दुस्तान का दुर्भाग्य दूर हो, हमें जवाहरलालजी को सीधे नहीं किसी माध्यम से पाकर ही सन्तोष करना होगा।

माध्यम से अर्थ तो आता है, बाक़ी आगे नहीं आता। सिर्फ़ अर्थ तो अनर्थ है। पर अर्थ के आगे जो भाव है, चेतना है, आत्मा है—माध्यम के ज़रिए उसे कैसे पाया जाय? अनुवाद अधिकांश इससे दाँचा होते हैं।

यह जो हो, सवाल पदार्थ और परमात्मा का है। मेरे नहीं, मेरे ख्याल में वह जवाहरलाल जी का है। शब्द-भर मेरे हैं।

कहा कि पुस्तक 'आत्माविष्कार' है। आविष्कार में किन्तु आत्मा मिलती है कि पदार्थ? यह टेढ़ा मसला है।

पदार्थ है कि परमात्मा? है के अर्थ में परमात्मा तो है नहीं। पदार्थ अवश्य है। लेकिन उसका पदार्थत्व क्या? वहीं पदार्थत्व में ही तो परमात्मत्व नहीं है?

हम उस विज्ञान को चाहते हैं जो पदार्थ को चाहे। अध्यात्म जो आत्मा को चाहता है, पदार्थ से बचता है। जी नहीं, विज्ञान जो पदार्थ में जायगा वही हमें शायद आत्म को भी दे देगा।

मालूम होता है कि राजनीति के टोमपन के जवाहरलाल बारीकियों के उतने भी अधिक हैं। हाय रे, उनके साथ चलना नहीं होगा। हैमलेट का भाग्य हैमलेट ही उठा सकता है।.

पर सवाल यह अध्यात्मियों या विज्ञानियों के लिए ही नहीं है; उनके लिए भी है जो इस दुनिया में दिलचस्पी चाहते हैं। जिनके पास

पैसा ज़रूरत से कम नहीं है, उनके पास ज्ञान और संशय और अशांति ज़रूर ज़रूरत से ज्यादा हुआ करती है। ऐसे लोगों को दिलचस्पियों की तलाश रहती है। उन्हें शौक़ चाहिए, जिससे उन शौकों को पूरा करने के निमित्त से तरह-तरह के लोगों को कमाने के तरह-तरह के धन्धे, और करने के लिए तरह-तरह के काम मिलते ही रहें।

आवश्यकता में से आविष्कार होता है। वे नहीं जानते जो आवश्यकताओं का कम करना मानते हैं। वे ज़िन्दगी को घटाते और प्रमाद को बढ़ाते हैं। तन की और मन की आवश्यकताएँ बढ़ेंगी नहीं तो तन निरुद्यमी होगा और मन निष्प्राण बनेगा। इससे फ़ुरसत जो तन को ठहराती और मन को चलाती है, सभ्यता की खास चीज़ है। शैतान उसमें बसता है, तो भगवान् को बसने के लिए भी और जगह नहीं है।

इसलिए पदार्थ और परमात्मा के खाली मन के सवाल को, खाली समय रखने वालों के लिए प्रदर्शनी में सामने लाना और नचाना-कुदाना कोई अयुक्त व्यवहार नहीं है। बड़े दिग्गजों ने यह किया है, और जवाहरलाल किसी से कम दिग्विजयी नहीं हैं।

फिर अखबार निकलते हैं, जिनके विज्ञापनों को छोड़कर बाकी कालम इसी तरह के काम के लिए हैं। राजनीति और राजनीतिकों के सवालों और बयानों की उछल-कूद वहाँ होते रहना ज़रूरी है। और कभी-कभी उससे गहरी बात और विवाद की छायाओं की उछक-फुदक भी वहाँ होते रहना बेजा नहीं है। जिससे लोगों की स्थल पर जीने की बान पके नहीं और सूक्ष्म में उतरने का व्यायाम उन्हें सचेत रखे रहे।

कार्य जो स्थूल है, कारण उसके पीछे सूक्ष्म हो सकता है। बड़ के पेड़ का बड़प्पन उसके छोटे बीज के छुटपन में बन्द हो सकता है। रवी का यह महापिण्ड शून्य की शून्यता पर टिका रह सकता है। ऐसे सूक्ष्म और शून्य व्यर्थ न होकर कौन जाने ज्यादा सार्थक हों।

पर कोई जाने कि न जाने, हम जानते हैं और सब जानते हैं कि पहना, ओढ़ा, बिछाया, खाया, पिया, बरता आदि जो जाता है वह

पदार्थ है। पदार्थ हमें चाहिए और इतनी जरूरी तौर पर चाहिए कि उसके लिए स्वराज देने में एक मिनट की देर करते हुए इंग्लैण्ड को हम क्षमा नहीं कर सकते। जिसके पास अभाव है उसे भरने के लिए पदार्थ चाहिए। अतिशयता है उसे प्रभुता के भोग के लिए पदार्थ चाहिए। कहाँ है वह (जगह या आदमी) जहाँ हाय-हाय नहीं मची है? हाय-हाय पदार्थ की, और'''और पदार्थ की।

लेकिन परमात्मा?

वह नहीं है।

तो ये सब किताबें, और विद्या और विद्वान् और तीर्थ और मन्दिर और आँसू और प्रार्थना और पूजा सब क्यों और किसके लिए है?

छोड़िए, छोड़िए। सब है और सब-कुछ है। लेकिन हमें गम्भीरता नहीं, स्वाद चाहिए। हम लोग पढ़ने वाले हैं, क्योंकि खाये-पिये हुए हैं। इसलिए खुराक एक-दम नहीं चाहिए। सिर्फ चटनी का चटखारा चाहिए।

जी, अच्छा, हम और हमारा सब आसमान और धरती के बीच हरा है। आसमान साफ़ और कोरा है। धरती हरी और मैली है।

इस धरती में टेढ़ी-मेढ़ी जड़ें डालकर आसमान को देखने की कोशिश में तरह-तरह की हरियालियाँ यहाँ दीखती हैं। उनमें एक हरियाली आदमी है। उन हरियालियों के शीर्ष पर फूल खिलते हैं और फल लगते हैं। उनके सिरों पर नाज के झूमर झूल आते हैं और बाली-पत्ते भी लटकते हैं। आसमान की तरफ़ उठकर आते हुए आदमी के शीर्ष पर कविता के छन्द लगते हैं, और कल्पनाओं के सपने लहर आया करते हैं।

कहाँ है आसमान? और क्या है वह? सचमुच कुछ नहीं है। धरती में गुरुत्व का आकर्षण है। और सबको वह अपने में ले खींचती है। फल लगता है तो टूटकर धरती पर आ रहता है। फूल खिलता है तो मुरझाकर धरती पर सो रहता है। आदमी मरता है तो राख में

आ मिलता है। सपने उड़ते हैं तो कागज या पत्थर या मिट्टी पर बिछ रहते हैं। धरती की खींच अमोघ है और उसमें ही सबको जा रहना है।

फिर भी धरती के भीतर से उठकर ऊपर की ओर जाने वाली हरियाली क्या है? और क्यों है? गुरुत्वाकर्षण से ठीक उलटी दिशा में उठने की अनिवार्यता क्यों है?

धरती और आसमान नहीं मिलते। क्षितिज मात्र भ्रम है। धरती जो सत् और आसमान जो केवल अज्ञान और असत् है—दोनों में मेल कैसा? दोनों के बीच असम्भवता की खाई है।

शायद खाई वह है। पर जड़ जिसकी धरती में होकर, हृदय जिसका सूरज की तरफ खुला है उस फूल में क्या धरती और आसमान दोनों का रस नहीं? उस रस में क्या दोनों का ऐक्य नहीं है? और वह आदमी जिसका पैर धरती पर चलता और सिर आसमान में उठता है, क्या दोनों की वर्तमानता, दोनों की सिद्धि और दोनों का समन्वय नहीं?

लेकिन क्या वह पदार्थ है? क्या फिर वह परमात्मा है? किन्तु पाँव सिरको कैसे जानें? और सिर पाँव को क्या बतायें?

दर्शन और उपलब्धि

बहुत पहले की बात है। रावलपिण्डी जाकर पता चला कि साथियों का विचार वहाँ से सीधे कश्मीर जाने का है। मेरे लिए यह नई बात थी, लेकिन औरों से पिछड़कर और हारकर अकेले पड़ जाने की इच्छा न हुई। आखिर तय हुआ कि कश्मीर की राह पकड़ने से पहले पचास-साठ मील दूर के एक गाँव चलकर पड़ाव डालें। वहाँ पाँच-सात रोज ठहरेंगे। फिर जैसा होगा आगे के लिए सोच लेंगे।

गाँव हिमाचल के चरणों में बसा था। यहाँ से चढ़ाई शुरू हो जाती थी। उत्तर की ओर देखो तो एक के बाद एक पर्वत की पाँत के अतिरिक्त कुछ दिखाई न देता था। आसपास पहाड़ियाँ यों छितरी थीं कि तरतीब न थी। उनकी चोटियों पर बड़ी-बड़ी चट्टानें आपस में अजब कोण बनाती हुई स्थिर थीं। ऐसी कि अब गिरीं, अब गिरीं, पर सम्भवतः शताब्दियों से वैसे ही टिकी थीं। उनका भेद समझ न आता था। उनकी भाषा हमें प्राप्त न थी।

गाँव में एक सोत फूटता था जिसका पानी आगे जाकर नदी का रूप ले उठा था। आरम्भ में उसी पर एक कुंड बना था। नाम था, सीता-कुंड। सीताजी वहाँ आई होंगी कि नहीं, यह कौन जाने। पर भारत में क्या कोई ऐसा कोना है जो राम-सीता के नाम से पवित्र न हो। वे समस्त भारत के हैं और कोई ऐसीयाँ के उच्छेदक विद्वान् राम

और सीता की यात्रा के मार्ग को चप्पा-चप्पा तय करके बताने चलें कि शेष स्थानों से उनका सम्पर्क नहीं है, तो यह जानकारी विशेष प्रभाव उत्पन्न न करेगी। यथार्थ राम के पाँव अमुक सीमा के मार्ग पर ही पड़े हों, किन्तु उनकी चरण-रज को भारत के कोने-कोने में फैलने से कोई रोक नहीं सकता। राम अब आत्मा है, और वह भारत के अणु-अणु में व्याप्त हैं। सीता-कुण्ड होने के लिए स्वयं सीता माता को उस कुण्ड तक आने की आवश्यकता यत्किंचित् भी नहीं है। लोगों की श्रद्धा ही इसमें पर्याप्त है। इसी में से स्थान तीर्थ बन सकता है और सामान्य भी महिमायुत हो सकता है।

सवेरा हुआ कि हम लोग पास की एक पहाड़ी की चोटी पर जा पहुँचे। हवा वहाँ की सूक्ष्म होती और हमारी तबियत एकदम हरी हो जाती। मानव-व्यापार का भार छूट रहता और हम सामने की विराट् अपारता में मुग्ध हो रहते। पहाड़ों का अन्त न था और उनकी शोभा का पार न था। धूप उन पर खेल कर भांति-भांति के रंग उपजाती और छाया बादल के साथ आँख-मिचौनी रचकर विचित्र दृश्य उपस्थित करती।

सवेरे यही और शाम भी यही। और कभी दूसरे और तीसरे पहर भी यही। पहाड़ का नया स्वाद था और जीवन की नई-ही-नई छुट्टी थी। जब होता दौड़ते और पहाड़ पर जा पहुँचते। वहाँ जहाँ बस ऊपर आसमान हो आता था और आदमी जहाँ से इतना नीचा लगता था कि हो हो नहीं। हम वहाँ पहुँचकर हठात् दूर की उन बर्फ़ीली चोटियों को देखते जो कभी चाँदी की तो कभी सोने की दीखतीं। उन पर आँख ठहराना मुश्किल होता। संध्या के समय वहाँ नाना वर्ण की आभा खेल उठती और हम पुलक से भर आते।

उस समय हम में से एक गान छेड़ता और हम तन्मय हो जाते। जी होता वहाँ से टलें हो नहीं। उस शुभ्र महिमा के दर्शन पीते ही रहें। पर हाय रे मनुष्य की आवश्यकताएँ! नीचे हमें आना ही पड़ता।

आते और देखते कि रहते हम निम्नपर ही हैं; ऊपर कुछ क्षणों के लिए ही उठ भर जाते हैं। देखते कि रात को तंग कोठरियों में ऊपर कम्बल और रजाई लेकर हम लोग सो रहे हैं। जैसे स्थिति हमारी यही है। मुक्तता तो एक विलास है जो अपवाद की तरह दुर्लभ है। हम पाँच-सात रोज उस गाँव में रहे। सवेरे-शाम नित्य ऊपर जाकर और पर्वत के हिम-मण्डित शिखरों को देखकर चकित और आनन्दित होते, स्पन्दित और मुखरित होते। तब संगीत हममें से फूटता और काव्य और दर्शन। एक विलक्षण आकुलता और विह्वलता हमें अभिभूत कर लेती। जी होता कि बस उसी में हो रहें, किसी भी और करने-धरने से एकदम सरोकार छोड़ दें।

लेकिन देखा कि गाँव को अब पीछे करके हमें यहाँ से आगे बढ़ जाना होगा। काश्मीर पहुँचना है और वह जो स्वप्न-सा शुभ्र है, उज्ज्वल इतना कि अवास्तविक, उसी का प्रत्यक्ष करना है।

स्थान छोड़ते हमें अच्छा नहीं लगा। हममें से आशय मुझे। उस आनन्द से बड़े आनन्द की जैसे मुझे चाह न थी। उसका अभाव न था, आवश्यकता न थी। जो स्वप्न है वह इसी कारण मनोरम और आनन्ददायक है। प्राप्ति में से उसको क्या अधिकता और प्राप्त हो जाएगी पाने में से कहीं उलटे वह खो न जाय। दर्शन है, फिर उससे अलग उपलब्धि क्या? उपलब्धि की फिर माँग भी क्यों?

लेकिन कुछ था जो हमें खींचे लिए जा रहा था। दर्शन में से उपलब्धि की तृष्णा और अनिवार्य हो आई थी। देखा है, उसको पाना भी होगा। न देखते तो कुछ न था, देख लेकर उसे पाए बिना जिया कैसे जाएगा। देखा रूप जाता है, पाने के प्रयास में वह रूप चाहे बिखर ही जाय तो भी उस रूप के स्रोत को पाने के प्रयास से छुट्टी कहाँ है।

अतः कमर से लोई-कम्बल बाँधकर हम लोग बढ़ चले।

किन्तु बढ़ने पर पाया कि सब दर्शन हम से खो गया है। जंगल ही जंगल है। चारों ओर झाड़ हैं, झंखाड़ हैं। पेड़ हैं और पत्थर हैं।

और सीता की यात्रा के मार्ग को चप्पा-चप्पा तय करके बताने चलें कि शेष स्थानों से उनका सम्पर्क नहीं है, तो यह जानकारी विशेष प्रभाव उत्पन्न न करेगी। यथार्थ राम के पाँव अमुक सीमा के मार्ग पर ही पड़े हों, किन्तु उनकी चरण-रज को भारत के कोने-कोने में फैलने से कोई रोक नहीं सकता। राम अब आत्मा है, और वह भारत के अणु-अणु में व्याप्त हैं। सीता-कुण्ड होने के लिए स्वयं सीता माता को उस कुण्ड तक आने की आवश्यकता यत्किंचित् भी नहीं है। लोगों की श्रद्धा ही इसमें पर्याप्त है। इसी में से स्थान तीर्थ बन सकता है और सामान्य भी महिमायुत हो सकता है।

सवेरा हुआ कि हम लोग पास की एक पहाड़ी की चोटी पर जा पहुँचे। हवा वहाँ की सूक्ष्म होती और हमारी तबियत एकदम हरी हो जाती। मानव-व्यापार का भार छूट रहता और हम सामने की विराट् अपारता में मुग्ध हो रहते। पहाड़ों का अन्त न था और उनकी शोभा का पार न था। धूप उन पर खेल कर भांति-भांति के रंग उपजाती और छाया बादल के साथ आँख-मिचौनी रचकर विचित्र दृश्य उपस्थित करती।

सवेरे यही और शाम भी यही। और कभी दूसरे और तीसरे पहर भी यही। पहाड़ का नया स्वाद था और जीवन की नई-ही-नई छुट्टी थी। जब होता दौड़ते और पहाड़ पर जा पहुँचते। वहाँ जहाँ बस ऊपर आसमान हो आता या और आदमी जहाँ से इतना नीचा लगता था कि हो ही नहीं। हम वहाँ पहुँचकर हठात् दूर की उन बर्फ़ीली चोटियों को देखते जो कभी चाँदी की तो कभी सोने की दीखतीं। उन पर आँख ठहराना मुश्किल होता। संध्या के समय वहाँ नाना वर्ण की आभा खेल उठती और हम पुलक से भर आते।

उस समय हम में से एक गान छेड़ता और हम तन्मय हो जाते। जी होता वहाँ से टलें ही नहीं। उस शुभ्र महिमा के दर्शन पीते ही रहें। पर हाय रे मनुष्य की आवश्यकताएँ! नीचे हमें आना ही पड़ता।

आते और देखते कि रहते हम निम्नपर ही हैं; ऊपर कुछ क्षणों के लिए ही उठ भर जाते हैं। देखते कि रात को तंग कोठरियों में ऊपर कम्बल और रजाई लेकर हम लोग सो रहे हैं। जैसे स्थिति हमारी यही है। मुक्तता तो एक विलास है जो अपवाद की तरह दुर्लभ है। हम पाँच-सात रोज उस गाँव में रहे। सवेरे-शाम नित्य ऊपर जाकर और पर्वत के हिम-मण्डित शिखरों को देखकर चकित और आनन्दित होते, स्पन्दित और मुखरित होते। तब संगीत हममें से फूटता और काव्य और दर्शन। एक विलक्षण आकुलता और विह्वलता हमें अभिभूत कर लेती। जी होता कि बस उसी में हो रहें, किसी भी और करने-धरने से एकदम सरोकार छोड़ दें।

लेकिन देखा कि गाँव को अब पीछे करके हमें यहाँ से आगे बढ़ जाना होगा। काश्मीर पहुँचना है और वह जो स्वप्न-सा शुभ्र है, उज्ज्वल इतना कि अवास्तविक, उसी का प्रत्यक्ष करना है।

स्थान छोड़ते हमें अच्छा नहीं लगा। हममें से आशय मुझे। उस आनन्द से बड़े आनन्द की जैसे मुझे चाह न थी। उसका अभाव न था, आवश्यकता न थी। जो स्वप्न है वह इसी कारण मनोरम और आनन्ददायक है। प्राप्ति में से उसको क्या अधिकता और प्राप्त हो जाएगी पाने में से कहीं उल्टे वह खो न जाय। दर्शन है, फिर उसमें अलग उपलब्धि क्या? उपलब्धि की फिर माँग भी क्यों?

लेकिन कुछ था जो हमें खींचे लिए जा रहा था। दर्शन में से उपलब्धि की तृष्णा और अनिवार्य हो आई थी। देखा है, उसको पाना भी होगा। न देखते तो कुछ न था, देख लेकर उसे पाए बिना जिया कैसे जाएगा। देखा रूप जाता है, पाने के प्रयास में वह रूप चाहे बिखर ही जाय तो भी उस रूप के स्रोत को पाने के प्रयास से छुट्टी कहाँ है।

अतः कमर से लोई-कम्बल बाँधकर हम लोग बढ़ चले।

किन्तु बढ़ने पर पाया कि सब दर्शन हम से खो गया है। जंगल ही जंगल है। चारों ओर झाड़ हैं, झंखाड़ हैं। पेड़ हैं और पत्थर हैं। पग-

डण्डी-सी राह चली जा रही है, जिस पर जगह-जगह से और राहें फटी दीखती हैं। मुक्तता नहीं है, प्रशस्तता नहीं है। विस्तृति नहीं है, बल्कि सब कहीं संकीर्णता है। आस-पास अवरोध है और बन्धन है। सफेद होकर जो बर्फ धूप से झकझका कर आँखों को चकाचौंध के विस्मय से विस्मित कर देता था—वह कहीं नहीं है। जैसे वह केवल माया दृश्य था। मानो वह शुद्ध मिथ्या ही था। अब तो चहुँ ओर कटीले झाड़ हैं और नुकीले पेड़। चारों ओर बाधाएँ ही हैं और अवरोध और बन्धन। जैसे इनसे अतीत होकर किसी और तत्व की स्थिति ही नहीं है।

फिर भी हम बढ़े जा रहे हैं। कहाँ? किधर? क्यों? कभी-कभी तो जैसे इन प्रश्नों का उत्तर भीतर अनुपस्थित हो जाता है। कमर से सामान बँधा है और हम पैदल चल रहे हैं। सड़क पर सवारियाँ जाती हैं और हम पाँव-पाँव चलने वाले राह बचाने के लोभ में जहाँ होता है पगडण्डी का सहारा थाम लेते हैं। कई बार हो गया है कि पगडण्डी ने हमें अँधेरे में ला छोड़ा है। वहाँ से आगे राह सूझने का कोई उपाय नहीं रहा है। तब मार्ग की निबिड़ता में यात्रा का लक्ष्य जैसे हमसे खो गया है। ऊपर या सामने दीखने को कुछ नहीं रहा है, सिर्फ झाड़-झंखाड़ की निबिड़ता ही उपस्थित रही है।

उस समय हमने क्या किया है? निस्तार पाने के लिए, राह पाने के लिए, हमें क्या सूझा है? जानकर आप को विस्मय होगा कि उस समय चारों ओर की तरफ से हमने आँखें बन्द कर ली हैं। जो-जो कुछ दीखने के लिए हमारे चारों ओर हठात् घिर आया है, आँखें बन्द करके इच्छापूर्वक हमने उसका इनकार किया है। सब तरफ घना जंगल है। आँख मूँदकर हमने कोशिश की है कि उसको नहीं वर दें। उस समय पलकों में आँखों को कस के मीचकर हमने उसको देख लेना चाहा है जो आसपास किसी प्रयत्न से नहीं दीखता, वही शुभ्र धवल-सौन्दर्य जो नहीं मालूम कहाँ है, है भी कि नहीं—पर जो अवश्य इन्हीं आँखों के

स्वप्नों में एक रोज़ हो मूमा या उस दर्शन को आँख बन्द कर हमने अपने अन्दर जगाया है और वहीं से अपने कदमों को चलाने के लिए दिशा प्राप्त की है। राह बाहर कहीं नहीं है, चहुँ ओर सघन अटवी है फिर भी अवरोधों से लड़ते-झगड़ते किसी एक मन-चीती दिशा को पकड़कर हम बढ़ते ही चले गए हैं। विपत्ति-पर-विपत्ति आई हैं, सभी असुविधाएँ झेलनी पड़ी हैं। पैर कट गए हैं, वस्त्र फट गए हैं। पर मन सपने में बँधा स्वस्थ रहा है और हम रुके नहीं हैं, चलते ही गए हैं।

ऐसे लम्बी राह का भी आखिर पार आया है।

पाँव-पाँव चलकर भी राह नप ही गई है और हम काश्मीर पहुँचे हैं। काश्मीर से आगे वहाँ भी पहुँचे हैं जहाँ बारहों मास बर्फ रहती है। उन चोटियों पर गेले हैं जिनकी झकझकाहट आँखों को बन्द कर देती रही है?

कहना मुश्किल है कि हिमालय की तलहटी से देखी गई उन बर्फीली चोटियों की नाना-वर्ण आभा के दर्शन का सौन्दर्य कम था। लेकिन स्वयं उन शिखरों के विहरण के आनन्द से अवश्य ही वह दूसरे प्रकार का था। शायद उस अन्तर में वह सब कष्ट और प्रयास समाकर सार्थक हो सकता है, जो वहाँ तक की मंजिल पूरी करने में हमें भुगतना पड़ा।

तब से मानता हूँ कि दर्शन में जो दूरी है वह कितने भी बड़े सौन्दर्य का कारण हो, उपलब्धि में वह बाधा ही है। दर्शन इस तरह अयथार्थ है, यद्यपि वही है जो यथार्थ की ओर की यात्रा में मनुष्य का सम्बल हो सकता है।

है, तो—?

इस लिहाज़ से उचित मालूम होता है कि हम स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी बहस न उठाया करें। क्योंकि तब पुरुष उस प्रश्न को पुरुष की आँखों से देखेंगे, और स्त्री अपनी आँखों से देखेगी। और चूँकि वे दो हैं, इससे दृष्टियाँ भी दो हैं, दृष्टिकोण भी दो हैं। सो पत्त पड़े बिना न रहेंगे और तनाव हो जायगा।

होना यह चाहिए कि प्रश्न को सामान्य नहीं, विशिष्ट बनाकर देखा जाय। स्त्री-पुरुष के सामान्य प्रश्न का निपटारा करने कौन आयेगा? उसके लिए तो किसी द्वन्द्वातीत महाव्यक्ति की आवश्यकता होगी। ऐसा व्यक्ति, देहधारी, कठिनाई से ही मिल सकेगा। क्योंकि जहाँ देह है वहाँ लिंग-आदि भी हैं। पर सामान्य से विशिष्ट पर आ जावें, तो कमला और कमलकुमार के बीच का झगड़ा ऐसा हर-कोई आदमी खूबसूरती से निपटा सकता है जिसके लिए कमला और कमलकुमार दोनों एक-से पास या एक सरीखे दूर हैं। वह व्यक्ति सर्वथा मोह-मुक्त हो, इस दावे की ज़रूरत ही नहीं है। उस ख़ास केस में वह मोह नहीं रखता हो, इतना ही काफ़ी है।

इसी प्रकार हम समाज में चला करते हैं। हम सभी अपूर्ण हैं। फिर भी एक-दूसरे के काम में आने के लिए परस्पर विश्वास और अधिकार का प्रयोग कर लेते हैं। ऐसे ही समाज की मर्यादाएँ बनती हैं और आवश्यकताएँ पूरी होती हैं।

असल में स्त्री और पुरुष का प्रश्न केवल स्त्री और केवल पुरुष के प्रश्न के तौर पर कभी सामने नहीं आता। वह तो कृत्रिम प्रश्न है और वाद-विवाद या बैठक-अधिवेशनों में ही उठाया जाता है। यह आशय नहीं कि खेल-विचार में या सभा-समितियों में उसका उठाना एकदम बेकार है, या कि छल है। पर यह खूब अच्छी तरह जान लेना चाहिए कि सार्वजनिक प्रश्न जब तक व्यक्तिगत रूप में पकड़ में नहीं आता तब तक उसकी सार्वजनिकता सच्ची नहीं है। कमला या कमलकुमार

और विमला या कमलकुमार की अपनी कठिनाइयों को जो सार्वजनिक निर्णय नहीं छूता है, उसकी सार्वजनीनता संदिग्ध है।

आज इस सम्बन्ध में चलने वाले आन्दोलनों की आलोचना यही है। वे व्यक्ति तक आकर शून्य हो जाते हैं। ऊपर-ऊपर तो उनमें बहुत अर्थ रहता है और बहुत तर्क रहता है और बहुत अनिवार्यता-सी भी रहती मालूम होती है, पर तत्काल में और असल में उनसे विशेष सहायता नहीं मिलती। प्रस्ताव तो गम्भीर और सुन्दर पढ़ा जाता है, पर उसके सहारे जीवन एक का भी सुन्दर और गम्भीर बनने में नहीं आता। इससे स्त्री-पुरुष के प्रश्न को अति-सामान्य बनाकर देखने की आवश्यकता नहीं है। वैसा करने से स्त्रियाँ अपने स्त्रीत्व को लेकर चेतेंगी, जिसके जवाब में पुरुषों में अहंता जागेगी। इससे फिर स्त्री लिङ्ग उठेगी और परिणामतः पुरुष और हठीला होगा। फिर स्त्री चुनौती पर ही आ तुलेगी। इस तरह कोरी बदाबदी और तेज़ातेज़ी पैदा होगी और चक्कर चकरीला बनकर रह जायगा।

सच बात यह है कि पुरुष पूर्ण नहीं है, स्त्री भी पूर्ण नहीं है। कोई एक अकेला नहीं रह सकता। सृष्टि का नियम ही यह है। सहयोग अनिवार्य है और सम्पर्क भी अनिवार्य है। सम्पर्क तजकर एकाकी बने रहने की सीख आदिकाल से दी जाती रही है। अब भी वह बन्द नहीं है। पर उससे जो उपकार हुआ, सो तो कौन जानता है? अपकार हुआ, वह स्पष्ट है। वह सीख चली नहीं, चल भी नहीं सकेगी। सम्पर्क अनिवार्य है और जंगल में भागकर भी मन में चलने वाली तस्वीरों को और सपनों को खतम नहीं किया जा सकता। अपने से आदमी कहाँ भागेगा? और स्थूल सम्पर्क ही सब-कुछ नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म खुद स्थूल को अनिवार्य बनाता है।

इससे ब्रह्मचर्य का उपदेश तो समाधान के लिए काफी नहीं। वह व्यक्तिगत साधना का इष्ट तो बन सकता है, लेकिन सीधे समाज की मन को वह नहीं सुलझाता। और अगर कहीं ब्रह्मचर्य की

असामाजिक रूप पकड़ गई, जैसा कि हुआ है और होता है, तब तो उससे उलझन उल्टे बढ़ ही जायगी।

स्त्री-देह के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना के आधार पर ब्रह्मचर्य को पुष्ट बनाने की कोशिश की गई है। कवियों ने गर्हणीय विशेषणों को ढूँढ-ढूँढकर इस प्रसंग में प्रयोग किया है। लेकिन उससे अनर्थ ही हुआ है, ब्रह्मचर्य का हित उससे किञ्चित् भी नहीं हुआ। घृणा के आधार पर कभी कोई इष्ट-साधन हो सका है? जिस चरित्र की दृढ़ता के मूल में घृणा और द्वेष-जैसा कोई प्रतिक्रियात्मक भाव है, वह दृढ़ता ही नहीं है; वह आडम्बर है और एक दिन उसको ढह रहना है।

ऐसी सब शिक्षा जो पुरुष में स्त्री के लिए और स्त्री में पुरुष के लिए हीनता की भावना पैदा करती है, त्याज्य है; पुरानी पुस्तकों में हो, चाहे वह आधुनिक किताबों में हो। परस्पर हीन-भाव रखना विघातक ही हो सकता है, विधायक नहीं हो सकता है, घृणा घृणा को जन्म देगी और हीन-भावना हीनता को बढ़ाएगी।

पर सच यह है कि प्रेम अनिवार्य है तो युद्ध भी अनिवार्य है। प्रेम में युद्ध गर्भित है और हमारा समाज का संगठन इस आधार पर खड़ा हुआ है कि हम प्रेम के प्रेम-तत्त्व को तो सुरक्षित रख सकें, पर उसके साथ चलने वाले स्वत्व और ईर्ष्या आदि भावों के अनिष्ट से यथा-सम्भव बच सकें।

मानव-समाज ने आदि-दिन से इस दिशा में परीक्षण किए हैं। स्वभाव-प्राप्त प्रवृत्तियों को व्यक्ति कैसे तृप्त करता चले कि वे समाज-साधन में उपयोगी हों और आपाधापी न बढ़े? इस प्रश्न के समाधान में ही मनुष्य-जाति के पुरुषार्थ और प्रयत्न का मार्ग बनता रहा है। आज दिन जो सामाजिक संस्थाएँ हमारे पास हैं, मानव-जाति के इसी अध्यवसाय की वे फलस्वरूप हैं। इसी हेतु विवाह है, परिवार है, संपत्ति और मान सम्मान आदिक भावनाएँ हैं।

प्रेम और मैथुन में अन्तर है। मैथुन प्रकृतिगत है, पर प्रेम में वेदना

है। मैथुन देहज है, प्रेम उत्तरोत्तर देहातीत। प्रेम में सहने की सामर्थ्य चाहिए। वह आयास-साध्य है। मैथुन तृप्ति-रूप है, प्रेम अभाव-रूप है।

समस्या तृप्ति के प्रश्न पर ही आकर खड़ी होती है। लिप्सा तृप्ति माँगती है। जहाँ लिप्सा है और तृप्ति की माँग है, वहाँ झगड़ा आगे ही खड़ा है।

मानव-विकास की साधना यह है कि प्रेम में पीड़ा अधिकाधिक सही जाय, और लिप्सा कम-से-कम रह जाय। अर्थात् प्रेम के साथ तृप्ति का प्रश्न तनिक भी जुड़ा न रहे। प्रेम का हक मनुष्य का कोई नहीं छीन सकता। ऐसा हक धर्म होता है। पर तृप्ति माँगने का उसका हक नहीं है। तृप्ति के प्रश्न में समाज का दखल आता है। समाज-धर्म को निबाहकर ही व्यक्ति तृप्ति चाहे तो पा सकेगा, अन्यथा नहीं।

इस भाँति आरम्भ से व्यक्ति और समाज में खींचतान चली आ रही है। अपनी वृत्तियों को लेकर ही व्यक्ति चलता है, लेकिन समाज में होकर उन वृत्तियों को खुली परितृप्ति मिल नहीं सकती। तब क्या हो? संघर्ष तो अनिवार्य हो है पर प्रश्न है कि संघर्ष का निपटारा क्या हो?

व्यक्ति प्रेम करता है और उस प्रेम में अमुक को पा लेना चाहता है। मानिए कि कमला कमलकुमार को पाना चाहती है। लेकिन विमलकुमार विमला को चाहता है, और विमला उधर कमलकुमार को चाहती है। ऐसा होता देखा जाता है। शायद सदा ही ऐसा होता है। प्रेम की गति निराली है। जाने वह किस नियम से चलता है!

अब प्रश्न यह होता है कि मनमानी गति से चलने वाले स्वप्न-भावनापूर्ण उस प्रेम को लेकर समाज क्या करे? विमला, कमला या विमलकुमार और कमलकुमार में से किसी एक के भी मन की हो सके तो स्पष्ट है कि उसमें किसी दूसरे का मन अवश्य टूटेगा। समाज किस एक की रक्षा में किस दूसरे की बलि दे? प्रेमराज प्रेमी को न चाहे तो

असामाजिक रूप पकड़ गई, जैसा कि हुआ है और होता है, तब तो उससे उलझन उलटे बढ़ ही जायगी।

स्त्री-देह के प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना के आधार पर ब्रह्मचर्य को पुष्ट बनाने की कोशिश की गई है। कवियों ने गर्हणीय विशेषणों को ढूँढ-ढूँढकर इस प्रसंग में प्रयोग किया है। लेकिन उससे अनर्थ ही हुआ है, ब्रह्मचर्य का हित उससे किञ्चित् भी नहीं हुआ। घृणा के आधार पर कभी कोई इष्ट-साधन हो सका है ? जिस चरित्र की दृढ़ता के मूल में घृणा और द्वेष-जैसा कोई प्रतिक्रियात्मक भाव है, वह दृढ़ता ही नहीं है; वह आडम्बर है और एक दिन उसको ढह रहना है।

ऐसी सब शिक्षा जो पुरुष में स्त्री के लिए और स्त्री में पुरुष के लिए हीनता की भावना पैदा करती है, त्याज्य है; पुरानी पुस्तकों में हो, चाहे वह आधुनिक किताबों में हो। परस्पर हीन-भाव रखना विघातक ही हो सकता है, विधायक नहीं हो सकता है, घृणा घृणा को जन्म देगी और हीन-भावना हीनता को बढ़ाएगी।

पर सच यह है कि प्रेम अनिवार्य है तो युद्ध भी अनिवार्य है। प्रेम में युद्ध गर्भित है और हमारा समाज का संगठन इस आधार पर खड़ा हुआ है कि हम प्रेम के प्रेम-तत्त्व को तो सुरक्षित रख सकें, पर उसके साथ चलने वाले स्वत्व और ईर्ष्या आदि भावों के अनिष्ट से यथा-सम्भव बच सकें।

मानव-समाज ने आदि-दिन से इस दिशा में परीक्षण किए हैं। स्वभाव-प्राप्त प्रवृत्तियों को व्यक्ति कैसे तृप्त करता चले कि वे समाज-साधन में उपयोगी हों और आपाधापी न बढ़े ? इस प्रश्न के समाधान में ही मनुष्य-जाति के पुरुषार्थ और प्रयत्न का मार्ग बनता रहा है। आज दिन जो सामाजिक संस्थाएँ हमारे पास हैं, मानव-जाति के इसी अध्यवसाय की वे फलस्वरूप हैं। इसी हेतु विवाह है, परिवार है, संपत्ति और मान सम्मान आदिक भावनाएँ हैं।

प्रेम और मैथुन में अन्तर है। मैथुन प्रकृतिगत है, पर प्रेम में चेतना

है। मैथुन देहज है, प्रेम उत्तरोत्तर देहातीत। प्रेम में सहने की सामर्थ्य चाहिए। वह व्यायाम-साध्य है। मैथुन तृप्ति-रूप है, प्रेम अभाव-रूप है।

समस्या तृप्ति के प्रश्न पर ही आकर खड़ी होती है। लिप्सा तृप्ति माँगती है। जहाँ लिप्सा है और तृप्ति की माँग है, वहाँ झगड़ा आगे ही खड़ा है।

मानव-विकास की साधना यह है कि प्रेम में पीड़ा अधिकाधिक सही जाय, और लिप्सा कम-से-कम रह जाय। अर्थात् प्रेम के साथ तृप्ति का प्रश्न तनिक भी जुड़ा न रहे। प्रेम का हक मनुष्य का कोई नहीं छीन सकता। ऐसा हक धर्म होता है। पर तृप्ति माँगने का उसका हक नहीं है। तृप्ति के प्रश्न में समाज का दखल आता है। समाज-धर्म को निबाहकर ही व्यक्ति तृप्ति चाहे तो पा सकेगा, अन्यथा नहीं।

इस भाँति आरम्भ से व्यक्ति और समाज में खींचतान चली आ रही है। अपनी वृत्तियों को लेकर ही व्यक्ति चलता है, लेकिन समाज में होकर उन वृत्तियों को खुली परितृप्ति मिल नहीं सकती। तब क्या हो? संघर्ष तो अनिवार्य ही है पर प्रश्न है कि संघर्ष का निपटारा क्या हो?

व्यक्ति प्रेम करता है और उस प्रेम में अमुक को पा लेना चाहता है। मानिए कि कमला कमलकुमार को पाना चाहती है। लेकिन विमलकुमार विमला को चाहता है, और विमला उधर कमलकुमार को चाहती है। ऐसा होता देखा जाता है। शायद सदा ही ऐसा होता है। प्रेम की गति निराली है। जाने वह किस नियम से चलता है!

अब प्रश्न यह होता है कि मनमानी गति से चलने वाले स्वच्छ-भावनापूर्ण इस प्रेम को लेकर समाज क्या करे? विमला, कमला या विमलकुमार और कमलकुमार में से किसी एक के भी मन की हो सके तो स्पष्ट है कि उससे किसी दूसरे का मन अवश्य टूटेगा। समाज किस एक की रक्षा में किस दूसरे की बलि दे? प्रेमपात्र प्रेमी को न चाहे तो

क्या हो ?

फिर ऐसा प्रेम कोई स्थिर तत्व भी नहीं होता। उसका आधार रहता है। तब समस्या और भी विषम हो जाती है।

हम देखें कि इस प्रेम में चाह विद्यमान है। जहाँ पीड़ा की स्वीकृति के अतिरिक्त कुछ माँग भी है, कामना है, तो उस प्रेम में लिप्सा है। वहाँ ईर्ष्या आ जाती है, जिसकी पूँछ में कलह बँधी रहती है।

पर प्रेम जब कि धर्म है, लिप्सा अधर्म है। प्रेम सामाजिक है। उससे सहानुभूति का विस्तार होता है। लेकिन लिप्सा असामाजिक है। उससे छीन-झपट बढ़ती है और 'मैं-तू' की भावना पैदा होती है।

सो लिप्सा जहाँ आई वहाँ बीच में समाज को दखल देने का हक भी आ हो गया।

समाज-नीति उसी हक के आधार पर खड़ी है। सदाचार की संस्था उसी निमित्त निर्मित है।

जातियों और मुल्कों में अलग-अलग मान्यताएँ हो सकती हैं। कहीं सदाचार की धारणा बहुत सँकरी है। कहीं वह बहुत हलकी है। कहीं विवाह किसी तरह का है। दूसरी जगह और ही तरह का है। एक जगह जो सम्बन्ध व्यभिचार समझा जायगा, दूसरी जगह वही धर्माचार समझा जाता है।

ये भेद हो सकते हैं। लेकिन एक बात सब जगह है। दण्ड का विधान सब समाजों में है और व्यक्ति को मनमानी करने का हक कहीं नहीं है।

इस स्थिति को किसी प्रकार भी समझा जाय और कोई भी भाषा उसे दी जाय, यह स्पष्ट है कि व्यक्ति की लिप्सा उसी हद तक तृप्त हो सकेगी जहाँ तक कि उस समाज की सहन-शक्ति होगी। यानी, जहाँ कि उस समाज की ओर से (दण्ड-विधान की) सीमा खिंची होगी। जितनी समाज की शक्ति बढ़ती जायगी, उतनी ही व्यक्ति की लिप्सा (स्वार्थ) को कम होना पड़ेगा। उन्नत समाज में व्यक्ति संयत होगा। इसी

भाँति उन्नत व्यक्ति वह समझा जायगा जिससे समाज नष्ट नहीं, पुष्ट होता है।

इस लिहाज़ से व्यक्ति की उन्नति इसमें है कि वह स्वयं अपनी इच्छाओं पर विजय पाता चले, क्योंकि इसी में समाज की उन्नति भी है। व्यक्ति की आपाधापी समाज के संगठन-सूत्रों को कमज़ोर करती है और उस व्यक्ति को भी अन्ततः असहिष्णु बनाकर जीर्ण कर डालती है।

स्त्री-पुरुष के जिस सम्बन्ध के बारे में उलझनें उपस्थित होती हैं, वह है दाम्पत्य-सम्बन्ध। प्रश्न यों और रिश्तों में भी उठते हैं। पर पेचीदगी उसी सम्बन्ध के बारे में अधिक अनुभव की जाती है। क्योंकि कर्त्तव्य से हटकर उस सम्बन्ध को भोग और स्वत्वाधिकार पर भी आश्रित समझा जाता है।

एक नई भाषा चल पड़ी है जिसमें कि प्रेम और विवाह को परस्पर-विरोधी देखा जाता है। लोग उसमें प्रेम की छूट चाहते हैं और यहाँ तक कि विवाह को समाप्त कर देना चाहते हैं। विवाह को वे अनिष्ट मानते हैं और कहते हैं कि समाज में सुविधा उससे पैदा नहीं होती है; बल्कि क्लेश बढ़ता है, रोग बढ़ते हैं और अतृप्ति भीतर दबी रहने के कारण व्यक्ति और समाज के जीवन में तरह-तरह की विषमताएँ पैदा हो जाती हैं। सम्भोग एक स्वाभाविक कृत्य है और रोक-थाम की उस पर आवश्यकता नहीं है। विवाह अगर समाज के लिए आवश्यक हो भी तो वह इतना सुलभ और सस्ता हो जाना चाहिए कि नहीं के बराबर। विवाह कर लिया तो अच्छा। पर जब उससे अरुचि हो तो उस विवाह को तोड़कर दूसरा विवाह झटपट क्यों न हो जाय? इससे खुशी कायम रहेगी और तन्दुरुस्ती क़ायम रहेगी।

पश्चिम का समाज शायद इस दिशा में हिन्दुस्तान के समाज से कुछ आगे है। वहाँ विवाह अटूट तो है ही नहीं, बल्कि काफ़ी सटूट है। वहाँ सम्भोग के प्रति भी उदार भावना है।

उदारता तो समझ में आती है। पर व्यक्ति के लिए यह मनमाने-

पन का मौका उस अवस्था से पहले तो शायद अनिष्ट ही करेगा जब तक कि व्यक्ति पूरी तरह समाज-हित में मिल नहीं जाता; यानी लिप्सा का शिकार होने से बच नहीं जाता। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति जब तक अपनी प्रकृति में समाजधर्मी नहीं हो जाता तब तक दाम्पत्य समाज के दख़ल से बाहर का विषय नहीं हो सकता। और तब कुछ-न-कुछ उसकी विधि और मर्यादा होनी भी ज़रूरी होगी।

असल में वे सब आन्दोलन जो मुख्यता से अधिकार की चेतना को लेकर चलते और चलाए जाते हैं और जिनमें कर्त्तव्य की भावना उतनी ही प्रमुख और सजग नहीं है, वे न्यूनाधिक भोग-मूलक हैं और लिप्सा के आधार पर खड़े हुए हैं।

इस तत्व को पहचान में रखकर परस्पर के व्यवहार में जो संघर्ष और प्रश्न खड़े हों उनका अमुक विशिष्ट परिस्थितियों में जो निपटारा हो, कर लेना चाहिए। नहीं तो सामान्य रूप से स्त्री और पुरुष का प्रश्न छेड़कर उस सम्बन्ध में वाद-विवाद उत्पन्न करके सम्भावना यह हो जाती है कि पति-पत्नी में ही नहीं, भाई और बहन में, माता और पुत्र में, पिता और कन्या में, या किसी कालिज के एक वर्ग के सहपाठी छात्रों और छात्राओं में, समाज के सहकर्मी स्त्री-पुरुष कार्यकर्ताओं में सहयोग की जगह स्पर्द्धा और बदाबदी की भावना होने लग जाय। जहाँ उसके बीज हैं वहाँ विरोध ठना ही रखा समझना चाहिए। हमें इस प्रकार व्यवहार करने की आवश्यकता है कि जिससे स्त्री-पुरुष में अपनी-अपनी भिन्नता की चेतना भड़के नहीं, बल्कि मन्द हो। स्त्री में हम व्यक्तित्व देखें और पुरुष में भी उसी का लिहाज़ रखें। स्त्री का स्त्रीत्व और पुरुष का पुरुषत्व जब कि निस्सन्देह उन दोनों की स्थितियों में कुछ भेद पैदा कर देते हैं, तब उस भेद पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर देकर यह नहीं समझना चाहिए कि इन दोनों में सामान्यता नहीं है या कम है। असल में व्यक्तित्व की दृष्टि से दोनों बिलकुल समान हैं। और जहाँ व्यक्ति की हैसियत है, स्त्री और पुरुष में भेद करना फ़िजूल है।

समाधान की मनोवृत्ति

अभी बरेली में श्री रामनारायण मिश्र मिल गये। वह काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा के वर्तमान संस्थापकों में से हैं। हाल में मद्रास गये थे। वहाँ से हैदराबाद और पंजाब का दौरा करके आ रहे थे। उनसे जो बात-चीत हुई उसमें मालूम हुआ कि हिन्दी का सामना संघर्ष से है, कई ओर से उस पर संकट आया है और हिन्दी वाले सचेत न हुए तो आगे का ठिकाना नहीं है।

पूना-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष श्री सम्पूर्णानन्द का भाषण हर जगह छपा ही है। उससे भी हिन्दी की समस्याओं का और उस पर होने वाले चहुँमुखी प्रहार का आभास मिलता है।

ऐसी हालत में हिन्दुस्तानी का सवाल पीछे पड़ जाता है। हिन्दी को अपनी चिन्ता है, उर्दू को अपना ख़याल है और दोनों का एक-दूसरे पर अविश्वास है। ऐसे में उन दोनों के मेल से बनने वाली हिन्दुस्तानी का पक्ष ओझल हो ही जाना हुआ।

मिश्र जी ने कहा कि पंजाब में हिन्दी-सेवियों के जाने की ज़रूरत है। वहाँ जो प्राईमरी-एजूकेशन के सम्बन्ध में स्थिति बन गई है वह हिन्दी के लिए असह्य है। उसका अर्थ हिन्दी भाषा और संस्कृत के समूल नाश की तैयारी ही समझिए। मिश्र जी ने इसलिए न्योता दिया कि हिन्दी के हितैषी पंजाब में जाकर कुछ अपना समय दें।

साम्प्रदायिक अनबन और वैमनस्य से भाषाओं की एकता—यानी राष्ट्रभाषा का सवाल कुछ पेचीदा बन गया है। अंग्रेज़ी तो परिधि से बाहर है। हिन्दुस्तान की दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में भी कोई अब तो अपना दावा सामने लाती कम दीखती है, निपटारा इसलिए हिन्दी और उर्दू में होना है। हिन्दी और उर्दू के बीच खिंचाव और प्रतिद्वन्द्विता ही इस वजह से है कि वे दोनों एकदम दो भी नहीं हैं और एकदम एक भी नहीं हैं। अधबीच में दोनों अभिन्न हैं, किनारों पर उनका अलग-अलग रंग दीखता है। एक इधर संस्कृत से जुड़ी है, दूसरी उधर फ़ारसी-अरबी से। बीच की धारा जब साम्प्रदायिकता के उभार के कारण उथली होकर सूखी-सी दीखती है तब हिन्दी और उर्दू अलग-अलग हो जातीं और मेरे ख़याल में निर्जीव पड़ जाती हैं, अन्यथा तो हिन्दी आचार्य और उर्दू आलिम को छोड़कर हम-आप जैसे सामान्य लोगों को उनकी दुई कुछ बहुत पता नहीं चलती है। हाट-बाजार में जाकर जिस बोल-चाल से अपना काम हम चलाते हैं उसी को कोई हिन्दी तो दूसरा उर्दू कहकर पहचानता है।

पर बोल-चाल तो साहित्य नहीं है। साहित्य में गहराई होती है। फिर लिखित या मुद्रित होने से साहित्य लिपि-निर्भर भी होता है। उत्तर हिन्दुस्तान की आम बोल-चाल की भाषा यदि एक ही मान ली जाय तो भी लिपियाँ दो हैं। इससे भाषा भी द्विरूप बन जाती है।

असल अड़चन शायद यही है। उर्दू-फ़ारसी के शब्दों को प्रयोग में लाने से हिन्दी वाला कदाचित् न घबराये पर नागरी लिपि से दूसरी लिपि उसे अपनी भाषा के लिए अकल्पनीय जान पड़ेगी। इसी तरह उर्दू की आज की कविता में ठेठ हिन्दी के शब्द चाहे खूबसूरती ही पैदा करते मालूम हों; पर 'ख़त' उन्हें फ़ारसी का जँचेगा। और ख़त दो हैं तब तक भाषा की एकता भी सिद्ध नहीं कही जा सकती।

यह अड़चन कैसे निपटे? अभी तो मालूम होता है कि इसके निपटने का कोई उपाय नहीं है। और उपाय नहीं ही है तब तक हम क्यों न दोनों लिपियों को चलने दें और हर हिन्दुस्तानी बच्चे से आशा करें कि वह दोनों लिपियाँ जानेगा? यह आशा दुराशा नहीं कही जा सकती। आज भी अंग्रेजी भाषा और लिपि हम सीखते ही हैं। अंग्रेजी वाले कोसों दूर की है। उर्दू पड़ोस की है। अंग्रेजी से कहीं अधिक आसानी से उर्दू सीखी जा सकती है। और उर्दू से व्यक्ति अपने भाई-बन्द से अलग नहीं पड़ेगा।—जैसा कि अंग्रेजी से पड़ जाता है। बल्कि उस लिपि को सीख जाने के कारण वह अपने आस-पास के जीवन में और भी घनिष्ट भाव से घुल-मिल सकेगा।

मैंने यहीं मिश्र जी से कहा कि हिन्दी के लेखक की हैसियत से मुझे अपने से दो शिकायतें हैं। एक यह कि मैं संस्कृत नहीं जानता, दूसरी यह कि उर्दू नहीं जानता। और तो और, हिन्दी लिखने की दृष्टि से मैं अनुभव करता हूँ कि उर्दू जानना मेरे हक में संस्कृत न जानने जैसी ही भारी त्रुटि है।

यही उर्दू-लेखकों का हाल है। बल्कि उर्दू वालों का हाल तो बदतर है। वह अपने दायरेमुत में बन्द हैं। औसत हिन्दी वाले को उर्दू का कुछ अता-पता हो भी, उर्दू वाले को हिन्दी का उतना भी परिचय नहीं है। जब कभी किसी उर्दू-लेखक से मिलना हो जाता है तो मुझे अचरज होता है कि वे हिन्दी के काम के बारे में कितने अँधेरे में हैं। हिन्दी वाला भी उर्दू के बारे में कुछ बहुत उजाले में नहीं है।

यही तो कठिनाई है। क्या हिन्दी में साहित्य नहीं है? या उर्दू में फिरका-परस्ती ही है और वहाँ अदब नहीं है? मैं जानता हूँ कि दोनों भाषाओं के साहित्य में अहङ्कार ही नहीं है, बल्कि प्रेम भी है। पर प्रेम मौन होता है, तब अभिमान की गरमागरम प्रखर और मुखर होती है। अंग्रेजी या हिन्दी-उर्दू के रोजाना अखबारों से हम

या उस कान्फ्रेंस के प्रस्तावों की खबर हमें मिलती रहती है, या किसी सरकारी कारनामे की या किसी डिपार्टमेन्टल कार्यवाही की खबर। और हम मन में बिठा लेते हैं कि हिन्दुस्तान में एकता तो कहीं है ही नहीं, झगड़ा-ही-झगड़ा है। हिन्दू और मुस्लिम में झगड़ा है, हिन्दी और उर्दू में झगड़ा है, आदि आदि।

झगड़ा है—क्योंकि झगड़े में किसी का मतलब है। पर हिन्दी वाला तय कर ले कि उसे उर्दू सीख लेनी है और हिन्दी भी नहीं छोड़नी है और उसी तरह उर्दू वाला भी बिना उर्दू छोड़े हिन्दी सीख चले तो मालूम होगा कि मतलब वाले का मतलब ही इससे सध रहा था, असल में हिन्दी और उर्दू में कोई लड़ाई न थी।

हिन्दी-लेखक की हैसियत से हिन्दी का अहित मैं न सहूँगा। उस पर आँच मुझ पर आँच है। हिन्दी गई तो मैं ही डूबा। पर इस बात का मुझे अच्छी तरह विश्वास है कि हिन्दी यदि क़ायम रहेगी तो उनके कारण नहीं, जो उसकी स्वत्व-रक्षा के लिए किसी दूसरी भाषा के विरोध पर कटि-बद्ध दीखते हैं। वह तो उनकी साधना के बल पर क़ायम रहेगी जिन्होंने अपने अन्तस्थ प्रेम का सारा रस निचोड़ कर उसमें रख दिया है। तुलसी, सूर और जायसी पर वह हिन्दी ऐसी खड़ी रहेगी कि डिगेगी नहीं।

अर्थात् भाषा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। साहित्य के साथ भाषा जीती है। साहित्य हित के साथ है। विरोध-भावना को साहित्य में जगह नहीं है। साम्प्रदायिकता में विरोध-भाव आता है, इसलिए उस वृत्ति में साहित्य का नाश है। साहित्य को नष्ट करके भाषा को पुष्ट नहीं किया जा सकता। इसलिए हिन्दी का वह प्रचार और वह पोषण जिसमें कोई संकीर्ण या विरोधी प्रेरणा काम कर रही है, उसका सच्चा प्रचार या सच्चा पोषण नहीं है। मैं उस आधार पर हिन्दी भाषा का विस्तार चाहता हूँ जिस पर कि पड़ौसी मुसलमान को भी मैं कह सकूँ कि 'भाई, आओ हिन्दी सीखो, क्योंकि हिन्दी

सीखना तुम्हारा धर्म है।' जिस आधार पर कि मुसलमान के हिन्दी से विमुख होने की आशा और आशङ्का हो उस आधार पर हिन्दी का हित साधने चलने में उसका अहित साधन होगा—ऐसा मेरा विचार है।

यही खयाल उर्दू वालों के आगे भी मैंने रखा। कुछ दिन पहले यहाँ दिल्ली में एक उर्दू-कान्फ्रेंस हुई थी। मैं वहाँ गया और अनुभव किया कि उर्दू को खड़ा रखने और आगे बढ़ाने में साम्प्रदायिक भावना का काम लिया जा रहा है। गोया मैं हिन्दू हूँ, इसलिए मुझे उर्दू से दूर डाला जा रहा है। कान्फ्रेंस के बाद अपने दोस्त से मैंने कहा कि जहाँ तक मुझ नाचीज़ का ताल्लुक है इस कान्फ्रेंस से उर्दू का नुकसान ही हुआ—यानी मैं उर्दू की तरफ़ राग़िब होते-होते वापिस खिंचने को मजबूर हुआ। और मैं तो उर्दू की तरफ बढ़ने की नीयत से चला था लेकिन कान्फ्रेंस में पहुँचकर मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मुझे यहाँ स्वागत नहीं मिलेगा—अविश्वास मिलेगा। क्या इस तरह आप अपनी उर्दू की तरक्की कर सकेंगे?

दोस्त ने बताया तो कि इसमें मेरी ग़लतफ़हमी है और उर्दू की तहरीक के पीछे फ़िरकेवाराना कोई भाव नहीं है। पर वह बात क्या दलील से बतलाने की थी? वह तो दिल से समझी जाती है।

उर्दू की तरह हिन्दी भी क्या किसी संकीर्ण आवेश का सहारा लेकर अपना कलाम करने तुल पड़ेगी? मुझे आशा करनी चाहिए कि ऐसा न होगा!

यह आवश्यक नहीं है कि असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति के साथ हिन्दी पर, या जिसका प्रतिनिधित्व वह करती है उस संस्कृति पर कोई प्रहार पड़े तो उसका सशक्त और सफल प्रतिकार न किया जा सके। बल्कि सच यह है कि उस निर्वैर वृत्ति से ही रचनात्मक शक्ति पैदा होगी और संकटों का सही जवाब दिया जा सकेगा।

पंजाब का प्रश्न है, रेडियो का प्रश्न है, राष्ट्रभाषा का प्रश्न है,

हिन्दुस्तानी का और लीडरों का प्रश्न है। इन और ऐसे सभी प्रश्नों का हल प्रयत्न-पूर्वक निकालना है। वह हल बुनियादी बातों को भूलने से नहीं; बल्कि उन्हें याद रखने और अमल में लाने के द्वारा ही होगा।

फ़िल्म की सार्वजनीन सम्भावनाएँ

सिनेमा की कई तस्वीरें मैंने देखी हैं, जिनमें कुछ अच्छी लगी हैं, कुछ कम अच्छी और कई रद्दी मालूम हुई हैं। प्रश्न है कि ऐसा क्यों हुआ है; अच्छी जो मालूम हुई हैं, सो क्यों? और रद्दी जिनको कहना पड़ता है, वह किस वास्ते?

इसका उत्तर मेरे लिए एकदम साफ नहीं रहा है। बम्बई में, तस्वीर बनते हुए भी मैंने देखी है। तब मालूम हुआ कि सिनेमा की तस्वीर कोरे विचार में से बनती है। जैसी वह देखने में एक सिलसिलेवार चीज होती है, वैसी बनते समय नहीं होती। उसे जोड़-जोड़कर बनाना होता है। यह उधर चलने की बात है जहाँ पहले रास्ता बना-बनाया नहीं है। सृष्टि इसी को कहते हैं। इसलिए यह काम बहुत मुश्किल है। तस्वीरें हैं जिन्हें बड़ा सोच-समझकर बनाया गया है। बहुत दिमाग उसमें लगे और फूँक-फूँककर कदम आगे रखा गया; बहुत पैसा उसमें लगा और प्रचार-विज्ञापन भी कम नहीं किया। लेकिन तस्वीर नाकाम रही और सब पैसा ले डूबी। सितारे उसमें मशहूर थे, गाने अच्छे गले वालों के थे, नाच भी खासे डाले गए थे, लेकिन तस्वीर उभर न सकी। उधर ऐसी तस्वीरें भी हैं, जिनसे, शुरू में कुछ आस न थी; बनाने वाले खुद मन में उदास थे; लेकिन तस्वीर इस कदर कामयाब रही कि उन्हें अचरज में रह जाना पड़ा!

इसलिए कुछ ऐसा भाव बन गया है कि यह कुछ जूए का दाँव है। सही पड़ा तो क्या कहने, नहीं तो जोखम है। लोगों की तबीयत के बारे में अनुमान लगाकर, सूत्र भी गढ़े गए हैं कि तस्वीर में सितारे सूरत वाले चाहिएँ, नाच इतने और गाने इतने होने चाहिएँ। प्रेमचन्द ने, जिसे सिनेमा की बोली में 'इन्टरटेनमेंट वैल्यू' कहा, यानी हास्य-दृश्य, वह अमुक मात्रा में होने चाहिएँ। तस्वीरें तैयार की जाती हैं, जिनमें इन नुस्खों को काम में लाया जाता है, और अगर वे नहीं चलतीं और वैसा भरपूर नहीं लातीं तो उन नुस्खों की दवाओं में ज़रा कुछ फेरबदल कर दिया जाता है।

हिन्दुस्तान में अकसर तस्वीरों का विचार बाहर से लिया जाता है। जैसे, अमुक सितारे हमारी टोली में हैं तो उनके हिसाब से कहानी गढ़ी जाती है। इस प्रकार अकसर तस्वीर की कहानी आपस में ही, गढ़ ली जाती है, और प्रोड्यूसर-डाइरेक्टर से अलग कथाकार की आवश्यकता नहीं रहती। प्रोड्यूसर पैसे के जोखम की दृष्टि से और डायरेक्टर तात्कालिक मर्यादाओं की दृष्टि से चलता है। इस तरह अर्थ और साधन की, यानी टैकनीक की मर्यादाओं के अधीन, चित्र के अर्थ को रहना होता है। विलायतों में सिनेमा साधन है और यद्यपि उसकी मर्यादाएँ हैं फिर भी वे उद्देश्य पर नहीं आतीं। साधन अधिकांश वहाँ साध्य के अधीन है। यहाँ अभी साध्य की उतनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा नहीं है। उसे साधन के अधीन रहना पड़ रहा है। वहाँ की बहुत अधिक तस्वीरें ग्रन्थों का आधार लेती हैं, जो सिनेमा की दृष्टि से नहीं लिखे गए होते। उनमें मर्मानुभूति थी, इसलिए पर्दे पर आई तो वह कथा वहाँ भी कामयाब रही। चित्र बनाने में मूलकथा पर वहाँ उतना आरोप नहीं लाया जाता। यहाँ अव्वल तो, उधर देखना आवश्यक नहीं समझा जाता, फिर किसी ग्रन्थ को लिया भी तो उसकी शक्ल-सूरत इतनी सिनेमाई बना दी जाती है कि पहचानी न जाय। शरतचन्द्र की कथाओं के साथ यह प्रयत्न रहा कि मूल शरत्भाव को दिया जाय और परिणाम

बहुत अच्छा हुआ। 'देवदास' की सफलता अब तक याद की जाती है, और उसका मुख्य कारण मैं यह मानता हूँ कि उसमें शरत्-भाव अधिकाधिक सुरक्षित रखा गया। रवीन्द्रनाथ और बंकिमचन्द्र के साथ ऐसा नहीं हुआ, उन्हें सिनेमाई रंग पहनाना आवश्यक समझा गया, और उससे तस्वीर बनी नहीं बिगड़ी है।

सिनेमा की भाषा रूप की भाषा है, इसलिए इसका प्रभाव व्यापक है और तात्कालिक है। भाषाओं में भेद हैं पर भाव और रूप की अपील एक है। इस तरह सिनेमा में सम्भावनाएँ ज़बरदस्त हैं। लेकिन रूप चित्र-विचित्र है और महज तमाशा कोई अर्थ वह प्रदान नहीं करता। कहते हैं ईश्वर यहाँ सब कहीं फैला हुआ है, सब-कुछ उसी से वर्तमान है, लेकिन आँख खोलकर देखने से यह रूपाकारमय जगत् इतना दिखता है कि ईश्वर दिखना असम्भव रहता है। यानी रूप की विविधता को थामने वाला एक उसमें पिरोया हुआ अर्थ होना आवश्यक है। अन्यथा सारा रूप-विधान व्यर्थ हो जायगा। जिनको 'स्टण्ट पिक्चर्स्' कहते हैं, वे बहुत देर तक बहुत लोगों के मनों को नहीं रोक पातीं, उसका यही कारण है। उनमें अर्थ की एकता नहीं रहती, सिर्फ, विविधता रहती है।

जो प्रश्न मैंने पहले अपने सामने रखा कि तस्वीरें अच्छी और बुरी मुझे किस कारण लगी हैं, तो इसके उत्तर में मैं इसी निर्णय पर आया हूँ कि जिनमें समूचे रूप-विधान के नीचे प्रभाव और अर्थ की एकसूत्रता रही है वे तो गहरा असर डाल सकी हैं, और उन्होंने मन को पकड़ लिया है। और जिनमें सिर्फ विचित्रता है, वह देखते-देखते बिखर गई हैं, और मन में कोई याद नहीं छोड़ गई है।

इस 'एक' चीज को मैं 'श्रेय' कहता हूँ। 'श्रेय' से मन्दिर-मस्जिद-गिर्जे की ओर ध्यान न जाय। 'श्रेय' यानी एक महद्-भाव। उसकी अपने सिनेमा-क्षेत्र में मैं कमी देखता हूँ। शुरू में यह चीज कुछ अंश में थी और तब कुछ स्मरणीय चित्र बने। इधर व्यावसायिकता के फेर

में, उधर ध्यान कम है, टैक्नीक की चिन्ता ज्यादा है। टैकनीक की बात तो ठीक ही है। पर अर्थ वहाँ है, इति वहाँ नहीं है। उस महद्-भाव को हम बाहर से नहीं ला सकते। यानी वह तरकीब की चीज नहीं है, मार-भड़के और तलवार-तमन्चे से उसकी कमी भरी नहीं जा सकती। बल्कि इस ढंग की तरकीबें तस्वीर को उलटे खोखला और हलका बनाती हैं। नहीं, अर्थ और विचार की एक वेदना होनी चाहिए जिसमें से कथा-चित्र निकले। जरूरी नहीं है कि उस कथा-चित्र में नाच हो ही, या गाने भी हों ही। यहाँ तक हो सकता है कि उसके प्रेम में नाज़-नखरे न हों, तब जबरदस्ती इन चीजों को उसमें डालने की आवश्यकता नहीं है। और कोई कारण नहीं कि वह चित्र लोगों के मनों को बाँधे न रखे। विलायतों से हम देख सकते हैं कि न केवल ऐसे चित्र बने हैं और कामयाब हुए हैं, बल्कि जो कामयाब हुए हैं, वह सब लगभग ऐसे ही चित्र हैं।

मैं नहीं जानता कि फिल्म-व्यवसाय इस वस्तु को, 'क्रेथ' को, कहाँ से पाए? लेकिन प्रगति होगी तो उसी के संयोग से होगी। दो चीज हैं—कल्पना और हिसाब। दोनों यों उलटी दिखती हैं, पर दोनों के योग के बिना न कभी कुछ हुआ है और न होगा। इसमें भी, कल्पना को इतना प्रबल होना होगा कि वह हिसाब को आकृष्ट और अधीन रखे। हिसाब अनिवार्य तत्त्व है और पैसे की लागत और आमद के पक्ष के प्रति सोए रहने से नहीं चलेगा। सोएगा सो खोएगा। लेकिन जागने के मायने हिसाब में बँधा रहना नहीं है, बल्कि आदर्श के प्रति जागरूक रहना है।

सिनेमा की सम्भावनाओं के प्रति सब शक्तियाँ जग रही हैं। भारत में हुआ और हो रहा फिल्मों का अन्तर्राष्ट्रीय मेला उसका प्रमाण है। देशों की सरकारें उधर ध्यान दे रही हैं और उस माध्यम से अपना काम भी ले रही हैं। सरकारों का उधर मन जाना आवश्यक है, पर वह अच्छा है तो खतरे से भी खाली नहीं है। सरकार एक बड़ संस्था

है जिसे मानव-जाति ने अपने व्यवस्था विकास में अपने लिये सिरजा है। यह संस्था अतिशय वैज्ञानिक और व्यापक बनती जा रही है। पर एक बड़े पैमाने पर वह एक स्थापित स्वार्थ भी बन सकती है। सिनेमा की सम्भावनाएँ इन राष्ट्रीय स्वार्थों अथवा स्वार्थ-संघर्षों से घिर जाएँ, यह इष्ट न होगा। विज्ञान और वैज्ञानिक साधनों के साथ आज कुछ यही बीत रहा है। ज्ञान और विज्ञान, मानव-जाति की सम्पत्ति नहीं, बल्कि राष्ट्र-सरकारों के स्वत्व अधिक हैं। ऐसे वह आपसी स्पर्द्धा में जितना नाश करते हैं, उतनी समृद्धि नहीं साधते। जरूरी है कि सिनेमा उस महद्‌भाव से जुड़ा रहे जो मानव-जाति की एकता में निष्ठा रखता है और इस तरह प्रेम और सहानुभूति की टेक को किसी कीमत छोड़ने को तैयार नहीं है।

आवश्यकता है कि वे लोग जो शक्ति के बजाय नीति और राष्ट्र की जगह मानव की भाषा में सोचते हैं, फिल्म के जन-माध्यम के उपभोग की तरफ ध्यान दें और उसको सार्वजनिक हित और जागरण में नियोजित रखें।

होली

होली राग-रंग का त्योहार है। भारत के पर्व प्रकृति के साथ जुड़े हुए हैं। प्रकृति के दोनों ही पहलू हैं : अन्तः और बाह्य। बाह्यप्रकृति जैसे ऋतुओं का हेर-फेर हर ऋतु-परिवर्तन के साथ आप एक त्योहार लगा पाइयेगा। मनुष्य की अन्तःप्रकृति का भी फिर उनके साथ मेल साधा गया है।

घटनाएँ तो काल के प्रवाह में होती ही हैं। उस समय के लिए वे बहुत महत्वपूर्ण जान पड़ती हैं। पर वे होतो और बीत जाती हैं। इससे घटना को हमारे यहाँ बहुत महत्व नहीं है; उनको लड़ी में पिरोकर बाकायदा इतिहास की माला तैयार करने का रिवाज यहाँ नहीं रहा है। घटना की लौकिकता पर कल्पना का अलौकिक रंग इस तरह चढ़ने दिया गया है कि वह राजनीति का इतिहास न रहकर संस्कृति की गाथा बन गई है। ऐसे कुछ खोया जाता है, यह तो जान नहीं पड़ता। बल्कि जो रहने और रखने लायक है, आनन्द और उल्लास के रस में मिलकर, वह जातीय जीवन के प्राणों में समा जाता है। अलग से जिल्द में बाँधकर किताबी ज्ञान बना के उसे नहीं रखना पड़ता।

एक बात और भी है। किताबी ज्ञान जीवन को बाँट देता है। एक तरफ अच्छा, दूसरी तरफ बुरा, उजला और काला, 'सु' और 'दु' ऐसे वर्ग पैदा हो जाते हैं। एक तरफ तिलकधारी पंडित है तो दूसरी तरफ

उच्छिष्ट अधम। यों श्रेणियाँ समाज में तनाव डालती हैं और दबाव, जिस में से जातीय जीवन के स्वास्थ्य के लिए नाना विकार और विष पैदा होते हैं। आवश्यक है कि वह घुटन निकले और जीवन का प्रवाह अपने सम पर चलता चला जाय।

भारत के त्योहार कुछ ऐसा अवसर देते हैं। आपसी दबाव उस समय खुल रहते और आमोद-प्रमोद में जैसे घुलकर साफ़ हो जाते हैं। जैसे आदमी नहाता है; उन पर्वों पर हमारा सामूहिक जीवन उसी तरह नहा उठता है। रोध हट जाते हैं, रोम खुल जाते हैं और प्रफुल्लता आगे गति सहज लेती है।

जीवन यों नकार-निषेध के बिना तो चलता नहीं। नाना मर्यादाएँ हैं। उन्हीं के भीतर से सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है। लेकिन उनका उपयोग सापेक्ष है, ज्यादे गहरा उन्हें नहीं जाने दिया जा सकता। जज और अपराधी, शासक और शासित, दमनकारी और विद्रोही—सनातन भाव से इन दो भागों में बँट कर तो जीवन दूभर हो रहेगा। बुद्धि की और प्राण की लड़ाई ही चलती रहे तो जीना हराम हो जाय। आखिर नरक उस निविड द्वन्द्व के सिवा और क्या है? निश्चय उस द्वन्द्व से एकदम छुटकारा किसी को प्राप्त नहीं है। मुक्त-पुरुष कल्पना-पुरुष ही है, न कोई बुद्धि से छुट्टी पाकर और प्राण से तत्सम होकर नितान्त प्राणी ही बन सकता है। फिर भी बीच-बीच में इस युद्ध को सन्धि और विराम अवश्य मिलते रहने चाहिए। सच यह है कि इन दोनों के बीच सन्तुलन की अवस्था ही का नाम ज़िन्दगी है। किन्तु यह सन्तुलन स्थिर कभी नहीं होता, उसको उत्तरोत्तर ऊँचे उठते जाना होता है। यह काम आदर्श के आग्रह और यथार्थ के निषेध से नहीं हो सकता। इसके लिए तो समूचे जीवन की सहर्ष स्वीकृति चाहिए।

जीवन में यह विरोध कहीं है ही नहीं। जिस के दो तट नहीं, वह नदी क्या? इसलिए इस किनारे और उस किनारे का अन्तर ही हमारा

होली

होली राग-रंग का त्योहार है। भारत के पर्व प्रकृति के साथ जुड़े हुए हैं। प्रकृति के दोनों ही पहलू हैं : अन्तः और बाह्य। बाह्यप्रकृति जैसे ऋतुओं का हेर-फेर हर ऋतु परिवर्तन के साथ आप एक त्योहार लगा पाइयेगा। मनुष्य की अन्तःप्रकृति का भी फिर उनके साथ मेल साधा गया है।

घटनाएँ तो काल के प्रवाह में होती ही हैं। उस समय के लिए वे बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ती हैं। पर वे होती और बीत जाती हैं। इससे घटना को हमारे यहाँ बहुत महत्व नहीं है; उनको लड़ी में पिरोकर बाकायदा इतिहास की माला तैयार करने का रिवाज यहाँ नहीं रहा है। घटना की लौकिकता पर कल्पना का अलौकिक रंग इस तरह चढ़ने दिया गया है कि वह राजनीति का इतिहास न रहकर संस्कृति की गाथा बन गई है। ऐसे कुछ खोया जाता है, यह तो जान नहीं पड़ता। बल्कि जो रहने और रखने लायक है, आनन्द और उल्लास के रस में मिल-कर, वह जातीय जीवन के प्राणों में समा जाता है। अलग से जिल्द में बाँधकर किताबी ज्ञान बना के उसे नहीं रखना पड़ता।

एक बात और भी है। किताबी ज्ञान जीवन को बाँट देता है। एक तरफ अच्छा, दूसरी तरफ बुरा, उजला और काला, 'सु' और 'दु' ऐसे वर्ग पैदा हो जाते हैं। एक तरफ तिलकधारी पंडित है तो दूसरी तरफ

उन्दिष्ट अवस । यों ग्रंथियाँ समाज में तनाव डालती हैं और दबाव, जिस में से जातीय जीवन के स्वास्थ्य के लिए नाना विकार और विष पैदा होते हैं । आवश्यक है कि वह घुटन निकले और जीवन का प्रवाह अपने सम पर चलता चला जाय ।

भारत के त्योहार कुछ ऐसा अवसर देते हैं । आपसी दबाव उस समय खुल रहते और आमोद-प्रमोद में जैसे घुलकर साफ़ हो जाते हैं । जैसे आदमी नहाता है; उन पर्वों पर हमारा सामूहिक जीवन उसी तरह नहा उठता है । रोध हट जाते हैं, रीन खुल जाते हैं और प्रफुल्लता आगे गति सहज लेती है ।

जीवन यों मर्यादा-निषेध के बिना तो चलता नहीं । नाना मर्यादाएँ हैं । उन्हीं के भीतर से सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है । लेकिन उनका उपयोग मर्यादित है, ज्यादे गहरा उन्हें नहीं जाने दिया जा सकता । जज और अपराधी, शासक और शासित, दमनकारी और विद्रोही—मनातन भाव से इन दो भागों में बँट कर तो जीवन दूभर हो रहेगा । बुद्धि की और प्राण की लड़ाई ही चलती रहे तो जीना हराम हो जाय । आखिर नरक इस निविड़ द्वन्द्व के सिवा और क्या है ? निश्चय इस द्वन्द्व से एकदम छुटकारा किसी को प्राप्त नहीं है । मुक्त-पुरुष कल्पना-पुरुष ही है, न कोई बुद्धि से छुट्टी पाकर और प्राण से तन्मय होकर नितान्त प्राणी ही बन सकता है । फिर भी बीच-बीच में इस युद्ध को सन्धि और विराम अवश्य मिलते रहने चाहिए । सच यह है कि इन दोनों के बीच सन्तुलन की अवस्था ही का नाम ज़िन्दगी है । किन्तु यह सन्तुलन स्थिर कभी नहीं होता, उसको उत्तरोत्तर ऊँचे उठते जाना होता है । यह काम आदर्श के आग्रह और यथार्थ के निषेध से नहीं हो सकता । इसके लिए तो समूचे जीवन की सहर्ष स्वीकृति चाहिए ।

जीवन में यह विरोध कहीं है ही नहीं । जिस के दो तट नहीं, वह नदी क्या ? इसलिए इस किनारे और उस किनारे का अन्तर ही हमारा

होली

होली राग-रंग का त्योहार है। भारत के पर्व प्रकृति के साथ जुड़े हुए हैं। प्रकृति के दोनों ही पहलू हैं : अन्तः और बाह्य। बाह्यप्रकृति जैसे ऋतुओं का हेर-फेर हर ऋतु-परिवर्तन के साथ आप एक त्योहार लगा पाइयेगा। मनुष्य की अन्तःप्रकृति का भी फिर उनके साथ मेल साधा गया है।

घटनाएँ तो काल के प्रवाह में होती ही हैं। उस समय के लिए वे बहुत महत्त्वपूर्ण जान पड़ती हैं। पर वे होतो और बीत जाती हैं। इससे घटना को हमारे यहाँ बहुत महत्त्व नहीं है; उनको लड़ी में पिरोकर बाकायदा इतिहास की माला तैयार करने का रिवाज यहाँ नहीं रहा है। घटना की लौकिकता पर कल्पना का अलौकिक रंग इस तरह चढ़ने दिया गया है कि वह राजनीति का इतिहास न रहकर संस्कृति की गाथा बन गई है। ऐसे कुछ खोया जाता है, यह तो जान नहीं पड़ता। बल्कि जो रहने और रखने लायक है, आनन्द और उल्लास के रस में मिलकर, वह जातीय जीवन के प्राणों में समा जाता है। अलग से जिल्द में बाँधकर किताबी ज्ञान बना के उसे नहीं रखना पड़ता।

एक बात और भी है। किताबी ज्ञान जीवन को बाँट देता है। एक तरफ अच्छा, दूसरी तरफ बुरा, उजला और काला, 'सु' और 'दु' ऐसे वर्ग पैदा हो आते हैं। एक तरफ तिलकधारी पंडित हैं तो दूसरी तरफ

उच्छिष्ट श्रवम। यों ग्रंथियाँ समाज में तनाव डालती हैं और दबाव, जिस में से जातीय जीवन के स्वास्थ्य के लिए नाना विकार और विष पैदा होते हैं। आवश्यक है कि वह घुटन निकले और जीवन का प्रवाह अपने सम पर चलता चला जाय।

भारत के त्योहार कुछ ऐसा अवसर देते हैं। आपसी दबाव उस समय खुल रहते और आमोद-प्रमोद में जैसे घुलकर साफ़ हो जाते हैं। जैसे आदमी नहाता है; उन पर्वों पर हमारा सामूहिक जीवन उसी तरह नहा उठता है। रोध हट जाते हैं, रोम खुल जाते हैं और प्रफुल्लता आगे गति सहज लेती है।

जीवन यों नकार-निषेध के बिना तो चलता नहीं। नाना मर्यादाएँ हैं। उन्हीं के भीतर से सभ्यता और संस्कृति का निर्माण होता है। लेकिन उनका उपयोग सापेक्ष है, ज्यादे गहरा उन्हें नहीं जाने दिया जा सकता। जज और अपराधी, शासक और शासित, दमनकारी और विद्रोही—सनातन भाव से इन दो भागों में बँट कर तो जीवन दूभर हो रहेगा। बुद्धि की और प्राण की लड़ाई ही चलती रहे तो जीना हराम हो जाय। आखिर नरक उस निविड़ द्वन्द्व के सिवा और क्या है ? निश्चय उस द्वन्द्व से एकदम छुटकारा किसी को प्राप्त नहीं है। मुक्त-पुरुष कल्पना-पुरुष ही है, न कोई बुद्धि से छुट्टी पाकर और प्राण से तामस होकर नितान्त प्राणी ही बन सकता है। फिर भी बीच-बीच में इस युद्ध को सन्धि और विराम अवश्य मिलते रहने चाहिए। सच यह है कि इन दोनों के बीच सन्तुलन की अवस्था ही का नाम ज़िन्दगी है। किन्तु यह सन्तुलन स्थिर कभी नहीं होता, उसको उत्तरोत्तर ऊँचे उठते जाना होता है। यह काम आदर्श के आग्रह और यथार्थ के निषेध से नहीं हो सकता। इसके लिए तो समूचे जीवन की सहर्ष स्वीकृति चाहिए।

जीवन में वह विरोध कहीं है ही नहीं। जिस के दो तट नहीं, वह नदी क्या ? इसलिए इस किनारे और उस किनारे का अन्तर ही हमारा

सर्वस्व है, असलियत उसी में है। एक तट दूसरे से निरपेक्ष रहे तो वह वृथा है। तब वह है ही नहीं। दोनों एक-दूसरे को अर्थ देते हैं, परस्पर में ही वे सार्थक हैं, अन्यथा निरर्थक हैं। यथार्थ की सतह को उठना न हो तो वह एक जकड़ बन जाता है। वर्तमान, जिसके आगे भविष्य नहीं है, निरा बन्धन है। और भविष्य का कुछ मतलब ही नहीं अगर आधार में वर्तमान न हो। भविष्य है वह आदर्श जिसकी सत्यता आज के यथार्थ से असंगत होकर मिथ्या हो जाती है।

यही तो ज़िन्दगी का मज़ा है, हम खासा एक नाटक अपने बीच खेलते रहते हैं। जीवन एक क्रीड़ा ही तो है। हम सब आदमी हैं; लेकिन मन-बुझव्वल के लिए एक राजा है दूसरा रंक है, एक मालिक दूसरा चाकर, एक साधु दूसरा दुष्ट, एक न्यायी दूसरा अपराधी। मन-बुझव्वल शब्द यहाँ शायद अच्छा न लगे। लेकिन सच यह कि कौन जानता है कि जिसे न्यायी कहते हैं वह अपराधी हो नहीं है। इसलिए सच में ये भेद फ़र्क नहीं करते। भगवान् के सब एक-से बालक हैं और एक-से अपराधी हैं। भेद हमने बनाए हैं, क्योंकि खेल भेद के बिना खेला भी नहीं जा सकता। वैसे राग-रंग उसमें नहीं पड़ता।

पर खेल कष्टकर भी होता है। राजा भूल जाता है कि यह खेल है और वह ऐंठकर चलता है, तब रंक को भी खेल की बात भूलकर अपने मन में गुस्सा लाना होता है।

लोग कहते हैं यह गुस्सा बड़ी चीज़ है। इसमें से प्रगति होती है और क्रान्ति होती है। सच है कि जब तक वह है गुस्सा अवश्य बड़ी ही चीज़ है, न रहे तब वह छोटी चीज़ दीख आए; यह बात दूसरी है। तो ऐसे मान है और अपमान है, दर्प-भाव है और हीन-भाव है। वे अवास्तविक हैं, यह बात सुनने में और कहने में आसान लगेगी। घायल की गति घायल ही जानता है। इससे यह बात कहने-सुनने की नहीं है। धनपति और दलपति को कैसे बताया जाय कि उनका मान और आतंक उनका अपना नहीं है, वह तो दूसरों के मानने का है।

इसमे उस इज्ज़त की कुंजी दूसरों के पास रहती है। तभी तो तख़्त उलट गए हैं और अटूट धनशाली को दर-दर का हो रहना पड़ा है। इससे दर्प अपने में तो दयनीय ही है। उधर कैसे बताया जाय रंक को, शासित को, अपराधी को, दुष्ट को, हीन और दीन को कि वे वह नहीं हैं जो वह समझते हैं कि हैं। इससे वास्तव को, जब तक वह है, वास्तव ही मान लेना भला है; गरचे सच यह है कि असल वास्तव तो खेल है। गुस्सा खेल वाला हो तब अपनी जगह वह भी ग़लत नहीं, पर मैल वाला गुस्सा खेल के मज़े को कम करता है।

होली में हम रंग बहाते हैं—वह रंग अगर आदमी का खून होने लगे तो आप सोचिए कि क्या उसमें होली का मज़ा लिया जा सकेगा! खून से जो खेली जायगी उसे सच्ची होली नहीं कहा जा सकता। वह झूठी होली है। अवश्य खेल का नियम भंग करने से वह हुई है। हर खेल का नियम होता है। जीवन के खेल का भी है। उस खेल में मृत्यु नहीं आ जायगी, सो नहीं। पर वह स्वेच्छित मृत्यु होगी। वह पूरक होगी, जीवन की विजय की वह साधिका होगी। ऐसी होकर मृत्यु अपने स्थान पर होगी। लेकिन अब लाखों-लाख को युद्ध के नाम पर जो मौत बलात् दी जा रही है वह किसी तरह हमारे असली खेल का अंश नहीं हो सकती। अवश्य उसमें कहीं गहरी भूल और गड़बड़ कारण हुई है। अवश्य वह मानवता पर खेली जाने वाली एक गहरी धोखेबाजी है। हम उसे अपना काम समझ बैठे हैं और दुनिया उसी की भाषा में सोचने को लाचार बनी है, यह धोखे की सबसे बड़ी सफलता है और हमारी सबसे बड़ी विडम्बना।

शायद आदमी अपने दिमाग के ज़ोर से आदमियत से दूर जा भटका है। एक भेद तो प्रकृति ने उसे आदि से ही दिया। वह स्त्री और पुरुष का भेद। उस भेद का प्रयोजन था सृष्टि। भेद होकर तो वह कटकर ही था और उस में भिन्न होकर स्त्री-पुरुष आपस में अब भी जूझ रहे हैं; लड़ रहे हैं और मिल रहे हैं और फिर लड़ रहे हैं। इस

तरह वे सृजन कर रहे हैं और फिर-फिर सर्जन के लिए अपने को हठात् बाध्य पा रहे हैं। इसको तो हम सचमुच काम का युद्ध कह सकते हैं। काम निःसन्देह काम की चीज़ है। मत सोचिए कि इस युद्ध में कम लोग काम आ रहे हैं। घर-घर इसका मोर्चा है और मर्मांतक उसका रूप है। यह युद्ध तो कुछ सारवान वस्तु भी है। दूसरी तरह की लड़ाइयाँ दिमागी भूतों की मालूम होती हैं। असलियत से वह बहुत दूर चली जाती है। इसलिए कागजी इतिहास के पन्ने कितने भी चाहे उससे रंग डाले जायँ प्रकृत इतिहास के मानस-पट पर उतनी गहरी लकीरें नहीं खिचतीं। गुस्सा कितना भी भीषण हो, होकर जब बीत जाता है तो याद नहीं रहता, प्यार याद में सदा ही धड़कता है।

काम और कामना खराब चीज़ें नहीं हैं। चीज खराब ब्रह्मचर्य भी नहीं है। पर दोनों आपस में रूठते हैं तब खराबी पैदा होती है। मैं नहीं जानता कि ब्रह्मचर्य काम को पोषण क्यों नहीं दे सकता। ईश्वर अनन्त-काम-रूप जगत् का संचालन करता है तो क्या इसी सामर्थ्य से नहीं कि वह स्वयं निष्काम है? गांधी ने अपने जीवन-काल में जाने कितने न विवाह रचाये! राष्ट्रीय महत्त्व का उस काल में शायद ही कोई विवाह होगा जिसके योगायोग में गांधी का हाथ न हो। ब्रह्मचर्य, जो काम और कामना से डरता और द्वेष करता है, जो उनके प्रति मुस्करा नहीं सकता, मेरी समझ से अनीश्वरीय वस्तु है। कौन जाने उसके मूल में ईश्वर न होकर शैतान हो।

असल में तटों में जो टकराहट चला करती है वह समस्याएँ पैदा करती है। टकराहट न हो तो मीठी-मीठी लहरें उनके बीच लहराती रहें जो सुन्दर तो जान पड़ें फिर भी समस्या-सी न लगें। संस्कृति, साहित्य, धर्म और नीति सब मेरे विचार में यही काम करते हैं, प्राणों में तो सामर्थ्य और वेग मौलिक है। मूल में प्राण का मतलब ही है चित्-शक्ति। बाहर की तरफ अवरोध पाकर वह सामर्थ्य और वेग संहार की ओर मुड़ता है, प्रकृत उपयोग उसका निर्माण है। संहार देखकर सामर्थ्य

से इन्कार करना बड़ी भारी जड़ता और कायरता है। नाम आध्यात्मिक दे देने से मूर्खता बुद्धिमत्ता नहीं बन जाती, न संहार का शोर या शोक मनाने से संहार रुक सकता है। सामर्थ्य और वेग अपना गुण छोड़ नहीं सकते। निर्माण नहीं कर सकेंगे तो अवश्य उन्हें संघात करना होगा। खालीपन तो प्रकृति में कहीं नहीं है, न रह सकता है। महा-ब्रह्माण्ड, जो शून्य दीखता है, सत्यता से भरा है। सत् और चित् और आनन्द कण-कण, घट-घट में व्याप्त है। हो नहीं सकता कि सामर्थ्य हो और असमर्थ रहे, वेग हो और गतिहीन रह जाय। फल तो उसका होगा, रचनात्मक नहीं तो ध्वंसात्मक। वह साधुवाद जो भूतवाद से डरता है चाहे तो अपनी रक्षा में जंगल में भाग जाय, लेकिन भागकर *पायगा क्या? भूत का धाम वहाँ भी है, वह हर कहीं है।*

स्त्री से पुरुष को छुट्टी नहीं मिल सकती। जब तक पुरुष है वह अधूरा है। इससे विवाह को मैं अनिवार्य धर्म मानता हूँ। पुरुष रहे और स्त्री से निरपेक्ष रहे—यह असत्य है। निरर्थक नहीं, यह अनर्थक है। स्त्री हो और पुरुष को उपेक्षा देकर वह जीए—यह असम्भवता है, अकृतार्थता है। अधूरेपन को पूजना चल नहीं सकता। ब्रह्मचर्य अवश्य ही परम सत्य है, पर उसका मतलब एकाकीपन नहीं है। जो नारी को *नहीं अपनाता, उसे नारीत्व को अपनाना होगा। नर से वही स्त्री बच* सकती है जो नरत्व अपने में लाती है। इस आशय में आदर्श अर्ध-नारीश्वर है। शूरवीर को, यदि शौर्य और वीर्य उसका अहिंसक (यानी किंचित् स्त्रीत्व से सम्मिश्र) नहीं है तो, अन्त में स्त्री की शरण में गिरना होगा। नर का आदर्श नर में नहीं है, न नारी का नारी में। नर को नरत्व के और नारी को नारीत्व के घेरे में कैद रखने के रूप में जो ब्रह्मचर्य की रक्षा देखते हैं वे सत्य को नहीं देखना चाहते, अपने हठ में ही दृष्टि गाड़ रखना चाहते हैं। जीता और जीतता सत्य है। हठ को सदा टूटना और हारना पड़ता है। कारण सत्य सम्पूर्णता है, हठ अधूरापन है।

होली खुल खेलने का पर्व है। मर्यादाएँ उस अवसर पर पूजी नहीं जातीं, वह मन्द दीख आती हैं। आवेगों को अवसर मिलता है। मेरा मानना है, इससे प्रकृत मर्यादाओं पर क्षति नहीं आती, बल्कि उनके पालन में आगे कुछ सहायता ही मिलती है। विधि-निषेधों की जकड़ के बीच ज़िन्दगी जो पीली पड़ रहती है, अबीर, गुलाल और टेसू की बखेर और बौछार में से अपने लिए कुछ लालिमा पा जाती है। स्त्री और पुरुष अपने-अपने ध्यान को भूलकर एक-दूसरे को स्वीकारने की ओर बढ़ते हैं, पिचकारियों से पानी और कनखियों से प्यार फेंकते हैं। नीति और राजनीति उस रोज़ अपनी जगह जा बैठती हैं, अपनी प्रभुता में आसन जमाकर ज़िन्दगी पर छाई नहीं रहतीं। ज़िन्दगी उस दिन कुछ काल बस प्रीत के हाथ हो रहती है और वह उसे मल-मसलकर निखार देती है। आदमी जो ढँका रहता है, उघाड़कर उसे अपने ही सत्य की यथार्थता को प्रत्यक्ष करने देती है। सुन्दर हम चाहते हैं, कदर्य से कतराते हैं—होली में सब एकमएक हो जाता है। मानो गुसलखाने की नल की टोंटी से बाहर आकर खुले प्रकृति के सरोवर में डुबकी लगाकर हम स्नान करने का अवसर पाते हैं। यह हम अहंजीवियों के लिए उतनी बुरी बात नहीं, कुछ अच्छी ही बात है।

जीने का हक

"....इस तरह तुमने जीने का हक खो दिया है और देश और राजा के नाम पर तुम्हें सज़ा दी जाती है कि तुम खत्म कर दिये जाओ।" ये शब्द विलायत के एक जज ने होनहार उम्र के एक आदमी पर फैसला देते हुए कहे।

अपराध क्या था और अपराधी कौन था, इसे जाने दीजिए। अपराधी कूटनीतिक रहा होगा और आज की खबर है कि अपराधी को फाँसी दे दी गई। पर मान लीजिए कि जुर्म नैतिक ही हो और मुजरिम अन्त में बच तक जाय। उस फर्क से हक की बात के बारे में फर्क नहीं पड़ता। और सवाल उस बुनियादी जीने के हक का है।

ऊपर से लगता है कि यह हक देश और राजा के हाथ में या उनके प्रतिनिधि-रूप अमुक जज के हाथ में है। पर देश कई हैं और उतने ही राजा समझिए। एक राज में फिर अनेक जज हैं। जीने और न जीने देने का अधिकार इस तरह खासा विकेन्द्रित है और सुविधापूर्वक हजारों-लाखों में बिखरा हुआ है।

स्पष्ट है कि एक देश और एक राजा की दूसरे देश और दूसरे राजा के साथ ठन जाय तो दोनों में से हर एक देश को अधिकार आ जाता है कि वह दूसरे का पूरा सफाया कर दे। इसी अधिकार के आधार पर लड़ाइयाँ लड़ी जाती और सन्धियाँ की जाती हैं।

शायद मरना इस दुनिया में काफी तेजी से नहीं होता। पैदा होने से कहीं कम लोग मरते हैं। इस हिसाब में प्राकृतिक तत्त्वों की ओर से आकस्मिक संयोगों के रूप में भी सहायता मिलती रहती है। फिर भी अमानामा बराबर नहीं होता। जीने का पलड़ा मरने से भारी ही रहा आता है। इससे एक अतिरिक्त काम के आविष्कार का बोझ मनुष्य के मस्तिष्क पर पड़ता रहता है। वह काम है, मारना। अपने-आप अगर काफी संख्या में लोग नहीं मरते हैं और जीये जाने का आग्रह रखते हैं तो जरूर इस अवस्था को सुधारना होगा और मारने की एक वैधानिक पद्धति को अपने बीच सुरक्षित और प्रतिष्ठित रखना होगा।

मारने के बहुत से प्रकार हैं। पर वैध कुछ ही हैं, शेष अवैध हैं। उपादेय वे प्रकार हैं जहाँ मारने में योग देने वाले व्यक्ति अनुभव करते हैं—कि उन्होंने एक गुरु-गम्भीर कर्त्तव्य-पालन के निमित्त ऐसा किया है। अतः वैसा करने के लिए उन्हें उचित गौरव और पुरस्कार भी दिया जाता है। सेनापति, क्रान्तिकारी, शूरवीर और बलिदानी वैसे ही उदाहरणीय लोग हैं। ये लोग आवेश की जगह उद्देश्य से, प्रमाद की जगह स्फूर्ति से, घृणा की जगह उत्साह से, स्वार्थ की जगह परमार्थ से और छिपने के बजाय उजागर मारते हैं। मारकर उनके चित्त में ग्लानि नहीं होती, मान भरता है। पर मानना होगा कि ऊपर के लोगों का मारना उत्कृष्ट कितना भी हो, पूरी तरह शान्त भाव से नहीं होता। इन विधियों में कुछ खतरा भी समाया रहता है। विधि मारने की सच्ची वैज्ञानिक वह है जहाँ भाव शान्त हो, खतरा शून्य हो और व्यक्ति केवल विधान का उपकरण हो।

जज के हाथ मारने का जो विशेष प्रकार आया है, मानना होगा कि वह ही सम्पूर्णतया शान्त और निष्काम प्रकार है। उसके काम में सहायता करने वाले वकील और जल्लाद की निस्पृहता और भी बढ़ी-चढ़ी माननी होगी।

जो आगे जी ही नहीं सकता इतना जो बुरा है, उसकी सहायता

के लिए तो काफ़ी है। ठीक समय पर उसके पास वह आ पहुँचता है और चूकता नहीं। लेकिन जो जो मरते हैं उन्हें अपनी सहायता से मरने का हक नहीं है। ओफ़! वह पाप है। फाँसी की सज़ा पाया हुआ कोई आत्मघात कर ले तो यह भारी अधर्म है। ऐसे फाँसी देने वालों पर जैसे क्षेप रह जाता है। उन्हें उज्ज्वलता का अवसर चाहिए। इस-लिए जी-जान से और अथक सेवा से उन्हें उसे जिलाये रखना पड़ता है कि ठीक मुहूर्त पर उसे मारने का कर्तव्य वे उसके प्रति पूरा कर सकें।

धर्म का तत्त्व गूढ़ बताया है। बड़े मतिमान उसमें चकरा जाते हैं। जो जानता है वही जानता है। यथार्थ में कोई अपने आपे से बाहर नहीं जानता। इससे उस जज के भीतर की कौन कहे जो मुँह से कहता और कलम से लिखता है कि एक की जान पर आ बनती है। न उसकी ही कथा कही जा सकती है, जो जज की बात को अपनी जान पर लेकर उसकी जज़ी को बहाल करता है।

धर्म का तत्त्व गूढ़ है, क्योंकि उसी के सहारे हम आपस में मरते और मारते हुए जीये चल रहे हैं।

वह ठीक। लेकिन क्या यह सचमुच ज़रूरी है कि मारने का हम एक ज्ञान बनायें और विधान बनायें? ज़रूरी है कि हम कहें कि हमें यह हक़ है? क्या मारने का काम इतना सीधा और साफ़ नहीं है कि बहस की उसमें ज़रूरत न रह जाय। शेर शिकार मारता है—क्या इसमें उसे किसी का समर्थन चाहिए? क्या घटना अपने में इतनी सच वस्तु नहीं कि उसके समर्थन को शास्त्र बने? क्या ताक़त खुद में ही हक़ नहीं? अगर ताक़त है, तो यह भी है कि मारा जायगा। ताक़त नहीं तो अपने से क्या करे? इसमें क्या चीज़ साफ़ नहीं है? और जो साफ़ है इन्साफ़ भी वही है।

जज ने जो किया देश और राजा के नाम पर। आगे बढ़कर कोई मानवता के नाम पर यह कर सकता है। साथ ही लोग हो सकते हैं जो

देवी-देवता के नाम पर नर की बलि चढ़ाएँ। बहरहाल नाम बहुत हैं और आदमी बहुत हैं और यज्ञ के बिना चल नहीं सकता है। इससे किसी भी मन्त्र के साथ हो, आदमी का होमना जारी रहने वाला है।

सचमुच उस यज्ञ पर कोई आपत्ति नहीं हो सकेगी। वह प्रेम कैसा जहाँ आदमी की जान न ली जा सके? जान ऐसी पवित्र वस्तु बनेगी तो दुनिया का खेल चलेगा कैसे? यही तो संसार का रस है और इसी से दया-माया मीठी लगती है। पर तरह-तरह के तर्कों, नामों और मन्त्रों के योग से सहज को गरिष्ट, स्पष्ट को गूढ़ और साफ को उलझा बनाने की कोशिश है, वह नाहक। कब था कि मारना न था। कब होगा कि मारना न रहे। मारना अमर है।

यह बात इतनी खुली उजागर है कि ऊपर किसी तरह की बुनावट उसे ढक नहीं सकती। या तो मारना गलत है और कभी कहीं भी सही नहीं है, या सही है तो उसके लिए उतना ही ज़रूरी है कि उस पर डटा रहा जाय और कोई-न-कोई समर्थन बनाकर उसे दे दिया जाय।

पर सवाल जीने और उसके हक का है। जीना कहाँ से मिलता है? वह देश से, राजा से और कानून से मिलता देखा नहीं जाता। माता-पिता से मिलता है—यह माना जा सके तो माँ-बाप को उसे लेने का भी हक पहुँचेगा। वह हक उन्हें नहीं है। यानी वे नये जीवन के कर्त्ता नहीं, करण (माध्यम) ही हैं। व्यक्ति अपने से जीता समझा जाय तो अपने से जीवन समाप्त करने का भी वह अधिकारी हो। पर ऐसा भी नहीं है। इससे होने का हक खुद व्यक्ति से, माता-पिता से या देश-राजा से प्राप्त नहीं होता। हर एक का होना और जीना जुड़ा है उस आदि कारण से जो अखण्ड, अनन्त और स्वयंभाव से है। उदय होना वहाँ से है, इसमें विलीन भी होना वहीं है। जीने की डोर जिसके हाथ है, उसे खींचने की भी उसी के हाथ है। यहाँ जिसने भेजा है, उसे छोड़ किसके उठाये उसे यहाँ से उठना हो? जीने और मरने के हक के बारे में इससे बुनियादी और क्या कहा जाय?

लेकिन जुर्म ! पर क्या वह हक का है ? क्या जो मुजरिम है इसी-लिए नहीं है कि कोई जज भी है। क्या दुष्ट साधु से अलग होकर हो सकता है ? उनको अलग रख-मानकर हमारा मेल चलने में सुभीता होता है सही, पर दुष्ट को मारने में साधु जीता है यह समझना भूल है। अपराध का और न्याय का शास्त्र अपने लिए जो भी चाहे नियमो-पनियम रचे, पर क्या यह उसकी कृपा न होगी कि जीने के हक को वह वहाँ से न खींचे जहाँ वह है ?

कब होगा कि हम समझेंगे कि अभियुक्त जज से अलग नहीं है और अलग होकर वह जज का भी जज है; और अपराधी को मारना अपराध को जिलाना है।

ज़रूरी भेदाभेद

एशोसिएशन का सदस्य तो मैं नहीं हूँ, सदस्य कहीं का भी नहीं हूँ, पर एक मित्र सदस्य हैं, उनकी वजह से कभी-कभी वहाँ आ जाता हूँ। एसोसिएशन को ज्ञात हुआ है कि मैं विलायत गया हूँ, अंग्रेजी बोल लेता हूँ, अतः मेरी उपस्थिति उन्हें अप्रिय नहीं होती।

यही क्यों, कुछ लोगों से वहाँ बेतकल्लुफ़ी भी हो गई है। एक हैं लाला महेश्वरनाथ जी। बहुत ज़िन्दादिल आदमी हैं। वकील हैं, और अच्छे बड़े वकील हैं। जायदाद भी है। अध्ययनशील हैं और नये विचारों के प्रशंसक हैं। सार्वजनिक सेवा के कामों में अच्छा योग देते रहते हैं। दिल खोलकर सँभलते और बात करते हैं। मैं उन से प्रभावित हूँ।

आज बीच में मसला सोशलिज़्म का था और बैठक सरगर्म थी।

महेश्वर जी की सोशलिज़्म का क़ायल होने से कोई बचाव नहीं दीखता। उन्हें अचरज है कि कोई आदमी ईमानदार होकर सोशलिज़्म को माने बिना कैसे रह सकता है!''यह सच्ची बात है, कोई ज़बरदस्ती सच्चाई से आँख मीचना चाहे तो बात दूसरी, पर सोशलिज़्म उजाले के समान साफ़ है। हम और आप उसके समर्थक हो सकते हैं, चाहें तो विरोधी हो सकते हैं। पर हमारे समर्थन और विरोध की गिनती क्या है? सोशलिज़्म युग-सत्य है, वह युग-धर्म है।

पर वह है औसतन् पशु। समाज का शासन उस पर अनिवार्य है। स्वत्व सब समाज में रहे, व्यक्ति निस्स्वत्व हो। व्यक्ति का धर्म आत्म-दान है, उसका स्वत्व कुछ नहीं है। कर्तव्य सेवा है।—आज इसी जीवन-नीति के आधार पर समाज की रचना खड़ी करनी होगी। सोश-लिज़्म यही कहता है और उसके औचित्य का खण्डन नहीं किया जा सकता।"

महेश्वर जी से असहमत होने के लिए मेरे पास अवकाश नहीं है, पर उनकी-सी दृढ़ता भी मुझ में नहीं है और न उतनी साफ़-साफ़ बातें मुझे दीख पाती हैं! यह मैं जानता हूँ कि मानव पशु है, फिर भी मन इस पर सन्तुष्ट नहीं होता कि वह पशु ही है। पशु हो, पर मानव भी क्या वह नहीं है? और महेश्वर जी की ओर सस्पृह-सम्भ्रम के साथ देखता रह जाता हूँ।

"आप कुछ कहिए, लेकिन मैं तो सोलह आने इस चीज़ में बँध गया हूँ। आप जानते हैं, मेरे पास जायदाद है। लेकिन मैं जानता हूँ वह मेरी नहीं है। मैं प्रतीक्षा में हूँ कि कब स्थिति बदले और एक समर्थ सदाशय सोशलिस्ट स्टेट इस सबको अपने ज़िम्मे ले ले। मैं ख़ुशी से इसके लिए तैयार होऊँगा। सोशलाइज़ेशन हुए बिना उपाय नहीं। यों उलझनें बढ़ती ही जायँगी। आप देखिए, मेरे दस मकान हैं। मैं उन सब दस मकानों में कैसे रह सकता हूँ? यह बिलकुल नामुमकिन है। फिर यह चीज़ कि वे दस मकान मेरे हैं, कहीं-न-कहीं झूठ हो जाती है, ग़लत हो जाती है। जब यह मुमकिन नहीं है कि मैं दस मकानों में रह सकूँ, तब यह भी नामुमकिन है कि वे दस मकान मेरे हों। किन्तु, यही सम्भावना आज का सबसे ठोस सत्य बनी हुई है। मैं कहता हूँ यह रोग है, मैं कहता हूँ यह झूठ है। लेकिन सोशलिज़्म आने में दिन लग सकते हैं, तब तक मुझे यह बर्दाश्त ही करते रहना होगा कि दसों मकान मेरे हों और मैं उन्हें अपना मानूँ,—यद्यपि मैं अपने मन में जानता हूँ कि ये मकान मुझ से ज़्यादा उनके हैं जो अपने को

कियायेदार समझते हैं और जिन्हें उनकी जरूरत है।"

इस स्थल पर एकाएक रुककर मेरी ओर मुख़ातिब होकर उन्होंने कहा—"क्यों कैलाश बाबू?"

शायद मैंने ऊपर नहीं कहा कि जिस मकान में मैं रहता हूँ वह महेश्वरनाथ जी का है। मैं उनके प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं दे सका।

उन्होंने फिर पूछा—"क्यों कैलाश बाबू, आप क्या कहते हैं? सोशलिज़्म में ही क्या समाज के रोग का इलाज नहीं है? हमारी राजनीति के लिए क्या वही सिद्धान्त दिशा-दर्शक नहीं होना चाहिए? हम कैसी समाज-रचना चाहते हैं, कैसी सरकार चाहते हैं, मनुष्यों के आपसी सम्बन्धों के कैसे नियामक चाहते हैं?—आप तो लिखा भी करते हैं, बताइए क्या कहते हैं?"

"मैं लिखता तो हूँ, पर छोटी-छोटी बातें लिखता हूँ। बड़ी बातें बड़ी मालूम होती हैं। लेखक होकर जानते-जानते मैंने यह जाना है कि मैं बड़ा नहीं हूँ, विद्वान् नहीं हूँ। बड़ी बातों में मेरा वश नहीं है। कहते हैं, लेखक विचारक होता है। मालूम तो मुझे भी ऐसा होता है। पर मेरी विचारकता छोटी-छोटी बातों से मुझे छुट्टी नहीं लेने देती। मैंने कहा—"मैं इस बारे में क्या कह सकता हूँ।"

महेश्वर जी ने महास प्रसन्नता से कहा—"वाह, आप नहीं कह सकते तो कौन कह सकता है?"

मैंने कहा—"मुझे मालूम नहीं। मैंने अभी सोशलिज़्म पर पूरा साहित्य नहीं पढ़ा है। पाँच-सात किताबें पढ़ी हैं। और सोशलिज़्म पर साहित्य है इतना कि उसे पढ़ने के लिए एक ज़िन्दगी काफ़ी नहीं है। तब मैं इस ज़िन्दगी में उसके बारे में क्या कह सकता हूँ?"

महेश्वर जी ने कहा—"भाई, बड़े चतुर हो। बचना कोई तुमसे सीखे।"

पर मुझे जब इस तरह अपनी ही हार पर चतुराई का श्रेय दिया जाता है, तब मैं लज्जा से ढँक जाता हूँ। लगता है कि मेरी अज्ञानता

कहीं उनके व्यंग का विषय तो नहीं हो रही हैं।

मैंने कहा—"नहीं, बचने की तो बात नहीं—"

महेश्वर जी बोले—"तो क्या बात है? कहिए न।"

अपनी कठिनाई जतलाते हुए मैंने कहा कि जब मैं समाज की समस्या पर विचारना चाहता हूँ, तभी अपने को ठेलकर यह विचार सामने आ खड़ा होता है कि समाज की समस्या के विचार से मेरा क्या सम्बन्ध है। तब मुझे मालूम होता है कि सम्बन्ध तो है और वह सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है। वास्तव में मेरी अपनी ही समस्या समाज की भी समस्या है। वे दोनों भिन्न नहीं हैं। व्यक्ति का व्यापक रूप समाज है। पर चूँकि मैं व्यक्ति हूँ, इसलिए समस्या का निदान और समाधान मुझे मूल-व्यक्ति की परिभाषा में खोजना और पाना अधिक उपयुक्त और सम्भव मालूम होता है। इस भाँति बात मेरे लिए हवाई और शास्त्रीय कम हो जाती है और वह कुछ अधिक निकट मानवीय और जीवित बन जाती है। मेरे लिए एक सवाल यह भी है कि मुझे रोटी मिले। मिलने पर फिर सवाल होता है कि समझें, कैसे मिली? इसी सवाल के साथ लगा चला आता है पैसे का सवाल। वह पैसा काफी या और ज्यादा क्यों नहीं आया? क्यों? या कैसे आये? क्यों आये? वह कहाँ से चलकर मुझ तक आता है? क्यों वह पैसा एक जगह जाकर इकट्ठा होता है और दूसरी जगह पहुँचता ही नहीं? यह पैसा है क्या?—ये और इस तरह के और-और सवाल खड़े होते हैं। इन सब सवालों के अस्तित्व की सार्थकता तभी है जब कि मूल प्रश्न से उनका नाता जुड़ा रहे। यह मैं आपको बताऊँ कि शंका की प्रवृत्ति मुझ में खूब है। शंकाओं के प्रत्युत्तर में ही मेरा लेखन-कार्य सम्भव होता है। तब यह तो आप न समझिए कि मैं बहुत तृप्त और सन्तुष्ट जीवन जीता हूँ। लेकिन सोशलिज़्म के मामले में दखल देने के लिए ऐसा मालूम होता है कि मुझे विचारक से अधिक विद्वान् होना चाहिए। विद्वान् मैं नहीं हो पाता, किताबें मैं पढ़ता हूँ, फिर भी वे मुझे विद्वान्

नहीं बनातीं। मेरे साथ तो रोग यह लग गया है कि अतीत को मैं आज के सम्बन्ध की अपेक्षा में देखना चाहता हूँ, भविष्य का सम्बन्ध भी आज से मिटा लेना चाहता हूँ और विद्या को जीवन पर कसते रहना चाहता हूँ। इसमें, बहुत से अतीत और बहुत से स्वप्न और बहुत सी विद्या से मुझे हाथ धोना पड़ता है। यह दयनीय हो सकता है और मैं कह सकता हूँ कि आप मुझे मुझ पर छोड़ दें। सोशलिज्म का मैं कृतज्ञ हूँ, उसमें मुझे व्यायाम मिलता है। वह अच्छे वार्तालाप की चीज़ है। लेकिन आज और इस क्षण मुझे क्या और कैसा होना चाहिए, इसकी कोई सूझ इस 'इज़्म' में से मुझे प्राप्त नहीं होती। मुझे मालूम होता है कि मैं जो-कुछ हूँ, सोशलिस्टिक स्टेट की प्रतीक्षा करता हुआ वही बना रह सकता हूँ और अपना सोशलिज्म अखण्ड भी रख सकता हूँ। तब मैं उसके बारे में क्या कह सकूँ? क्योंकि मेरा क्षेत्र तो परिमित है न? सोशलिज्म एक विचार का प्रतीक है। विचार शक्ति है। वह शक्ति किन्तु 'इज़्म' की नहीं है, उसको मानने वाले लोगों की सचाई की वह शक्ति है। लोगों को जयजयकार के लिए एक पुकार चाहिए किन्तु पुकार का वह शब्द मुख्य उत्पाद है। उसी के कारण शब्द में सारवत्ता आती है। सोशलिज्म का विधान वैसा ही है, जैसा झण्डे का कपड़ा। झण्डे को साख बनाने वाला कपड़ा नहीं है, शहीदों का खून है। सोशलिज्म की सफलता यदि हुई है, हो रही है, या होगी, वह नहीं निर्भर है इस बात पर कि सोशलिज्म अन्ततः क्या है और क्या नहीं है, प्रत्युत् वह सफलता अवलम्बित है इस पर कि सोशलिस्ट अपने जीवन में अपने मन्तव्यों के साथ कितना अभिन्न और तल्लीन है और कितना वह निर्विकार है। और अपने निज की और आज की दृष्टि से, अर्थात् शुद्ध व्यवहार की दृष्टि से, यह सोशलइज़्म मुझे अपने लिए इतना वादमय, इतना हटा हुआ और अशास्त्रीय-सा तत्व ज्ञात होता है कि मुझे उसमें तल्लीनता नहीं मिलती। और मैं क्या कहूँ? धर्म से बड़ी शक्ति मैं नहीं जानता। पर जीवन से कटकर जब वह एक मतवाद और पन्थ का रूप धरता है, तब वही निर्वीर्यता का बहाना

और पाखण्ड का गढ़ बन जाता है। सोशलिज्म को आरम्भ से ही एक वाद बनाया जा रहा है,—यह सोशलिज्म के लिए ही भयंकर है।

महेश्वर जी ने कहा—"आप तो मिस्टिक हुए जा रहे हैं कैलाश बाबू, पर इससे दुनिया का काम नहीं चलता। आप शायद वह चाहते हैं जो साथ-साथ दूसरी दुनिया को भी सँभाले।"

"हाँ, मैं वह चाहता हूँ जिससे सभी कुछ सँभले, जिससे समग्रता में जीवन का हल हो। मुझे जीवन-नीति चाहिए, समाज अथवा राज-नीति नहीं। वह जीवन-नीति ही फिर समाज की अपेक्षा राज-नीति बन जायगी। जीवन एक है, उसमें खाने नहीं हैं। जैसे कि व्यक्ति का वह सँभलना ग़लत है जो कि समाज को बिगाड़ता है, उसी तरह दुनिया का वह सँभलना ग़लत है जिसमें दूसरी दुनिया अगर वह हो, तो उस के बिगाड़ने का डर है। आदमी करोड़पति हो, यह उसकी सिद्धि नहीं है। वह सम्पूर्णतः परार्थ-तत्पर हो, यही उसकी सफलता है। इसी तरह दुनिया की सिद्धि दुनियावीपन की अतिशयता में नहीं है, वह किसी और बड़ी सत्ता से सम्बन्धित है।"

"आपका मतलब धर्म से है?"

"हाँ, वह भी मेरा मतलब है।"

"लेकिन आप सोशलिज्म के खिलाफ तो नहीं हैं?"

"नहीं खिलाफ नहीं हूँ। लेकिन—"

"बस इतना ही चाहिए। 'लेकिन' फिर देखेंगे—"

"यह कहकर महेश्वर जी ने तनिक मुस्कराकर चारों ओर देखा और फिर सामने रखे एक झाग से भरे गिलास को उठाकर वह दूसरी ओर चले गए। मैं बैठा देखता रह गया और फिर—

अभेद

रात—

सब सो गए हैं और आसमान में तारे घिरे हैं। मैं उनकी ओर देखता हुआ जागता हूँ। नींद आती ही नहीं। मेरा मन तारों को

देखकर विस्मय, स्नेह और अज्ञान से भरा आता है। वे तारे हैं, छोटी-छोटी चमकती बुन्दियों-से, कैसे प्यारे-प्यारे तारे। पर उनमें से हर एक अपने में विश्व है। वे कितने हैं?—कुछ पार नहीं, कुछ भी अन्त नहीं। कितनी दूर हैं?—कोई पता नहीं। हिसाब की पहुँच से बाहर, वे नन्हें-नन्हें झिप-झिप चमक रहे हैं। उनके तले कल्पना स्तब्ध हो जाती है। स्वर्ण के चूर्ण से छाया, शान्त, सुख, सहास्य कैसा यह महाछायापथ है।—एकान्त, अछोर, फिर भी कैसा निकट, कैसा स्वगत।—मुझे नींद नहीं आती और मैं उसे नहीं बुलाना चाहता। चाहता हूँ, यह सब तारे मुझे मिल जायँ। मुझसे बाहर कुछ भी न रहे। सब-कुछ मुझमें हो रहे, और मैं उनमें।

मैं अपने को बहुत छोटा पाता हूँ, बहुत छोटा।—बिलकुल बिन्दु, एक ज़र्रा, एक शून्य। और इस समय जितना मैं अपने को शून्य अनुभव करता हूँ, उतना ही मेरा मन भरता आता है। जाने कैसे, मैं अपने को उतना ही बड़ा होता हुआ पाता हूँ। जैसे जी के भीतर आह्लाद भरा आता हो, उमड़ा आता हो। मुझे यह अच्छा लग रहा है कि मैं कुछ भी नहीं हूँ। जो हूँ, समस्त की गोद में हूँ, सब में हूँ। मुझे मालूम होता है कि मेरी सीमाएँ मिट गई हैं, मैं खोया जा रहा हूँ, मिला जा रहा हूँ। मालूम होता है, एक गम्भीर आनन्द—

तारे उस नीले शून्य में गहरे-से गहरे पैठे हैं। जहाँ तक नीलिमा है, वहाँ तक वे हैं। यह स्वर्ण-कणों से भरा नीला-नीला क्या है? आकाश क्या है? समय क्या है? मैं क्या हूँ?—पर जो हो, मैं आनन्द में हूँ। इस समय तो मेरी अज्ञानता ही सबसे बड़ा ज्ञान है। मैं कुछ नहीं जानता, यही मेरी स्वतन्त्रता है। ज्ञान का बन्धन मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। तारों का अर्थ मुझे नहीं चाहिए, नहीं चाहिए। मुझे उनका तारापन ही सब है, वही बस है। मैं उन्हें तारे ही समझूँगा, तारे बनकर मैं उनमें अज्ञानपन, अपनापन भिगोये रखता हूँ। मुझे नहीं चाहिए कोई ज्ञान। उस समस्त के आगे तो बस मैं इतना ही

चाहता हूँ कि मैं सारे राज़ खोलकर प्रस्तुत हो रहूँ। चारों ओर अपने को छोड़ दूँ और भीतर से अपने को रिक्त कर दूँ कि यह निस्सीमता, यह समस्तता बिना बाधा के मुझे छुए और भीतर भर जाय।

लोग सो रहे हैं। रात बीत रही है। मुझे नींद नहीं है और लोग भी होंगे, जिन्हें नींद न होगी। वे राजा भी हो सकते हैं, रंक भी हो सकते हैं। अरे राजा क्या, रंक क्या? नींद के सामने कोई क्या है? किसकी नींद को कौन रोक सकता है? आदमी अपनी नींद को आप ही रोक सकता है। दुनिया में भेद-विभेद हैं, नियम-कानून हैं। पर भेद-विभेद कितने ही हों, नियम-कानून कैसे ही हों,—रात रात है। जो नहीं सोते वे नहीं सोते, पर रात सबको सुलाती है। सब भेद-प्रभेद भी सो जाते हैं, नियम-कानून भी सो जाते हैं। रात में रंक की नींद राजा नहीं छीनेगा और राजा की नींद भी रंक की नींद से प्यारी नहीं हो सकेगी। नींद सबको बराबर समझेगी, वह सबको बराबर में डुबा देगी। नींद में फिर स्वप्न आयेंगे और वे, मनुष्य की बाधा मिटाकर, उसे जहाँ वह चाहें, ले जाएँगे। रात को जब आदमी सोएगा, तब प्रकृति उसे थप-केगी। आदमी दिन-भर अपने बीच में खड़े किये विभेदों के झगड़ों से झगड़कर जब हारेगा और हारकर सोएगा, तब उसकी बन्द पलकों पर प्रकृति स्वप्न लहरायेगी। उन स्वप्नों में रंक सोने के महलों में वास करे तो कोई राजा उसे रोकने नहीं आएगा। वह वहाँ सब सुख सम्भोग पायेगा। राजा अगर उन स्वप्नों में संकट के मुँह में पड़ेगा और क्लेश भोगेगा तो कोई चाटुकार इससे बचा नहीं सकेगा। राजा, अपनी आत्मा को लेकर मात्र स्वयं होकर ही अपनी नींद पायेगा। तब वह है और उसके भीतर का अव्यक्त है। तब वह राजा कहाँ है?—मात्र बेचारा है। इसी प्रकार नींद में वह रंक भी मात्र अपनी आत्मा के सम्मुख हो रहेगा। तब वह है और उससे सन्निहित अव्यक्त है। तब वह बेचारा कहाँ रंक है! वह तब प्रकृति रूप में जो है, वही है।

उस रात्रि की निस्तब्धता के, आकाश में महाशून्य में और प्रकृति

की चौकसी में अपनी मानवीय अस्मिता को खोकर, सौंपकर मानव शिशु बनकर सो जाता है। पर फिर दिन आता है। तब आदमी कहता है कि वह जाग्रत है। वह कहता है कि तब वह सावधान है। और जाग्रत और सावधान बनकर वह मानव कहता है कि मानवता में श्रेणियाँ हैं—अभेद तो मिथ्या स्वप्न था, सार अथवा सत्य तो भेद है। तब वह कहता है कि मैं चेतन उतना नहीं हूँ, जितना राजा हूँ अथवा रंक हूँ। स्वप्न से हमारा काम नहीं चलेगा, काम ज्ञान से चलेगा। ज्ञान का सच्चा नाम विज्ञान है। और वह विज्ञान यह है कि मैं या तो गरीब हूँ या अमीर हूँ। दिन में क्या यह उसने आँखें नहीं खोल ली हैं? दिन में क्या वह चीज़ों को अधिक नहीं पहचानता है? दिन-रात की तरह अंधेरा नहीं है, वह उजला है। रात अँधेरे का सत्य हों, पर जाग्रत अवस्था में क्या वे झूठ नहीं हैं?—देखो न, कैसे दिन के उजाले में माग छिपे हैं। जाग्रत दिन के सत्य को कौन त्याग सकता है? वही अचल सत्य है, वही ठोस सत्य है। और वह सत्य यह है कि तारे नहीं हैं, हम हैं। हमी हैं। हमी हैं और हम जाग्रत हैं। और सामने हमारे हमारी समस्याएँ हैं। अतः मनुष्य कर्म करेगा, वह युद्ध करेगा, वह तर्क करेगा, वह जानेगा। नींद गलत है और स्वप्न भ्रम है। यह दुर्भाग्य है कि मानव सोता है और सोना अमानवता है। अँधेरी रात क्या गलत ही नहीं है कि जिसका सहारा लेकर आसमान तारों से चमक जाता है, और दुनिया धुँधली हो जाती है? हमें चारों ओर धूप चाहिए, धूप, जिसमें हमारे आसपास का छुटपन चमक उठे और दूर की सब आसमानी व्यर्थता लुप्त हो जाय!

मैं जानता हूँ, यह ठीक है। ठीक ही कैसे नहीं है? लेकिन क्या यह भूल भी नहीं है? और भूल पर स्थापित होने से क्या सर्वथा भूल ही नहीं है? क्या यह गलत है कि नींद में हम ताजा होते हैं और दिन-भर की हमारी थकान खो जाती है? क्या यह गलत है कि हम प्रभात में जब जागने और जीने के लिए उद्यत होते हैं, तब सन्ध्यानन्तर

नींद चाहते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि स्वप्नों में हम अपनी थकान खोते हैं, और फिर उन्हीं स्वप्नों की राह अपने में ताजगी भी भरते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि दिन में हम व्यक्त के साथ इतने जड़ित और अव्यक्त के प्रति इतने जड़ होते हैं कि रात में अव्यक्त व्यक्त को शून्य बनाकर स्वयं प्रस्फुटित होता है और इस भाँति हमारे जीवन के भीतर की समता को स्थिर रखता है ? क्या यह भी नहीं हो सकता कि हम स्वप्नों में विभेद को तिरस्कृत करके अभेद का पान करते और उसी के परिणाम में उठकर विभेद से युद्ध करने में अधिक समर्थ होते हैं ? क्या यह नहीं हो सकता कि रात पर दिन निर्भर है, और रात न हो तो दिन दूभर हो जाय ? क्या यह नहीं है कि विभेद तब तक असत्य असम्भव है, जब तक अभेद उसमें व्याप्त न हो ? क्या—

पर रात बीत रही है, और मेरी आँखों में नींद नहीं है। ओह, यह समस्त क्या है ? मैं क्या हूँ ? मैं कुछ नहीं जानता,—मैं कुछ नहीं जानूँगा, मैं सब हूँ। सब में हूँ।

तभी कहीं घण्टा बजा—एक। जैसे अँधेरे में गूँज गया, ए-ए-क। मैं उस गूँज को सुनता हुआ रह गया। गूँज धीमे-धीमे विलीन हो गई, और सन्नाटा फिर वैसे ही सुन्न हो गया। मैंने कहा—'एक।' दोहराया—' एक, एक, एक।' मैंने दोहराना जारी रखा। नींद कुछ मेरी ओर उतरने लगी। अब सोऊँगा। मैं सोऊँगा। बाहर अनेकता के बीच एक बनकर स्थिर शान्ति से क्यों न मैं सो जाऊँगा ? मैं चाहने लगा, मैं सोऊँ। पर तारे हँसते थे और हँसते थे, और मेरी आँखों में नींद धीमे ही-धीमे उतरकर आ रही थी।

जरूरी .

दिन के साढ़े दस बजे होंगे। मैं मेज पर बैठा था तभी मुन्शीजी आये। लाला महेश्वरनाथ जी की जो शहर के इधर-उधर और कई तरफ फैली हुई जायदाद है, उस सबकी देखभाल इन मुन्शीजी पर

है। मुन्शीजी बड़े कर्म-व्यस्त और संचित शब्दों के आदमी हैं। विनयशील बहुत हैं, बहुत लिहाज रखते हैं। पर कर्तव्य के समय तत्पर हैं।

मुन्शीजी ने कहा—"मुझे माफ कीजिएगा। ओह, मैं ने हर्ज किया।" पर हाँ,—वह,—यह तीसरा महीना है। आप चैक कब भिजवा दीजिएगा? राय साहब कहते थे—"

"बात यह है कि पिछले दो माह का किराया मैंने नहीं दिया। दिया क्या, नहीं दे नहीं पाया।" मैंने मुन्शीजी की ओर देखा। मुझे यह अनुग्रह कष्ट कर हुआ कि मुन्शीजी अब भी अपनी विनम्रता और विनयशीलता को अपने काबू में किये हुए हैं। वह धमकाकर भी तो कह सकते हैं कि लाइए साहब, किराया दीजिए। यह क्या अधिक अनुकूल न हो?

यह सोचता हुआ मैं फिर अपने सामने मेज़ पर लिखे जाते हुए कागज़ों को देखने लगा।

मुन्शीजी ने कहा—"मेरे लिए क्या हुकुम है?"

पर मेरी समझ में न आया कि उनके लिए क्या हुकुम हो। अगर (मैंने सोचा)—इनकी जगह खुद (राय साहब) महेश्वर जी होते, तो उनसे कहता कि किराए की बात तो फिर पीछे देखिएगा, इस समय तो आइए, सुनिए कि मैंने इस लेख में क्या लिखा है। महेश्वर जी को साहित्य में रस है और वह विचारवान् हैं,—विचारवान् से आशय यह नहीं कि किराया लेना उन्हें छोड़ देना चाहिए। अभिप्राय यह कि वह अवश्य ऐसे व्यक्ति हैं कि किराए की-सी छोटी बातों को पीछे रखकर वह सैद्धान्तिक गहरी बातों पर पहले विचार करें। लेकिन इन मुन्शीजी को मैं क्या कहूँ? क्या मैंने देखा नहीं कि किराए की बात पर सदा यह मुन्शीजी ही सामने हुए हैं, और राय साहब से जब-जब साक्षात् होता है, तब इस प्रकार की तुच्छता उनके आस-पास भी नहीं दीखने में आती और वह गम्भीर मानसिक और आध्यात्मिक चर्चा ही करते हैं।

हुक्म की प्रार्थना और प्रतीक्षा करते हुए मुन्शीजी को सामने रहने देकर मैं कुछ और ज़रूरी बातें सोचने लगा। मैंने सोचा कि—

मैं जानता हूँ कि मुझे काम करना चाहिए और मैं काम करता हूँ। सात घण्टे हर एक को काम करना चाहिए। मैं साढ़े-सात घण्टे करता हूँ। जो काम करता हूँ वह उपयोगी है।—वह बहुत उपयोगी है। वह काम समाज का एक ज़रूरी और बड़ी जिम्मेदारी का काम है। क्या मैं स्वार्थ-बुद्धि से काम करता हूँ? नहीं, स्वार्थ-भावना से नहीं करता। क्या मेरे काम की बाज़ार-दर इतनी नहीं है कि मैं ज़रूरी हवा, ज़रूरी प्रकाश और ज़रूरी ख़ुराक पाकर ज़रूरी कुनबा और ज़रूरी सामाजिकता और ज़रूरी दिमाग़ियत निबाह सकूँ? शायद नहीं। पर ऐसा क्यों नहीं है? और ऐसा नहीं है, तो इसमें मेरा क्या अपराध है?

अपने काम को मैंने व्यापार का रूप नहीं दिया है। आज का व्यापार शोषण है। मैं शोषक नहीं होना चाहता।

इसी दुनिया में, पर दूसरी जगह, मेरे-जैसे काम की बहुत कीमत और कद्र भी है। मेरे पास अगर मकान नहीं है और मकान में रहने का एवज देने के लिए काफी पैसे नहीं हैं, तो इसका दोष किस भाँति मुझ में है, यह मैं जानना चाहता हूँ।

मैं जानना चाहता हूँ कि समाज जब कि मेरी तारीफ भी करता है तो जीवन और जीवन के ज़रूरी उपादानों से मैं वंचित किस प्रकार रखा जा रहा हूँ?

मैं जानना चाहता हूँ कि अगर मकान का किराया होना ज़रूरी है, तो यह भी ज़रूरी क्यों नहीं है कि वह रुपया मेरे पास प्रस्तुत रहे? वह रुपया कहाँ से चलकर मेरे पास आए, और वह क्यों नहीं आता है? और यदि वह नहीं आता है, तो क्यों यह मेरे लिए चिन्ता का विषय बना दिया जाना चाहिए? और किस नैतिक आधार पर यह मुन्शीजी सरकार से फरियाद कर सकते हैं कि मैं अभियोगी ठहराया जाऊँ और सरकारी जज बिना मनोवेदना के कैसे मुझे अभियुक्त ठहराकर मेरे खिलाफ डिग्री दे सकता है? और समाज भी क्यों मुझे दोषी समझने को उद्यत है?

क्या इन रुपयों के बिना महेश्वर जी का कोई काम अटका है ? इन किराए के रुपयों पर उनका हक बनने और कायम रहने में कैसे आया ?

रुपया उपयोगिता में जाना चाहिए कि विलासिता में ?

वह समाज और सरकार क्या है जो रुपये के बहाव को विलास से मोड़कर उपयोग की ओर नहीं डालती ?

क्या कभी मैंने महेश्वर जी से कहा कि वह मुझे मात्र रहने दें ? क्यों वह मुझसे किराया लेते हैं ?—न लें।

नहीं कहा तो क्यों नहीं कहा ? क्या यह कहना ग़लती नहीं है ?—लेकिन, क्या यह कहना ठीक है ?

मैं अगर इस चीज़ से इनकार कर दूँ और फल भुगतने को प्रस्तुत हो जाऊँ, तो इसमें क्या अनीति है ? क्या यह अयुक्त हो ?—

इतने में मुन्शीजी ने कहा कि उनको और भी काम हैं। मैं जल्दी फरमा दूँ कि चैक ठीक किस रोज़ भेज दिया जायगा। ठीक तारीख मैं फरमा दूँ जिससे कि—

(मैंने सोचा)—यह मुन्शीजी इतने ज़ोर के साथ अपनी विनय आखिर किस भाँति और किस वास्ते पाले हुए हैं ? प्रतीत होता है कि अब उनकी विनय की वाणी में कुछ-कुछ उनके सरकारानुमोदित अधिकार—गर्व की मध्यंग मिठास भी आ मिली है। मैंने कहा न कि मुन्शीजी बहुत भले आदमी हैं। यह अच्छी तरह जानते हुए भी कि पैसे के वकील और सरकार के सवेतन कर्मचारियों के बल से वह मेरा लोटा-थाली कुर्क करा सकते हैं, यह जानते हुए भी—(हाँ, हाँ) वह विनय-अर्जित हैं। मैं जानता हूँ कि कर्तव्य के समय वह कठिबद्ध भी हो जायेंगे फिर भी मेरा उनमें इतना विश्वास है कि मैं कह सकता हूँ कि उस समय भी अपनी लज्जा को और अपने तकल्लुफ़ को वह छोड़ेंगे नहीं। इसी का नाम वजेदारी है।

मैंने कहा—"मुन्शी साहब, आपको तकलीफ़ हुई। लेकिन अभी

तो मेरे पास कुछ नहीं है।

"तो कब तक भिजवा दीजिएगा?"

मैंने कहा—"आप ही बताइए कि ठीक-ठीक मैं क्या कह सकता हूँ।"

बोले—"तो?"

तो का मेरे पास क्या जवाब था। मैंने चाहा कि हँसूँ।

उन्होंने कहा—"रायसाहब ने फरमाया था कि मैं इत्तला दूँ कि बहुत दिन हो गए हैं। न हो तो—और मकान देख लें।"

मैंने हँसकर कहा—"और मकान? लेकिन किराया तो वहाँ भी देना होगा न? मुश्किल तो वही है।"

मुन्शीजी सहानुभूति के साथ मेरी ओर देखते रह गए।

मैंने उन्हें देखकर कहा—"खैर, जल्दी ही मैं किराया भिजवा दूँगा।"

"जी हाँ, जल्दी भिजवा दीजिएगा। और आइन्दा से तीस तारीख तक भिजवा दें तो अच्छा। रायसाहब ने कहा था—"

मैंने कहा—"अच्छा—"

मुन्शीजी फिर आदाब बजाकर चले गए। उनके चले जाने पर मैंने पुनः अपने लेख की ओर ध्यान किया, जो लाजिमी तौर पर जबरदस्त लेख होने ा था।

भारत में साम्यवाद का भविष्य

भारत में साम्यवाद का क्या भविष्य है—इस सम्बन्ध के अनुमान में वर्तमान की समीक्षा ही हो सकती है। भविष्य जाना नहीं जाता, उसे बनाना होता है। वह धीरे-धीरे वर्तमान पर खुलता है। यह आदमी का सद्‌भाग्य ही है कि वह भविष्य से अनजान है और वर्तमान में रहता है। यही अज्ञान की चुनौती तरह-तरह की सम्भावनाओं को आदमी के भीतर से खिलाती आई है।

आज एक शक्ति साम्यवाद है। मानों दुनिया दो शक्तियों के खिंचाव के बीच टिकी हुई है। एक ओर साम्यवाद है दूसरी ओर वह सब है जो साम्यवाद नहीं है। पूँजीवाद उसे कहना पूरा सही नहीं होता, न उसे लोकतन्त्रवाद ही यथार्थ में कहा जा सकता है। जो साम्यवाद नहीं है वह एण्टी-साम्यवाद है। इस 'एण्टी' नामक नकार के नीचे उसे एकता मिली हुई है, अन्यथा वह उस तरह एक तन्त्र और नीति के अधीन गढ़ा हुआ वाद नहीं है। साम्यवाद एक नया मजहब है। उसके बाहर लामजहबियत ही रह जाती है।

पन्यवाद और मतवाद शक्ति बन कर आते हैं। वे एतत्काल की किसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। उनमें सुधार और उद्धार का आग्रह रहता है। फिर तत्त्व विचार का रूप लेते हैं और होते-होते शक्ति-सम्पादन कर वे एक राजतन्त्र के रूप में जम जाते हैं। उनका

चर्च बनता है और अधिकारियों की एक पंक्ति खड़ी होती है। तब साथ ही उसमें दो पहलू हो आते हैं—एक तात्त्विक, दूसरा तान्त्रिक। आरम्भ में तात्त्विक प्रधान होता है, पीछे वह तान्त्रिक के अधीन होता जाता है। यहाँ तक कि वैचारिक मतवाद अन्त की ओर एक ठेठ राजनीतिक दलवाद रह जाता है।

साम्यवाद के सम्बन्ध में विचार करते समय भारी भूल होगी अगर हैगिल और मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद की भाषा में ही हम उसे समझ डालेंगे। वह अब इतनी (या सिर्फ) तात्त्विक चीज नहीं। मार्क्स से अधिक वह वस्तु आज स्टालिन से जुड़ी है। व्यावहारिक-राजनीतिक से पृथक करके तात्विक रूप में उसे देखना भ्रम में रहना है। पहले एक संस्था थर्ड इन्टरनेशनल थी। साम्यवाद को आरम्भ और रूप मिला वहाँ से। वह बौद्धिकों की सभा थी जिनका काम विचारना और विवेचना था। राज्याधिकारी लोग उसमें नहीं थे। फिर रूस में क्रान्ति हुई और बोलशेविक सत्तारूढ़ हुए। क्या साम्यवाद का प्रयोग राष्ट्र की सीमा में हो सकता है? जगत के श्रमीजन एक हैं, लेकिन पहले अपना एक अमुक राष्ट्र एक है तो दूसरे राष्ट्र के श्रमीजन दूसरे हो जाते हैं। इस तरह साम्यवाद के शुद्ध विचार में तब संकट उपस्थित हुआ। सत्ता हाथ लेने के थोड़े दिन बाद लेनिन मन्दप्राय होते-होते ग्रस्त हो गए। ट्राटस्की ने कहा कि क्रान्ति को जागतिक और सर्वदेशीय होना होगा और बोलशेविक की नीति यही हो सकती है। स्टालिन के हाथ सत्ता से घिरे थे। उस रूसी क्रान्ति को और उसके परिणाम में हाथ आई सत्ता को टिकाये रखना और जमा रखना स्टालिन का पहला और जरूरी काम मालूम हुआ। तात्त्विक, जागतिक क्रान्ति के प्रतीक ट्राटस्की जीवित राजनीति से फिक कर अलग जा पड़े और स्टालिन के हाथ रहकर साम्यवाद कुछ राष्ट्रीय और राष्ट्रवादी-सा बना। अब आकर थर्ड इन्टरनेशनल की समाधि पर 'कमिनफार्म' की रचना हुई। यह विचारकों और विवेचकों की जमात

नहीं है—सत्ताधिपों और व्यवस्थापकों का सम्मिलन है। भविष्य के निर्माण के विचार से वर्तमान राजकरण को प्रेरणा देने से अधिक वर्तमान की राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार विचार को टालने का प्रयत्न करने वाली वह संस्था है। नीति साधन है, राज साध्य है। पहले नीति साध्य थी, राज साधन। इस प्रकार की तत्त्व-चिन्ता और आदर्शोपासना से चलने वाली साम्यवादी राजनीति जैसे अव्यवहारिक होकर पिछड़ गई है। अब कर्मप्रवृत्त और निश्चित तात्कालिक लक्ष्य रखकर चलने वाली कूटनीतिक साम्यवादी राजनीति ने उसका स्थान ले लिया है।

साम्यवाद पहले समाजवाद था। इस मत और सिद्धान्त ने जगत-दर्शन को एक बहुत बड़ा दान दिया है अर्थात् यह कि अपनी परिधि में व्यक्ति समाप्त नहीं है। इस रूप में वह विचारणीय तक नहीं है। उसकी पूर्णता अपने में नहीं, सबमें और सबके साथ है। व्यक्तित्व की असामाजिक धारणा अनिष्ट है। व्यक्ति का विकास सामाजिकता में है। उसकी परिपूर्णता समाज से विलग नहीं देखी जा सकती। इसलिए पदार्थ पर अधिकार और स्वत्व भी व्यक्तिमूलक नहीं हो सकता। स्वत्व यदि है तो सबका है, समाज का है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विचार मूल में सही नहीं है। सम्पत्ति समाज की है, सामाजिक हित के लिए है। पूँजी के आधार पर स्वत्व का बँटवारा कृत्रिम है। उसमें सामाजिक अन्याय समाया है। पूँजी शासन करती है श्रम शोषित होता है। ऐसे विषमता पैदा होती है और तरह-तरह की व्याधियाँ जन्म लेती हैं। समाज में श्रेणियाँ उपजती हैं, उनमें तनाव होता है और समाज-शरीर के फटने की हालत बनी रहती है।

यह विचार जाने-अनजाने जगत् के समूचे दर्शन में समा गया है, लेकिन तर्क ने आगे चलकर बताया कि समाज कोई अमूर्त वस्तु नहीं है। न सिर्फ कुछ लोगों के जैसा आश्रम में समुदाय बनाकर सहभोगी और सहयोगी आश्रम-संस्था के रूप में रहने से समाजवाद की सिद्धि होगी।

चर्च बनता है और अधिकारियों की एक पंक्ति खड़ी होती है। तब साथ ही उसमें दो पहलू हो आते हैं—एक तात्त्विक, दूसरा तान्त्रिक। आरम्भ में तात्त्विक प्रधान होता है, पीछे वह तान्त्रिक के अधीन होता जाता है। यहाँ तक कि वैचारिक मतवाद अन्त की ओर एक ठेठ राजनीतिक दलवाद रह जाता है।

साम्यवाद के सम्बन्ध में विचार करते समय भारी भूल होगी अगर हेगिल और मार्क्स के भौतिक द्वन्द्ववाद की भाषा में ही हम उसे समझ डालेंगे। वह अब इतनी (या सिर्फ) तात्त्विक चीज नहीं। मार्क्स से अधिक वह वस्तु आज स्टालिन से जुड़ी है। व्यावहारिक-राजनीतिक से पृथक करके तात्त्विक रूप में उसे देखना भ्रम में रहना है। पहले एक संस्था थर्ड इन्टरनेशनल थी। साम्यवाद को आरम्भ और रूप मिला वहाँ से। वह बौद्धिकों की सभा थी जिनका काम विचारना और विवेचना था। राज्याधिकारी लोग उसमें नहीं थे। फिर रूस में क्रान्ति हुई और बोलशेविक सत्तारूढ़ हुए। क्या साम्यवाद का प्रयोग राष्ट्र की सीमा में हो सकता है? जगत के श्रमीजन एक हैं, लेकिन पहले अपना एक अमुक राष्ट्र एक है तो दूसरे राष्ट्र के श्रमीजन दूसरे हो जाते हैं। इस तरह साम्यवाद के शुद्ध विचार में तब संकट उपस्थित हुआ। सत्ता हाथ लेने के थोड़े दिन बाद लेनिन मन्दप्राय होते-होते खत्म हो गए। ट्राटस्की ने कहा कि क्रान्ति को जागतिक और सर्वदेशीय होना होगा और बोलशेविक की नीति यही हो सकती है। स्टालिन के हाथ सत्ता से घिरे थे। उस रूसी क्रान्ति को और उसके परिणाम में हाथ आई सत्ता को टिकाये रखना और जमा रखना स्टालिन का पहला और जरूरी काम मालूम हुआ। तात्त्विक, जागतिक क्रान्ति के प्रतीक ट्राटस्की जीवित राजनीति से फिंक कर अलग जा पड़े और स्टालिन के हाथ रहकर साम्यवाद कुछ राष्ट्रीय और राष्ट्रवादी-सा बना। अब आकर थर्ड इन्टरनेशनल की समाधि पर 'कमिनफार्म' की रचना हुई। वह विचारकों और विवेचकों की जमात

नहीं है—सत्ताधिपों और व्यवस्थापकों का सम्मिलन है। भविष्य के निर्माण के विचार से वर्तमान राजकरण को प्रेरणा देने से अधिक वर्तमान की राजनीतिक आवश्यकताओं के अनुसार विचार को टालने का प्रयत्न करने वाली वह संस्था है। नीति साधन है, राज साध्य है। पहले नीति साध्य थी, राज साधन। उस प्रकार की तत्त्व-चिन्ता और आदर्शोपासना से चलने वाली साम्यवादी राजनीति जैसे अव्यवहारिक होकर पिछड़ गई है। अब कर्मप्रवृत्त और निश्चित तात्कालिक लक्ष्य रखकर चलने वाली कूटनीतिक साम्यवादी राजनीति ने उसका स्थान ले लिया है।

साम्यवाद पहले समाजवाद था। उस मत और सिद्धान्त ने जगत-दर्शन को एक बहुत बड़ा दान दिया है अर्थात् यह कि अपनी परिधि में व्यक्ति समाप्त नहीं है। उस रूप में वह विचारणीय तक नहीं है। उसकी पूर्णता अपने में नहीं, सबमें और सबके साथ है। व्यक्तित्व की असामाजिक धारणा अनिष्ट है। व्यक्ति का विकास सामाजिकता में है। उसकी परिपूर्णता समाज से विलग नहीं देखी जा सकती। इसलिए पदार्थ पर अधिकार और स्वत्व भी व्यक्तिमूलक नहीं हो सकता। स्वत्व यदि है तो सबका है, समाज का है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का विचार मूल में सही नहीं है। सम्पत्ति समाज की है, सामाजिक हित के लिए है। पूँजी के आधार पर स्वत्व का बँटवारा कृत्रिम है। उसमें सामाजिक अन्याय समाया है। पूँजी शासन करती है श्रम शोषित होता है। ऐसे विषमता पैदा होती है और तरह-तरह की व्याधियाँ जन्म लेती हैं। समाज में श्रेणियाँ उपजती हैं, उनमें तनाव होता है और समाज-शरीर के फटने की हालत बनी रहती है।

यह विचार जाने-अनजाने जगत् के समूचे दर्शन में समा गया है, लेकिन तर्क ने आगे चलकर बताया कि समाज कोई अमूर्त वस्तु नहीं है। न सिर्फ कुछ लोगों के जैसा आपस में समुदाय बनाकर सहभोगी और सहयोगी आश्रम-संस्था के रूप में रहने से समाजवाद की सिद्धि होगी।

समाज मूर्त होता है राज्य में, स्टेट में। स्वत्व इस तरह सब स्टेट में पहुँचेगा। स्टेट कानून से और कानून को पालन कराने वाली सब शक्ति के योग से समाज में समता की स्थापना करेगी और उसे कायम रखेगी। पदों में भेद न होगा, न आदमियों में, न वर्गों में। सब अपने वश-भर काम करेंगे और आवश्यकता-भर पायेंगे।

इस तरह समाज किसी अव्यक्त लोकमत का नाम न रहने दिया गया है, न किसी लोक-स्वीकृत समाज-नीति को उदय में लाने या उस पर निर्भर करने पर सन्तोष माना गया है; बल्कि लोकमत को व्यक्त और प्रबल करके, उसके द्वारा राज को अधीन करके व्यक्तिगत को मिटाकर सब स्वत्व राजगत करके चलाना जरूरी समझा गया है। इसमें से एक नये शास्त्र और नई कला का उदय हुआ—पार्टी-आयोजना का शास्त्र और उसकी कला।

व्यक्ति नहीं है संघ ही है। 'संघे शक्तिः कलौयुगे।' संस्कृत के इस वाक्य से जान पड़ता है कि विचार यह उतना नया न था, पर प्रणाली बनकर उपयुक्त और प्रवृत्त होना शायद उसे इस कर्मयुग में था, जिसे कलियुग कहा गया है।

मैं उसको अपनी भाषा में स्टेटवाद कहकर अधिक सहजमय भाव से समझ पाता हूँ। साम्यवाद, यानी सब समान हैं, या सब समान हों। ये दोनों बातें भावात्मक समझी जा सकती हैं। हम सबको समान मान लें या समान भाव से व्यवहार करें—इतना काफी नहीं है, क्योंकि यह हमारी आखिर इच्छा, संस्कार और विवेक पर अवलम्बित हो रहता है। वैज्ञानिक साम्यवाद इतने पर नहीं रह सकता। सब समान हों, इस भावना पर वह नहीं ठहर सकता। सबको समान बनाए रखा जाय यह काम वह अपने ऊपर लेता है। यह सिवाय स्टेट के कौन करेगा? इसलिए, स्टेट को अपने शासन और दण्ड से साम्य बनाये रखना होगा। इस सबको 'स्टेटवाद' कहने से बात शायद सुगमता से हृदयंगम हो जायगी।

यह कि स्टेट (हुकूमत) के ज़ोर से काम आसानी से होता है, सुख-सुविधा भी आसानी से उसके द्वारा भरपूर हो सकेगी, अभाव मिट जायगा, आपाधापी खतम की जा सकेगी—यह आज प्रत्यक्ष तत्त्व की भाँति लोगों को प्रतीत होता है और वे उसे अधिकांश अपनाने में देर लगाने की आवश्यकता नहीं देखते। पश्चिम के वे देश जहाँ राजनीति का यह खेल उतना नया नहीं है शायद इसे देखने में शीघ्र उतने समर्थ न हों। पर पूरब के लोग कुछ पराधीनता के इतने नरक में रहे हैं कि उन्हें उस दर्शन में स्वर्ग की जल्दी झलक दीख जाती है। चीन में राज बदला है और साम्यवादी अधिशासन आ गया है, पूरब के और देशों के लोगों में भी उसने सम्भावनाएँ जगा दी हैं। भारत में साम्यवादी-दल नगण्य नहीं है। कांग्रेस के प्रतिरोध में गिनने के लायक संगठित कुछ है तो कम्युनिस्ट पार्टी है। अभाव, कष्ट और अपमान स्वर्ग की माँग की ओर उसके सपनों को सहज ही जगा देंगे। भारत में रहन-सहन का कष्ट आज कम नहीं है। लोग वंचित और हतबुद्धि अपने को अनुभव करते हैं। सरकारी स्कीमें और अखबारी चर्चाएँ उसे जहाँ-का-तहाँ छोड़ती-सी लगती हैं, और इस हालत में यह सपना कि कभी गरीबों की यानी हमारी हुकूमत होगी और सिर पर हमारे कोई न होगा; बल्कि हम सिर पर होंगे, उन्हें प्यारा लगता है। यह कि, वह सपना है शायद यह वह खुद जानते हैं लेकिन प्यारा तो वह लगता ही है और उनके दिल में घर भी करता है।

दिमाग़ में इस ओर से देखें तो भारत में साम्यवाद ज़ोर ही पकड़ेगा। अगर प्रधान राज-नीति और काम-नीति रहती है और व्यवहार में मुख्य पैसा रहता है तो अवश्यम्भावी है कि साम्यवाद उभरे और फैले। स्टेट एक परोक्ष वस्तु है। उससे लड़ना, उलझना आसान नहीं। आज तो हम अपने अभाव और हीनता को किसी धनिक पर गुस्सा निकालकर लेते हैं। मालूम होता है कि अपने दुख का कारण हमारे हाथ में आ गया। इस तरह तत्काल कुछ समाधान हो जाता है। बस, बाद में वह कारण

दूर हुआ नहीं कि हम सबके लिए सुख खुल जायगा, ऐसा भासने लगता है और उस मनमाने में थोड़ी देर रहकर जैसे अपनी अप्रतिष्ठा और हीनता का हम बदला चुका लेते हैं। पूँजीपति बीच में नहीं होगा तो सब हमारे-ही-हमारे पास तो होगा, ऐसा लग आता है। स्टेट का स्वत्व और स्वामित्व जो भी होता हो, निश्चय ही वह हम या उस सेठ के मालिक होने जैसी तो बात नहीं होगी? यों देखें तो साम्यवाद की सफलता पूँजीवाद शब्द में भर जाती है। हालत यदि ऐसी होती जायगी कि पूँजी का महत्त्व बढ़े तो साम्यवाद का बल भी बढ़ेगा। साम्यवाद सिखाता है कि पूँजीपति हट जायँ। जिसके अपने पास पूँजी नहीं है वह खुश है। पैसे के अर्थ में पूँजी कितनों के पास है। वे गिनती में भी तो आने लायक नहीं। इसलिए बाकी सब पूँजी की चाह में पूँजीपति का अभाव चाहने लगें और दूसरा कुछ सोचने को न ठहरे तो अचरज क्या है।

इसलिए आर्थिक हीनता यदि भारतवर्ष के सम्बन्ध में सत्य वस्तु है और सबसे सत्य वही है तो निश्चय ही कम्युनिज़्म को आना है और उसी पर छा जाना है। किन्तु मुझे वहाँ साम्यवाद का भविष्य इतना उज्ज्वल नहीं दीखता, कारण भारत की भूमि और भारत का मन और है। यहाँ आदि से अब तक एक सबसे प्रतापी पुरुष वह हुआ है जो आर्थिक दृष्टि से अकिंचन था। भारत का हृदय नहीं रहा है वैभव में और सत्ता में। उसका चिन्तन आर्थिक नहीं, आत्मिक है। आधुनिक भारत का भी नेता और विधाता वह गांधी रहा है जिसे उघाड़े बदन फूस की कुटिया में रहना नसीब हुआ। वह दरिद्र को नारायण मानकर उसकी सेवा में उससे भी शून्यतर स्थिति स्वीकार करके रहा है। ऐसे लोगों का तर्क साम्यवाद के हाथ नहीं आता। लेकिन भारत-भूमि ऐसे ही लोगों को सबसे अधिक समझती और पूजती आई है। भारतीय आत्मा वहीं तक है, जैसे अकिंचन महात्मा पुरुष उसके अन्तरंग-स्वर के प्रतीक बन सके हैं। वह तर्क और स्वर आर्थिक नहीं, नैतिक है, आध्यात्मिक है। वह

सिक्का बटोरने और सत्ता हथियाने से उरटा पड़ता है। सोना उसके लिए मिट्टी है और वह मिट्टी उसके लिए असली सोना है जो हमारे श्रम के योग से हमें अन्न देती है।

ऐसी नैतिक सम्पदा से सम्पन्न भारत-भूमि में, किन्तु आर्थिक चिन्ता से भरपूर राज्य के नीचे साम्यवाद का भविष्य क्या होगा, कहना सचमुच मुश्किल है। भारत गाँवों में बसता है, जहाँ के लोग धरती से लगकर श्रम करते हुए जीते आये हैं। एक वह दृष्टि है जो इन देहातियों को भारत का वास्तविक भूमि-पुत्र मानती है, और उनको भारत का असल धन गिनती है। लेकिन दूसरी दृष्टि भी है जो शहरों में पल और पनप रही है। वह ज्यादातर अंग्रेजी पढ़े-लिखों की है, जिनके कपड़ों के काट के वर्ज नये हैं और दिमाग के भी। वे राजनीति बनाते हैं, राजनीति और अर्थनीति बनाते हैं। उनके करने से बातें होती हैं और चलने से चीजें चलती हैं। उस सबका परिणाम है कि वह देखते हैं कि गाँव के लोग गँवार हैं, अशिक्षित हैं, भूखे हैं, दरिद्र हैं। यह शहरी वर्ग प्रत्यक्ष देखता है कि उसके अपने पास शिक्षा है, ज्ञान है, नेतृत्व है और धन के कारण अन्य वस्तु की भी बहुतायत उसी के पास है। इस तरह उनकी प्रत्यक्ष दृष्टि बतलाती है कि भारत की सम्पन्नता शहरों के कुछ भाग तक सिमटी है, देहात तो निपट कंगाल पड़ा है।

इन दो दृष्टियों के बीच साम्यवाद का भविष्य उलझा है। एक आर्थिक दृष्टि है। वस्तु से सम्बद्ध वास्तविक दृष्टि है। वह हिसाब की और ज्ञान की और राजनीति की दृष्टि है। दूसरी उतनी वैज्ञानिक नहीं है जितनी मानवी। वह नैतिक और आत्मिक है। वह ऊपरी नहीं है, और उसमें शब्द प्रधान नहीं, अनुभूति प्रधान है। राजनीतिक में साम्यवाद का मण्डन हो या खण्डन हो, वह दृष्टि साम्यवाद की जड़ों को पुष्ट ही करने वाली है। आज वह ऊपर है और मुखर है, और जान पड़ता है कि भारत का राष्ट्रीय दर्शन वही है। ऐसा है तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि साम्यवाद का बोलबाला होगा और वह जल्दी ही।

लेकिन अगर भारतीय आत्मा में सर्वस्व शेष है, कि मेरी श्रद्धा है, तो साम्यवाद अपने आज के रूप में यहाँ जड़ें नहीं जमा पायेगा। या यों कहें कि साम्यवाद को भारत में एक नया रूप ग्रहण करना होगा। वह वादात्मक न होकर शायद धर्मात्मक होगा। साम्य का घोष नहीं साम्य का तत्त्व यहाँ इष्ट होगा। पूँजी का पवित्र अंगों से लेकर एक स्टेट को देने से अधिक वहाँ उसे सबमें बिखरा दिया जायगा। यानी पूँजीपन सिक्के में न रहकर श्रम में आ रहेगा। सिक्का तो स्टेट छापती और ढालती है। श्रम का स्वामी हर वह आदमी है जिसके पास दो हाथ हैं। ऐसे कैपिट्लिज़्म को मिटाने के लिए स्टेट कैपिट्लिज़्म को लाने की ज़रूरत नहीं रहती। श्रम सीधा वहाँ पूँजी बनता है और सिक्के को विनिमय के साधन होने से अधिक स्वयं में धन बन जाने की सुविधा नहीं रह जाती। यह भारतीय प्रकार का साम्यवाद होगा कि जिसमें श्रमिकों की ओर से किसी अलग डिक्टेटरशिप की आवश्यकता न होगी, बल्कि वहाँ सभी श्रमिक होंगे। और इस तरह सत्ता को कहीं एक जगह केन्द्रित होकर डिक्टेटर बनने का अवसर न आयेगा।

भारत की आत्मा के लिए साम्यवाद को यदि अपने सच्चे स्वरूप का संस्कार देने का अवसर आया तो मेरी धारणा है कि विश्व-संकट के टलने का भी उपाय दीख सकेगा। टोटलिटेरियन के बजाय विकेन्द्रित सत्ता का रूप तब लोगों के सामने आयेगा; यानी एक वह हुकूमत जो हुकूमत नहीं करती, जिसका रूप और कार्य उत्तरोत्तर नैतिक है। लोग स्वेच्छा से और सहयोग से काम करते हैं और अलग से उनके ऊपर हाकिम और एडमिनिस्ट्रेटर बनकर किसी को बैठने की आवश्यकता नहीं होती। यानी वह गिरोह और वर्ग अनावश्यक होता जायगा जो कुछ भी काम का काम करना नहीं जानता इसलिए कि सिर्फ उसमें शासन करने की तृष्णा होती है।

जब साम्यवाद के भविष्य की बात सोचता हूँ और वह भी भारत देश के मानसिक जलवायु में, तब मेरे मन से यह सम्भावना दूर नहीं

हो पाती कि वादग्रस्त साम्य के आवेश की जगह धर्मगत साम्य की श्रद्धा का उदय और उत्थान होगा। मैं इसे आज भी सम्भव मानता हूँ।

लेकिन कभी यह भी मन में होता है कि शायद वह समय पीछे आये। एक बार तो उससे पहले उसी साम्य का आग्रह मुख लेले जो अपने से बड़े को ही अपने बराबर चाहता है। वह अभिलाषा नहीं जो अपने को अपने से छोटे के बराबर बनने की प्रेरणा देती रहे। असली साम्य की प्रतिष्ठा दूसरी अभिलाषा में है—पहले आग्रह में से तो वैषम्य ही फलित होता है।

स्वतन्त्रता के बाद

पाँच वर्ष बीते भारत स्वतन्त्र हो गया। १५ अगस्त, ४७ तक इस 'स्वतन्त्र' शब्द की बड़ी महिमा थी। पीछे वह महिमा कम होती गई। अब ऐसा मालूम होता है कि उस शब्द की जाँच-पड़ताल में जाना ज़रूरी है। भारत स्वतन्त्र हुआ तो, मगर वह नहीं हुआ जो हम सोचते थे। स्वतन्त्रता उसकी साबित की जा सकती है, पर उससे सुख बढ़ गया है, खुशहाली बढ़ गई है, ऐसा देखने में नहीं आता। आशा क्या हम ऐसी न करते थे? वह आशा स्वतन्त्रता से पूरी नहीं हुई तो जैसे वह शब्द ही हमारे लिए महिमा खोता जा रहा है।

देश स्वतन्त्र हो रहा है। औपनिवेशिक साम्राज्य सिमटता और मिटता जा रहा है। स्वतन्त्र होने की बड़ी हौंस पराधीन देशों में रहती है। उसके लिए देशवासी भारी बलिदान से नहीं बचते। आखिर वह स्वतन्त्र होते हैं। पर इस स्वतन्त्रता पर आकर क्या मंजिल आ गई उन्हें मालूम होती है? नहीं, वैसा नहीं दीखता। समस्याओं का रूप बदलता है, जटिलता या विकटता उनकी कम नहीं होती।

राजनीतिक अर्थ में स्वतन्त्रता क्या है? यही कि राष्ट्र अपने-आप में एक इकाई है, वह सम्पूर्ण है, वह अपनी हुकूमत अपने ढंग की बना और चला सकता है। अपनी विदेश-नीति, अर्थ-नीति, व्यवसाय-नीति रख सकता है। 'सौवरिन्टी ऑफ दि नेशनल स्टेट', यानी राष्ट्र-राज्य

अपने ही प्रति दायी हैं, बाहर के प्रति नहीं। राजनीतिक स्वतन्त्रता का आज यथार्थ यही है।

अब राष्ट्र अपने में क्या है? कुछ भौगोलिक और ऐतिहासिक घटनाओं का परिणाम है। वह अन्तिम वस्तु नहीं है। सन् ४७ से पहले पाकिस्तान था ही नहीं; अब वह एक राष्ट्र है। भारत जो पहले था, अब वही नहीं है। एक खण्ड कटकर पाकिस्तान बन गया और बाक़ी बचा हिन्दुस्तान रह गया है। ऐसे राष्ट्र बनते-बिगड़ते और घटते-बढ़ते रहते हैं। राजनीतिक स्वतन्त्रता इन राष्ट्रों और इनके राज्यों को अन्तिमता देकर चलना चाहती है। इस तरह वह एक कृत्रिम-सी चीज बनी रहती है। चीज़ यों बड़ी अच्छी है और उससे एक कामचलाऊ सन्तुलन बना रहता है। पर कहीं से ज़ोर उठा कि वह सन्तुलन को बिगाड़ देता है, और फिर नक्शा नया बनता है। इसलिए राजनीति ज़ोर और ताक़त का नाम है, और राजनीतिक स्वतन्त्रता भी ज़ोर और ताक़त के बूते पर बनाई और थामी जाती है।

राजनीतिक स्वतन्त्रता का इस तरह हम भारत-देशवासियों के लिए मतलब है कि भारत की भौगोलिक सीमाओं के समुद्री भाग पर हम सशस्त्र बेड़ा रखेंगे, और खुश्की हद पर हथियारबन्द फौजें रखेंगे कि जिससे भारत की स्वतन्त्रता स्वतन्त्र रहे और उसे खटका और खतरा न रहे।

भीतर की ओर से इस राजनीतिक स्वतन्त्रता का यह मतलब है कि राज्य का शासक-वर्ग राष्ट्र के वासियों को ऐसे रखेगा कि राज्य को यानी राज्य चलाने वाले वर्ग को कम-से-कम खटका और खतरा हो।

इन दो मर्यादाओं के बीच हर राजनीतिक स्वतन्त्रता रहने को बाध्य है। इसी कारण जब तक वह दूर रहती है लोभनीय जान पड़ती है। प्रत्यक्ष भोग में आ जाने पर वह फिर उतनी अन्तिम और स्पृहणीय नहीं रहती।

मुझे प्रतीत होता है कि स्वतन्त्रता का आदर्श पिछड़ा जा रहा

है। वह अब काफ़ी नहीं लगता, हमारी माँग से काफी अधूरा और ओछा दीखने लगा है। साम्यवाद और समाजवाद जैसे शब्दों में ताकत होने की यही वजह है। जैसे स्वतन्त्रता काफ़ी नहीं है, समता भी चाहिए। और समता सिर्फ कागजी और कानूनी नहीं, सामाजिक चाहिए। स्वतन्त्रता में विकास की आवश्यकता जान पड़ती है और हम कोरी स्वतन्त्रता पर न रुककर सच्ची स्वतन्त्रता को जानना और पाना चाहते हैं।

स्वतन्त्रता को ज़रा हम स्वतन्त्र रूप से समझने की तो कोशिश करें। तब मालूम होगा कि वह जंगल में तो हो सकती है, समाज में नहीं हो सकती। जंगल में स्वतन्त्रता पर अंकुश नहीं। हर आज़ाद है कि हर किसी को मार खाए। शायद यह आज़ादी आदमी बनना स्वीकार करने के साथ ही आदमी ने खो दी। इस तरह की जानवर वाली आज़ादी जितने ही अंश में आदमी अपने पास से जान-बूझकर खोता जायगा उतने ही अंश में शायद असली, सच्ची और इन्सानी आज़ादी उसके पास आती जायगी।

पर राजनीतिक स्वतन्त्रता इस बात को नहीं मानती। इसको शायद वह आदर्शवाद मानती है। जोर और ताकत नाम की चीज पर से घर में भरोसा हटाने को वह तैयार नहीं। शेर आज़ाद है कि खरगोश को अपना निवाला बना ले, खरगोश रहे अपने भिट में छिपकर। पर शेर की आज़ादी बड़ी है और उसके तले डरते हुए किसी समय भी खाए जाने को तैयार होकर उसे रहना होगा। भिट में खरगोश जीता रहे इसकी उसे स्वतन्त्रता है। इसी तरह शेर का खाद्य बनने में मरने की भी उसे स्वतन्त्रता है। प्रचलित राजनीतिक स्वतन्त्रता इससे भिन्न नहीं है। बड़ी फौज छोटी फौज वाले देश को उस थोड़ी और छोटी फौज को नेस्तनाबूद करके बड़ी आज़ादी दे सकती है। और यह हो रहा है। फौजें जो रखी जा रही हैं, बढ़ाई जा रही हैं, सब जानिए वे आज़ादी को रखने और बढ़ाने के लिए हैं। एक छोटा देश कैसे अपनी स्वतन्त्रता रख पाएगा?

इसलिए वह उसे भय से, कूटनीति से, या हल्ले और युद्ध से अपने साथ ले लेगा। ऐसे आज़ादी छोटी से बड़ी होती जा रही है। वह देशों में नहीं, देशों के गुटों में होती है। इस प्रकार हम अपनी स्वतन्त्रताओं में बढ़ते और फैलते जा रहे हैं। यह राजनीतिक स्वतन्त्रता है, जो व्यक्ति-जैसी छोटी इकाई की नहीं, राज्य और महाराज्य-जैसी बड़ी इकाइयों की है।

जान पड़ता है मानव-जाति के विकास का इतिहास इन दोनों प्रवृत्तियों के बीच में से चला है। क्या वह ग्रेट-ब्रिटेन की स्वतन्त्रता का गौरव-युग न था, जब भारत देश पर उसने राज्य का झण्डा गाड़ा? भारत परतन्त्र चाहे उससे हुआ हो, लेकिन अंग्रेजी भाल पर क्या स्वतन्त्रता का ताज अधिक ही नहीं चमका? तो दूसरों को आधीन करके अपने को स्वाधीन करने दूसरे की परतन्त्रता के ऊपर बैठकर अपने को स्वतन्त्र और दूसरे को नीचा रखकर अपने को ऊँचा बताने की यह प्रवृत्ति आदिमकाल से थी; आगे भी रहेगी। राज-नीति मुख्यता से इसी प्रवृत्ति में बनती है। वह स्वतन्त्र स्टेट को चाहती है। यहाँ तक कि उसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र चाहती है। आदमी को स्वतन्त्र रूप में नहीं स्टेट के अंग-रूप में देखती है। स्टेट से जो स्वतन्त्र है वह रहे ही क्यों, वह अनावश्यक है, अनुचित है, अनिष्ट है। उसका होना स्वतन्त्रता के प्रति द्रोह है। इससे स्वतन्त्रता की रक्षा में ऐसे निपट स्वतन्त्र आदमी को सौ फीसदी परतन्त्र बनाकर यानी जेल में गुलाम बनाकर रखना भी स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा ही करना है। राजाओं और हाकिमों की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण और व्याप्त बनाए रखने के लिए अगर सैकड़ों हज़ारों को दास और दासी बनकर रखना हुआ तो इसमें ग़लत क्या था? यह समूह की, समाज की, राज्य स्वतन्त्रता थी, और इसके नीचे केवल एक-एक करके गिने जाने वाले स्त्री और पुरुषों की परतन्त्रता थी। एक समूहवाद, दलवाद, और स्टेटवाद चल रहा है। जो स्वतन्त्रता को किसी बड़े पैमाने पर देखने का आग्रह रखता है। व्यक्ति विचार पर वह रुक

नहीं सकता। व्यक्ति तुच्छ है, छोटा है, उसकी हस्ती नहीं है। समूह में खो और मिट जाना उसकी सार्थकता है।

मेरा मानना है कि जाने-अनजाने कोरा राजनीतिक विचार हमें उसी ओर लिए जा रहा है। राजनीतिक स्वतन्त्रता यदि सामाजिक और वैयक्तिक भी बनने की ओर नहीं बढ़ेगी तो उसमें से यही फल उत्पन्न होगा; यानी अधिनायक का वाद और उसी का तन्त्र। स्टेट की सुविधा यदि प्रथम है और अन्तिम है, स्टेट से ऊँचा यदि कोई देवता नहीं, मान और मूल्य यदि उसी की अपेक्षा से स्थिर होते हैं और वहीं से नियोजित होते हैं तो गति दूसरी नहीं है।

मानना होगा कि दुनिया के देशों का रंग-ढंग कुछ ऐसा ही दीखता है। व्यक्ति दोयम है, राज्य प्रथम। व्यक्तियों से प्रजा बनती है और वह गौण हैं। दलों से राज्य बनते हैं वह प्रमुख हैं। यह राज-नीति है।

किन्तु राज के विशेषण के बिना भी एक नीति होती है। संगठित काम-काज उससे उतने न चलते हों, आदमी उसी से चलते हैं। वह शक्ति को नगण्य नहीं मानती। वह उसके मन को हिसाब में लेती है। वह मन को जीतना चाहती और उसमें से सहयोग और मेल निकालना चाहती है। वह सत्ता नहीं सज्जनता को महत्त्व देती है। वह गुटों में स्पर्द्धा नहीं उनमें अच्छा देखने की कोशिश करती है। उसके पास व्यक्ति अन्तिम कसौटी है और उसके सुख-दुख से निरपेक्ष होकर चलना वह जानती नहीं।

दूसरी प्रवृत्ति है नैतिक प्रवृत्ति। यह भी जब से आदमी बना उसके साथ रही है। किसी तरह यह उसमें से नष्ट नहीं की जा सकती। आदमी कोशिश करके भी पूरी तरह जानवर नहीं बन सकता। दानव वह बन सकता है। क्योंकि वह जानवर से अधिक होता है। यह शक्ति हमारे पास है कि अपनी ही नैतिकता के अविश्वास में मानो अपने ही साथ प्रतिरोध और हठ ठानकर हम प्रतिक्रिया में एक ओर बढ़ते चले जाएँ; अपना ध्यान रखें, अपने जैसे इन्सानों का ध्यान न रखें और

अपनी दिमागियत के दिमागी और हवाई सपनों के फेर में फँसकर अपना ही इन्कार और अतिक्रमण कर जाएँ। ऐसे हिंसा पर उतारू हों, और उसमें पुण्य मानें। और अन्य अनेक की सम्भावनाओं को कुचलें और उसमें उन्नति मानें; लड़ें और उसमें न्याय मानें। व्यापक नर-संहार करें और उसमें भविष्य की सेवा मानें। यह बड़ी आसानी से हो सकता है। अपने आत्म को और सबके परमात्म को भूलकर अपनी ही किसी धारणा को हम देवता बना बैठते हैं। तो उसकी पूजा-अर्चा में यह सब प्रतिक्रियात्मक व्यापार बड़े समारोह के साथ हम चलाये चले जा सकते हैं। यह नया देवता स्टेट जिसको इधर देवाधिदेव बना लिया गया है, कुछ इसी तरह हमें, अपने को और दूसरों को भुलाने में सहायक बन रहा है।

पर राजनीति के सामने अब भी खुला अवसर है। जब तक भारत शेष है और उसकी परम्परा अवशिष्ट है तब तक अवसर भी शेष मानिए। भारत की भूमि ने दुनिया के लिए गांधी सिरजा था। अब भी उस भूमि में वह धर्म-प्रेरक आस्था के रूप में जीवित है, जो और जगह निष्प्राण हो चुका है। यहाँ लोग अपनी रामधुन गाते हैं और अपनी मेहनत में से उगाते और बनाते चले जाते हैं। वे खुशहालों की खुशहाली देखते हैं, लेकिन ईर्ष्या में अपना काम बन्द नहीं कर पाते। इसी प्रकट मूढ़ता में से यह भारतवर्ष सहस्राब्दियों से जीता-जागता चला आया है। उसके महापुरुष महाकाव्य नहीं महा-आत्मा हुए हैं। उन्होंने जमाया-जुटाया नहीं है, वे अपने को देते और लुटाते ही रहे हैं। उन्होंने शक्ति नहीं चाही, प्रीति ही साधी है। इसलिए यह देश जब तक मौजूद और इसकी पुरानी साँस बाकी है तब तक राज-नीति के लिए भी एक अवसर है।

विश्व की राजनीति के आगे प्रश्न है कि वह राज को प्रधान रखेगी कि नीति को। राज-प्रमुख राज-नीति तो चल ही रही है। और उसका परिणाम भी उजागर है। क्या नीति-प्रधान भी कभी वह बनना आव-

नहीं सकता। व्यक्ति तुच्छ है, छोटा है, उसकी हस्ती नहीं है। समूह में खो और मिट जाना उसकी सार्थकता है।

मेरा मानना है कि जाने-अनजाने कोरा राजनीतिक विचार हमें इसी ओर लिए आ रहा है। राजनीतिक स्वतन्त्रता यदि सामाजिक और वैयक्तिक भी बनने की ओर नहीं बढ़ेगी तो उसमें से यही फल उत्पन्न होगा; यानी अधिनायक का वाद और उसी का तन्त्र। स्टेट की सुविधा यदि प्रथम है और अन्तिम है, स्टेट से ऊँचा यदि कोई देवता नहीं, मान और मूल्य यदि उसी की अपेक्षा में स्थिर होते हैं और वहीं से नियोजित होते हैं तो गति दूसरी नहीं है।

मानना होगा कि दुनिया के देशों का रंग-ढंग कुछ ऐसा ही दीखता है। व्यक्ति दोयम है, राज्य प्रथम। व्यक्तियों से प्रजा बनती है और वह गौण है। दलों से राज्य बनते हैं वह प्रमुख है। यह राज-नीति है।

किन्तु राज के विशेषण के बिना भी एक नीति होती है। संगठित काम-काज उससे उतने न चलते हों, आदमी उसी से चलते हैं। वह शक्ति को नगण्य नहीं मानती। वह उसके मन को हिसाब में लेती है। वह मन को जीतना चाहती और उसमें से सहयोग और मेल निकालना चाहती है। वह सत्ता नहीं सज्जनता को महत्त्व देती है। वह गुटों में स्पर्द्धा नहीं उनमें अच्छा देखने की कोशिश करती है। उसके पास व्यक्ति अन्तिम कसौटी है और उसके सुख-दुख से निरपेक्ष होकर चलना वह जानती नहीं।

दूसरी प्रवृत्ति है नैतिक प्रवृत्ति। यह भी जब से आदमी बना उसके साथ रही है। किसी तरह वह उसमें से नष्ट नहीं की जा सकती। आदमी कोशिश करके भी पूरी तरह जानवर नहीं बन सकता। दानव वह बन सकता है। क्योंकि वह जानवर से अधिक होता है। वह शक्ति हमारे पास है कि अपनी ही नैतिकता के अविश्वास में मानो अपने ही साथ प्रतिरोध और हठ ठानकर हम प्रतिक्रिया में एक ओर बढ़ते चले जाएँ; अपना ध्यान रखें, अपने जैसे इन्सानों का ध्यान न रखें और

अपनी दिमागियत के दिमागी और हवाई सपनों के फेर में फँसकर अपना ही इन्कार और अतिक्रमण कर जाएँ। ऐसे हिंसा पर उतारू हों, और उसमें पुण्य मानें। और अन्य अनेक की सम्भावनाओं को कुचलें और उसमें उन्नति मानें; लड़ें और उसमें न्याय मानें। व्यापक नर-संहार करें और उसमें भविष्य की सेवा मानें। यह बड़ी आसानी से हो सकता है। अपने आत्म को और सबके परमात्म को भूलकर अपनी ही किसी धारणा को हम देवता बना बैठते हैं। तो उसकी पूजा-अर्चा में यह सब प्रतिक्रियात्मक व्यापार बड़े समारोह के साथ हम चलाये चले जा सकते हैं। यह नया देवता स्टेट जिसको इधर देवाधिदेव बना लिया गया है, कुछ इसी तरह हमें, अपने को और दूसरों को भुलाने में सहायक बन रहा है।

पर राजनीति के सामने अब भी खुला अवसर है। जब तक भारत शेष है और उसकी परम्परा अवशिष्ट है तब तक अवसर भी शेष मानिए। भारत की भूमि ने दुनिया के लिए गांधी सिरजा था। अब भी उस भूमि में वह धर्म-प्रेरक आस्था के रूप में जीवित है, जो और जगह निष्प्राण हो चुका है। यहाँ लोग अपनी रामधुन गाते हैं और अपनी मेहनत में से उगाते और बनाते चले जाते हैं। वे खुशहालों की खुशहाली देखते हैं, लेकिन ईर्ष्या में अपना काम बन्द नहीं कर पाते। इसी प्रकट मूढ़ता में से यह भारतवर्ष सहस्राब्दियों से जीता-जागता चला आया है। उसके महापुरुष महाकाव्य नहीं महा-आत्मा हुए हैं। उन्होंने जमाया-जुटाया नहीं है, वे अपने को देते और लुटाते ही रहे हैं। उन्होंने शक्ति नहीं चाही, प्रीति ही मांगी है। इसलिए यह देश जब तक मौजूद और इसकी पुरानी साँस बाकी है तब तक राज-नीति के लिए भी एक अवसर है।

विश्व की राजनीति के आगे प्रश्न है कि वह राज को प्रधान रखेगी कि नीति को। राज-प्रमुख राज-नीति तो चल ही रही है। और उसका परिणाम भी उजागर है। क्या नीति-प्रधान भी कभी वह बनना चाह-

श्यक और सम्भव समझेगी ? राज-नीति ऐसी जब बनेगी तब जान पड़ेगा कि केन्द्र गुट से और पद से हटकर व्यक्ति में और उसके श्रम में चला आया है। तब धनी वही होगा जो श्रमी है और सत्ता का स्वत्व उसके पास होगा जो निस्व है। गांधी से उस प्रकार की राज-नीति के चलने की सम्भावना हो आई थी। उस सम्भावना को एकदम असम्भव मानते भी नहीं बनता है। स्पष्ट ही है कि मूलनीति में से चलकर अर्थ-नीति और राज-नीति स्वतन्त्रता को सीमित और केन्द्रित करने वाली नहीं बनेगी; बल्कि उसको बिखराकर हर एक के अपने-अपने पास ले आने में सहायक होगी। तब स्वतन्त्र भाव से प्रत्येक श्रमिक होगा और प्रीति भाव से वह परस्पर सहयोगी होगा। एक की विफलता में से दूसरे की सफलता नहीं निकलेगी, बल्कि एक के उदय में से दूसरे को अभ्युदय प्राप्त होगा।

मौका है कि राज-नीति वह मोड़ ले। पर लेगी ?